अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अध्ययन

(१९२०—१९६० ई०)

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक

डॉ० रामकुमार वर्मा (रिसर्च प्रोफेसर)

प्रस्तुत कर्त्ता

अवधेश चन्द्र अवस्थी

हिन्दी-विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

सितम्बर १९७० ई०

दो शब्द

मानव जीवन के साथ रंगमंच का सम्बन्ध दिन-प्रति दिन महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है, किन्तु अभी तक हिन्दी-नाटकों की रंगमंचीय सफलता पर कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया, जिससे नाटक और रंगमंच का अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट हो सके साथ ही हिन्दी-नाटकों का समग्र ज्ञान उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्राप्त हो सके । हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने वाली अथवा स्वतन्त्र रूप से नाटककारों की कृतियों का नाट्य - शिल्प प्रस्तुत करने वाली अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं, किन्तु हिन्दी नाटक-साहित्य का अध्ययन करने वालों को अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी नाटकों के मूल्यांकन का अभाव बराबर खटकता रहा है, इसलिए कि नाटक का रंगमंच से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । रंगमंचीय सफलता के अभाव में नाटक अपना वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता । प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी अभाव की पूर्ति का प्रयास किया गया है ।

आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य-मान्यताओं के मिले-जुले प्रयास का प्रतिफलन है । हिन्दी नाटकों की संरचना शास्त्रीय तथा स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के आधार पर भी की गयी है । नाटक किसी भी आधार पर लिखा गया हो, पर उसका अभिनेय होना उतना ही सत्य है, जितना कि उसका लिखा जाना । प्रश्न यह है कि हिन्दी के पास क्या इस प्रकार के नाटक हैं, जिनका साहित्यिक दृष्टि से मूल्य हो और जो रंगमंचीय दृष्टि से भी उत्तम हों । यह विषय बहुत आकर्षक है, पर दुर्भाग्यवश इसपर समग्ररूपेण विचार नहीं किया गया था, इसी अभाव की पूर्ति हेतु गुरुदेव

आचार्य डा० रामकुमार वर्मा से प्रेरणा एवं निर्देशन पाकर इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । अत: सर्वप्रथम उनके प्रति आभार ज्ञापन करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता हूं ।

एक-एक किरण को एकत्रित करके एक प्रकाश-पुंज निर्माण करने की भांति यह कार्य बहुत असाध्य था । रंगमंच तथा नाटकों पर पृथक्-पृथक् पुस्तकें लिखते समय विद्वानों ने इतस्तत: इन दोनों के अन्तर्सम्बन्धों पर भी विचार किया है । इन दोनों को अपने-अपने वर्ण्य-विषय के अनुसार एक-दूसरे का उत्पाद्य कारण माना है । इस दिशा में पाठ्य और अभिनेय नाटकों के बीच सीमा-रेखा खींचकर रंगमंच तथा नाटकों को एक-दूसरे का पूरक सिद्ध करना हमारे लिए एक आवश्यक शर्त थी । प्रस्तुत प्रबन्ध इस दिशा में प्रथम प्रयास है ।

इस प्रबन्ध का शीर्षक है--'अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अध्ययन' (१६२०ई०-१६६०ई०) । इस प्रबन्ध का समय १६२० ई० से इसलिए चुना गया है कि १६१४ से प्रारम्भ होकर प्रथम विश्व-युद्ध १६१६ ई० में समाप्त हुआ था । इस युद्ध से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ । विघटन के साथ ही देश एक-दूसरे के समीप आये और परस्पर विचारों और दृष्टिकोणों का विनिमय हुआ । पश्चिमी साहित्य का प्रभाव हमारे जीवन-मूल्यों के साथ ही शिल्पगत मूल्यों पर भी पड़ा और हमारे साहित्य में परिवर्तन की प्रक्रिया उत्पन्न हुई । पाश्चात्य नाट्य-सिद्धांतोंका प्रभाव भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों पर पड़ा और नवीन नाट्य-मूल्यों का निर्धारण हुआ । अत: १६२०ई० से हिन्दी नाट्य-साहित्य में शिल्पगत परिवर्तनों से रंगमंच के नये सन्दर्भ दृष्टिगत हुए । अत: शोधप्रबन्ध का समय १६२०ई० से ही चुना गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है--

(१) हिन्दी नाटक तथा रंगमंच का सिद्धान्त पक्ष (संरचना)

(२) हिन्दी नाटकों का प्रस्तुतीकरण पक्ष (मंचन)

सिद्धान्त पक्ष में साहित्य में नाटक का स्थान दृश्यविधान, हिन्दी नाटकों का

१६२० ई० के पूर्व रंगमंचाय परम्परा पाश्चात्य एवं भारताय दृष्टि से नाट्यशिल्प पर विचार ,रंगमंच की व्यवस्था तथा नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध पर विचार किया गया है ।

द्वितीय खण्ड में पारसी,लोकधर्मी तथा साहित्यिक नाटकों के रंगमंच को देखते हुए उनके प्रमुख नाटककारों पर विचार कियागया है । रंगमंच का दृष्टि से शिथिल श्रव्य नाटकों पर विचार करते हुए नाटकों के विविध रूपों--गीति नाट्य,ध्वनि रूपक तथा प्रहसन पर विचार किया गया है । यहाँ इन रूपों के लेखकों के प्रमुख नाटकों का अध्ययन किया गया है । नाटक के अभिनव रूप एकांकी तथा रेडियो शिल्प तथा उसके प्रमुख लेखकों का अध्ययन किया गया है । अभिनेयता के मानदण्डों का निर्धारण तथा विशिष्ट नाटकीय संस्थाओं पर विचार करके हिन्दी नाटकों को विभिन्न नाटकीय वर्गों में विभाजित किया गया है ।

भारतेन्दु-काल के हिन्दी-नाटकों के बाद संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों का अनुकरण बन्द हो गया था । समाज-सुधार,नवजागरण तथा सामाजिक चेतना के लिए लेखकों ने पाश्चात्य नाटकों की यथार्थवादी परम्परा को अपनाया । पारसी रंगमंच की चमत्कारिता एवं सस्ते मनोरंजन के स्थान पर इस युग के नाटकों में सुरुचि की मात्रा बढ़ी । द्विवेदी युगीन हिन्दी नाटक अपने अनूदित साहित्य में ही अभिवृद्धि पा सके । डॉ०रवी०राय टैगोर,मौलियर गेटे तथा टाल्सटाय के नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया गया ।

प्रसाद युगीन नाटकों में भारतीय रस तथा पाश्चात्य शैली-शिल्प दोनों की प्राप्ति होती है । इस युग में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पर ठोस,गम्भीर तथा साहित्यिक नाटक लिखे गये । मनोविश्लेषण के माध्यम से नाटकीय पात्रों में संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा की गया ।

डा० रामकुमार वर्मा-युग के नाटकों में यथार्थ और आदर्श का इन्द्रधनुषी संयोग हुआ है तथा सर्वप्रथम हिन्दी-नाटकों में साहित्यिक सुरुचि के साथ ही रंगमंच की भी पूर्ण सम्भावनाएं व्यक्त हुई हैं । युगान नाटकों में बेकारी, निराशा, मानसिक-अवसाद तथा कुण्ठा व्यक्त हुई है । जीवन का विकृत पक्ष उभारना ही इन नाटकों का लक्ष्य है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आलोच्य-काल के हिन्दी नाटकों को परखने के लिए भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों के शास्त्रीय दृष्टिकोण का संश्लिष्ट रूप ही स्वीकार किया गया है । नवीन दृष्टियों की प्रेरणा मुझे गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा से प्राप्त हुई है । उनका निर्देशन प्राप्त कर ही यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका है । अत: उनके प्रति आभार ज्ञापन करने की अपेक्षा उन्हें सादर प्रणाम करता हूं । वे स्वयं एक विज्ञ नाट्य-शिल्पी और नाटककार हैं, अत: उनसे मेरी प्रत्येक समस्या का समाधान सम्भव हो सका ।

अपने प्रारम्भिक गुरु पं० सुमतिनारायण जी 'निराधार' तथा श्रीकृष्णदास, श्री विनोद रस्तोगी, श्री पृथ्वीराज कपूर, श्रीमती इन्दुजा अवस्थी तथा बन्धु श्री जितेन्द्र इन्दु, श्री राजेन्द्र तिवारी, श्री आनन्द राज, श्री श्रीकृष्ण मोहन सक्सेना के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिनका मौलिक पत्र द्वारा अन्य माध्यमों से सद्भाव एवं सहयोग प्राप्त होता रहा है । इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में चार वर्षों तक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जिन स्वजनों का मुझे सहयोग मिला है, उनका मैं ऋण स्वीकार करता हूं ।

शोधप्रबन्ध को पूरा करने में मुझे अभिनय-शिल्पियों के सुझाव भी पत्र द्वारा प्राप्त होते रहे हैं । उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं । प्रबन्ध की पूर्ति के लिए मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी, गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी, भारती भवन पुस्तकालय तथा अन्य छोटे मोटे पुस्तकालयों एवं वाचनालयों में छानबीन करनी पड़ी है । यदि

इन पुस्तकालयों का उचित सहायता प्राप्त न हुई होती तो इस प्रबन्ध की सामग्री सम्पूर्ण न होती । अत: इन संस्थाओं के प्रति मैं अत्यन्त विनीत भाव से कृतज्ञता व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समझता हूं । उन विद्वानों का भी मैं कृतज्ञ हूं, जिनकी कृतियों से मुझे सहायता मिली है ।

प्रस्तुत दशक के हिन्दी नाटक अपने शिल्प-विधान में बिल्कुल भिन्न हो गये हैं । उनमें कथ्य, चित्रण तथा सुष्ठु घटनाओं का सर्वथा अभाव है । अत: इस दशक के नाटकों को स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है । इसी से प्रस्तुत प्रबन्ध में १९६० ई० तक का समय ही अध्ययन के लिए लिया गया है, क्योंकि १९२०ई० से १९६० ई० तक के नाटकों के रंगमंच में एकरूपता है ।

(अवधेश अवस्थी)
(प्रधान सचिव)
'भरत नाट्य संस्थान'

३ प्रयाग स्टेशन रोड
इलाहाबाद-२

अवतरणिका

अवतरणिका

-0-

भूमिका

(क) साहित्य और नाटक ।

(ख) दृश्यविधान और रंगमंच की विधा

(ग) हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा (१९२०ई० से पूर्व)

-०-

भूमिका

(क) साहित्य और नाटक

साहित्य और नाटक का अन्तर्सम्बन्ध

कला की दृष्टि से साहित्य और नाटक में विशेष सम्बन्ध है । जिन मानवीय वृत्तियों को साहित्य जन्म देता है, उन्हें साकार रूप देकर नाटक प्रस्तुत करता है । दूसरे शब्दों में यदि मानवीय साहित्यिक वृत्तियों की चलती-फिरती मूर्तियों का अवलोकन करना अपेक्षित हो तो वह नाटक के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है । साहित्य यदि मानवीय वृत्तियों के हृदय की धड़कन है तो नाटक उसका स्वरूप । साहित्य यदि उन्हें संस्कारित कर मानस में प्रतिस्थापित करता है तो नाटक उन्हें अवतरित कर मंच पर संचारित करता है । इस प्रकार नाटक साहित्य का एक सक्रिय पूरक है । गोस्वामी तुलसीदास जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का स्वरूप अधिकाधिक मानव ग्राह्य बनाना चाहते हैं, जिसे देखकर 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार हर किसी को अपनी भावना रुचिकर लगती है, तो उन्हें साहित्य के नाटकांग का सहारा लेना पड़ता है । जनकपुर के स्वयम्बर-मंच पर श्रीराम में पति, जामाता, भक्तवत्सल, प्रेमी, दयालु, प्रजापालक और दुष्ट निकन्दन जैसे अनेक रूप एक साथ विद्यमान हैं, जिन्हें पृथक्-पृथक् वृत्तियों वाले मनुष्यों ने एक साथ ही अपने-अपने

भूमिका

(क) साहित्य और नाटक

साहित्य और नाटक का अन्तर्सम्बन्ध

कला की दृष्टि से साहित्य और नाटक में विशेष सम्बन्ध है। जिन मानवीय वृत्तियों को साहित्य जन्म देता है, उन्हें साकार रूप देकर नाटक प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में यदि मानवीय साहित्यिक वृत्तियों की चलती-फिरती मूर्तियों का अवलोकन करना अपेक्षित हो तो वह नाटक के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। साहित्य यदि मानवीय वृत्तियों के पुष्प को प्रसून है तो नाटक उसका स्वरूप। साहित्य यदि उन्हें संस्कारित कर मानस में प्रतिस्थापित करता है तो नाटक उन्हें अवतरित कर मंच पर संचालित करता है। इस प्रकार नाटक साहित्य का एक सक्रिय रूप है। गोस्वामी तुलसीदास जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का स्वरूप अधिकाधिक मानव ग्राह्य बनाना चाहते हैं, जिसे लेकर 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार हर किसी को अपनी भावना स्थापित करनी है, तो उन्हें साहित्य के नाट्यांग का सहारा लेना पड़ता है। जनकपुर के स्वयम्बर-मंच पर श्रीराम में शक्ति, वात्सल्य, भक्तवत्सल, शौर्य, उदार, कृपानिधान और दुष्ट निकन्दन जैसे अनेक रूप एक साथ दिखाए हैं, जिन्हें पृथक्-पृथक् वृत्तियों वाले मनुष्यों ने एक साथ ही अपने-अपने

दृष्टिकोण से देखा । साहित्य के विविधांग जब एक साथ अपना स्वरूप प्रदर्शित करते हैं तो वे नाटक का आश्रय ग्रहण करते हैं । इस प्रकार नाटक में कथा,काव्य इत्यादि अनेक विधाओं का ही नहीं,अनेक कलाओं का भी प्रदर्शन एक साथ ही विभिन्न वृत्तियों के दर्शक [illegible] देखते हैं । नाटक मानवीय साहित्यिक वृत्तियों की समस्त क्षमताओं से पूर्ण होता है । इसी से अपना-अपनी इच्छाओं को लेकर उपस्थित होने वाला दर्शक नाट्य-प्रदर्शन से पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त करता है । उत्तम, मध्यम और अधम इसी प्रकार के मनुष्यों की साहित्यिक-वृत्तियों का वाहक नाटक वास्तव में सही अर्थ में लोक की वृत्ति का अनुकरण होता है[1] । इसी से साहित्य की सर्वांगीण सफल विधा नाटक की परिभाषा निश्चित करते हुए नाट्याचार्यों ने बहुल विषय रस सामग्री प्रस्तुत करते हुए कहा --

'नाटक में कहीं धर्म है तो कहीं अर्थ है । कहीं क्रीड़ा तो कहीं शान्ति । कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध । कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का[2] ।'

'तरुणजन काम की बातों में विदग्ध व्यक्ति नीति सम्बन्धी बातों में, धनिकगण धन सम्पत्ति में, वैरागी मोक्ष की बातों में, शूर वीर जन वीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में ,वयोवृद्ध जन धर्माख्यानों में और बुद्धिमान लोग सभी तत्व भावों में सन्तुष्ट होते हैं[3] ।'

इस प्रकार नाटक की क्रियाशीलता साहित्य के अन्तर्गत में समाहित रहती है तथा साहित्य अपनी साकारता के लिए नाटक का मुखापेक्षी रहता है । दोनों का घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध है । साहित्य यदि पुष्प है तो नाटक

१- लोक वृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।
उत्तमाधम मध्यानां नराणां कर्म संश्रयम् ।। (नाट्यशास्त्र)

२- क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ।। १०८।।(नाट्यशास्त्र)

३- भाव प्रकाश शारदातनय

उसका सुगंधि है । साहित्य यदि धारा है तो नाटक लहर । साहित्य की जो कृतियां एकान्त,सीमित और अविख्यात रहती हैं वे नाटक के द्वारा सर्वसुलभ असीमित और विश्व विख्यात हो जाती हैं । शरीर और प्राण के समान ही साहित्य और नाटक का सम्बन्ध है ।

साहित्य का रूप और उसका उदय

जिस विधा का प्रारम्भ ही आनन्द और कल्याण की भावना से प्रेरित हुआ हो उसे 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' से युक्त क्यों न माना जाय ? सत्यं शिवं और सुन्दरं में कौन-सा गुण साहित्य में अधिक प्रभावशाली है, यह बतलाना दुष्कर कार्य है, किन्तु विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर 'सहित' शब्द से साहित्य की व्युत्पत्ति स्वीकार करके 'शिवं' गुण को अधिक उपादेय एवं मूल्यवान घोषित करते हैं--

'सहित से साहित्य की व्युत्पत्ति हुई है । अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है । वह केवल भाव का भाव के साथ,भाषा का भाषा के साथ और ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है । यही नहीं वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य का मनुष्य के साथ अतीत का वर्तमान के साथ और दूर का निकट के साथ भी है[1] ।'

इस परिभाषा में मिलन शब्द इतना विराट् है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व ही विलय हो जाता है । यदि साहित्य को इतने विशाल परिप्रेक्ष्य में हम न भी लें तो भी मात्र कला रूप में भी उसकी विश्व-कल्याण की भावना में कोई गतिरोध नहीं आता । यह विश्व-कल्याण की भावना साहित्य

१- योगेन्द्रनाथ शर्मा 'मधुर' — हिन्दी साहित्य विवेचन,पृ० ६८

में शब्द तथा अर्थ के सहभाव से उत्पन्न होता है ।

"शब्दार्थौ यथावत सहभावेन विद्या साहित्य विद्या शब्द और अर्थ के यथावत सहभाव वाली विद्या को साहित्य विद्या कहते हैं ।"[1]

यह सहभाव सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही विकसित होता गया और 'साहित्य' शब्द के अर्थ का विस्तार होता गया ।

'साहित्य' शब्द का अर्थ सर्वप्रथम काव्य की सीमाओं तक बंधा हुआ था । धीरे-धीरे सीमाओं को तोड़ता हुआ आज यह इतिहास, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सभी विषयों के लिए प्रयुक्त होने लगा है । हितचिन्तन या कल्याण की भावना से आपूरित साहित्य हृदय और बुद्धि की लहरों की भांति आलोड़ित कर नित्यप्रति ज्ञानधारा में लीन करने लगा और आज के चिन्तक को मानना पड़ा कि --

"ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है, इसी विकास के कारण साहित्य धर्म की सीमाओं को भी छूने लगता है ।"

साहित्य और धर्म

धर्म इस लोक में मनुष्य के लिए सुख सन्तोष प्रदाता ही नहीं, वरन् परलोक सुधारक भी है ।

"यतो भ्युदय निःश्रेयस सिद्धि: स: धर्म:" जिससे इस संसार में अभ्युदय हो और निःश्रेयस अथवा जीवन के मुख्य लक्ष्य सुख शान्ति पूर्ण जीवन की प्राप्ति हो वही धर्म है ।"[2]

मनुष्य जीवन की शुभ प्रवृत्तियों को महत् उद्देश्य की ओर प्रवृत्त करना धर्म का लक्ष्य रहता है । साहित्य भी महत् उद्देश्य को लेकर ही

१- पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' -- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०१३
२- ,, ,, ,, ,, पृ०१५

चलता है । मनुष्य की मानसिक कमजोरी को निष्कासित कर उसमें जीवन के प्रति साहसिक लगाव उत्पन्न करना ही साहित्य का कार्य है । यहाँ दोनों की कर्तव्य-भूमि की सीमाएं मिल जाती हैं --

"साहित्य हमारे धर्म के आधार पर स्थिर होता हुआ उसी के साथ-साथ उससे प्रभावित होता है और विकसित एवं परिष्कृत होता है[१]।"

साहित्य धर्म का समकक्ष है । अतः उसमें भी समाज, देश और काल की छाया दिखलायी पड़ती है । इसी सन्दर्भ में साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा जाता है । किसी देश अथवा जाति की चित्त-वृत्ति का प्रतिबिम्ब उसका साहित्य ही कहा जा सकता है । अर्थात् साहित्य में उस समाज या देश की जनता का पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है । समाज के इन क्रिया-कलापों का प्रतिबिम्ब साहित्य सत्यं के धरातल पर ही करता है । असत्य एवं धोखे में डालने वाले वर्णन साहित्य रूपी लक्ष्मण-रेखा के भीतर पग नहीं बढ़ा सकते हैं ।

सत्यं

लोकगत सत्य और साहित्यगत सत्य की व्याख्या में अन्तर रहता है । दैनिक जीवन के प्रांगण में सम्पादित होने वाली विभिन्न घटनाएं जिस प्रकार साहित्य की मनोरम वाटिका में नहीं उपस्थित की जा सकती हैं,उसी प्रकार जीवन का सत्य साहित्यिक के प्रस्तुतीकरण में नगण्य एवं सारहीन है । यद्यपि साहित्य भी युग-सत्य अथवा शाश्वत सत्य की अवहेलना करके आगे नहीं बढ़ता है तथापि वह उसको इस प्रकार प्रस्तुत

१- पं०रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' -- हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ०१५

करता है कि मूल से भी सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति उसके क्रोड से सहज निकल भागने में असमर्थ हो जाता है । एकलव्य वस्तु जगत में भले ही कोयले की तरह काला रहा हो, पर महाकाव्य 'एकलव्य' के नायक के रूप में यदि श्री रामकुमार वर्मा को प्रशस्त लेखनी उसे मेघवर्ण न कहती तो साहित्य की मार्मिकता स्पष्ट न होती । श्री जयशंकर प्रसाद के मनु देवदारु के समान लम्बे हैं । यहाँ भी जीवन सत्य के लिए असत्य होकर भी काव्य सत्य के लिए सत्य है । सत्य को यदि यथार्थ की सीमाओं में बांधकर यथावत् ही रखा जायेगा तो वह पाठकों को प्रभावित नहीं कर सकेगा और वे धूम्रसंकुल कोठरी की घुटन से ऊबे हुए मनुष्यों की तरह भाग निकलेंगे और तब प्रभाव न डाल पाने के कारण साहित्य अपने शिवं के गुण से वंचित हो रह जायेगा । यह आवश्यक है कि साहित्य को मनोयोग पूर्वक पढ़ा जाय ताकि तदनुरूप उसका आचरण कर मानव जीवन नैतिकता एवं कल्याण को प्राप्त हो सके । इस मनोयोग के लिए काव्यगत सत्य अपनी सीमाएं रखता है । काव्यगत सत्य का प्रयोग साहित्य में सौन्दर्य के लिए होता है जो शिवं अर्थात् कल्याण की सृष्टि करता है ।

शिवं

मानव जीवन अभावों की पूर्ति के लिए सदैव संघर्षरत रहता है । पूर्ति के साधनों का हर व्यक्ति अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है और इस प्रवृत्ति की अदम्य लालसा के कारण ही अन्ततः विरोध का उदय होता है । यह विरोध यदि अलौकिक मंगल प्रयासों से शमन न किया जाता तो मानवता आपसी युद्ध के कारण कभी की विनाश के गर्त में गिर चुकी होती । पारस्परिक प्रेम की भावना एवं बन्धुत्व का प्रसार साहित्य ही करता है । मनुष्य अपने कार्यों का प्रतिफल चाहता है, यह प्रतिफल उसे अधिकाधिक बढ़ने का प्रोत्साहन देता है । इसी भावना से मानवता का अधिकाधिक कल्याण होता है ।

"मनुष्य अपने को औरों में और औरों को अपने में देखने का सतत् अभिलाषी रहता है । उसके समस्त कर्मों का यही अर्थ है । मनुष्य के हृदय की यह आत्म-ऐक्य की अनुभूति जो अभिव्यक्ति के रूप में लिपिबद्ध होता है साहित्य है[1]।"

सुख-दुःख से आप्लावित परिस्थितियों का चित्रण कर तथा अनुभव प्रेरणा और सम्वेदना प्रदान कर साहित्य मानवमात्र के कल्याण की कामना करता है । साहित्य का रचयिता इस कल्याणकारी भाव का निरादर नहीं कर सकता है । वह अपने प्रयास से समाज और देश में शिव प्रयत्नों की ही अपेक्षा करता है । साहित्य के क्रोड में युग परिवर्तन एवं समाज संस्कार की शक्ति छिपी रहती है । क्रूर में दया, आततायी में सेवा, डाकू में सहायता और मूर्ख में विद्या की प्रेरणा उत्पन्न करने का श्रेय साहित्य को ही प्राप्त है । साहित्य की यह प्रवृत्ति ही उसके प्रति आदर और सम्मान की भावना बनाए हुए है । यदि साहित्य शिवत्व के स्थान पर विद्रूपता और घृणा का प्रतिस्थापक होता तो उसके प्रति भी राग और द्वेष का भाव मनुष्यों में भर गया होता । यह शिवत्व असुन्दर के माध्यम से कभी सम्भव नहीं है । अन्धकार जो कुरूपता का प्रतीक माना जाता है कभी विश्व-कल्याण नहीं कर सकता और इसीलिए शिवत्व के गुण के बाद ही सुन्दर की कल्पना साहित्य के लिए की गयी ।

सुन्दरम्

जो कुछ दूसरों के द्वारा ग्रहण किया जाता है अथवा जिसे दूसरों का हित होना अपेक्षित है, उसे सुन्दर होना चाहिए । साहित्य का सुन्दरता शाश्वत है । वह किसी रमणी के सौन्दर्य की भाँति नष्ट नहीं होता।

१- जैनेन्द्र

रमणी की सुन्दरता आयु के साथ ही ढल जाती है पर साहित्य जिन भावुक प्राणों में किसी सुन्दरता का उत्पत्ति कर देता वह अक्षुण्ण रहती है । साहित्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहने के पीछे भी यही भाव हो सकता है कि ईश्वरीय आनन्द की भांति ही साहित्य का आनन्द भी सदा स्वरूप रहता है । यह सौन्दर्य ग्राह्यता का दृष्टि से साहित्य में अत्यधिक अपेक्षित है ।

जीवन की बाह्य कुरूपताओं से ऊबकर मनुष्य अत्यधिक परिक्लान्त हो जाता है । इन विडम्बना से ऊबकर ही वह जीवन से पराङ्मुख होने की बात सोचने लगता है । इसी समय साहित्य उसके समक्ष जीवन का सौन्दर्य खोलकर रखता है, जिससे मानव में जीवन के प्रति पुन: आकर्षण उत्पन्न हो जाता है , उसे जीवन में आनन्द आने लगता है । उसका भटकना रुक जाता है, क्योंकि युगों का सौन्दर्य एक झरने के रूप में साहित्य स्रष्टा से उसके समक्ष निरन्तर झरता रहता है । पाठक इस झरने के किनारे बैठकर निरन्तर अंजुलि भर-भर कर भाव रूपी अमृत-जल का पान करता है और जीवन का सुगम मार्ग प्राप्त करता है ।

"साहित्य जीवनयापन की कला बताता है । जीवन के भीतर का सौन्दर्य खोलकर रख देता है । युगों के सन्देश को प्रेय रूप में उपस्थित करके प्रयास बिना ही बता देता है कि भटकने की आवश्यकता नहीं है, जीवन का मधुर मार्ग यह है[1] ।"

इस प्रकार सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् रूप का धारक साहित्य कभी निरुद्देश्य नहीं हो सकता । साहित्य का उद्देश्य इन्हीं गुणों को अधिकाधिक अभिव्यक्ति करके मानव- चरित्र का निर्माण करना एवं समाज

१- गिरीश मिश्र —"कला साहित्य और समीक्षा" ,पृ०१६

को पुष्टि करना होता है । साहित्य के माध्यम से जब लेखक के हृदय के भाव सामाजिकों में रस सृष्टि कर उनकी मानसिक भावभूमि बदल कर तदनुरूप क्रियाएं कराने में समर्थ हो जाते हैं तब साहित्य सामाजिक परिवर्तन का कारण बनता है । अनेक राष्ट्रों एवं जातियों को पतन से निर्माण की ओर ले जाने का श्रेय साहित्य को ही है । निराशा के अन्धकार में डूबी हुई हिन्दू-जनता को प्रकाश किरण देने वाली 'रामचरित मानस' जैसी बहु आदरित प्रतिष्ठित कृति साहित्यांग ही है । यह इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि साहित्य में वह शक्ति विद्यमान है जो मुर्दों में प्राण फूंक सकती है । यह साहित्य के प्रताप का ही फल है कि जीवन से अत्यधिक प्रेम करने वाला व्यक्ति युद्ध के मैदान में लोक-हितार्थ हथेली पर प्राण रखकर वीर रस की साक्षात् मूर्ति बन जाता है । शक्ति से हीन जीवन के द्वारा कापुरुष भी साहित्य की ललकार से पुंसत्व प्राप्त कर विश्व-कल्याण की भावना से भर उठता है । मानव समाज की ही नहीं, जीव मात्र की हित कामना साहित्य के क्रोड में भरी रहती है । किसी भी प्रकार के कष्ट से हारा-थाका मानव-साहित्य वृक्ष की शीतल छांह में दो पल सुखपूर्वक सांस ले सकता है ।

समष्टि में शिवं

यह हित कामना अथवा शिवत्व का साहित्यांकुर व्यष्टि के मस्तक पर शीतल छाया ही नहीं करता, वरन् वह एक-एक कर बहुतों को प्रभावित करता है । साहित्य का उद्देश्य समष्टि के हित के लिए होता है । कोई एकान्त में बैठकर साहित्य के अध्ययन से अपनी आत्मतुष्टि कर सकता है, पर साहित्य के अपने सम्पूर्ण आलोक से एक के स्थान पर अनेक की हित-कामना की आशा करता है । साहित्य की यही शिवत्वमयी भावना उसे नाटक के समीप ला देती है ।

नाटक समष्टि की वस्तु है । व्यक्ति भले ही पढ़कर नाटक का भाव ग्रहण करने का प्रयास करे, पर मानव की साहित्यिक वृत्तियाँ जो मूर्त रूप धारण कर नाटक के द्वारा उपस्थित होती है, उसका भोग समष्टिगत ही सम्भव है । नाटक दृश्य रूप में ही अपने समस्त सफल स्वरूप को प्रस्तुत कर पाने में सक्षम होता है । यह दृश्यांकन किसी नाट्य-शाला अथवा खुले रंगमंच पर होता है, जहां एक साथ हजारों दर्शक अपनी भावनाओं की सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं । एक साथ ही सुख-दुःख की भाव-धारा में डूबते उतराते हैं और भावोद्वेलित होकर साहित्यकार की भावनाओं के रंग में रंग, नाट्य-शाला से बाहर आते हैं । इस प्रकार समष्टि को प्रभावित करने की साहित्यिक-लालसा सफल ही पूर्ण हो जाती है । इसी सन्दर्भ में नाटक, साहित्य का सफल पुत्र सिद्ध होता है । जिस प्रकार पिता की इच्छाओं को पूरा करने वाला पुत्र, गुरु की इच्छाओं के अनुसार चलने वाला शिष्य समाज में अधिकाधिक समादृत एवं प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार समष्टि को प्रभावित करने की इच्छा सफलतापूर्वक निभाने की क्षमता रखने वाला नाटक समाज में अधिकाधिक सम्मान पाता है । बहु समादृत होने के कारण नाटक साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक सफल कहा जाता है । इस बात का स्पष्टीकरण साहित्य की अन्य विधाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालकर किया जा सकता है ।

काव्य-शैली

काव्य-शैली साहित्य की सर्वाधिक प्राचीन शैली है । दूसरे शब्दों में काव्य साहित्य की प्रारम्भिक शैली है । काव्य-कुसुम वाटिका का पुष्प है जो चिन्तन की धूप में अधिक समय तक खिला नहीं रह सकता । आनन्द वृष्टि के कारण जब भावों की बाढ़ आती है तो काव्य की सूक्तियां अधिक प्रभावशालिनी एवं मनमोहक ढंग से प्रस्तुत होती हैं । जिन सूक्तियों के अवलोकन से पाठक के नेत्र शीतल होते हैं और मधुर निनाद से कर्ण-सुख प्राप्त होता है, ऐसे काव्य का शरीर प्रति छन्द एवं पंक्ति रूपी अक्षर द्वारा पाठक को सुख-

न्तोष एवं मधुरानन्द प्रदान करता है । दूसरे शब्दों में काव्यानन्द का पूर्ण लाभ पाने वाला पाठक ब्रह्मानन्द-सुख का अनुभव करता है । काव्यकार को कल्पना-लोक में विचरण करने का खुला सुख प्राप्त होता है । इसी प्रकार काव्य-शैली में लेखक के लिए भूत,भविष्य तथा वर्तमान सभी कही जाने की खुली छूट रहती है । यों तो भाव और क्रिया के समन्वय का समर्थक काव्य भी है पर यहां क्रिया अधिकतर भाव जगत में ही उड़ान भरती रहती है,उसकी जीवनोपयोगिता एक कल्पना बन जाती है । कवि अपनी बातें कहने में स्वतन्त्र होता है । उसे पाठक या अन्य किसी का भय नहीं रहता है, उसकी पराधीनता भी कहीं सुले स्थान पर नहीं होती । यदि उसका काव्य पाठक पसन्द नहीं करेगा तो शायद उसे पता भी न चलेगा कि किसकी दृष्टि में वह रुचिकर नहीं हुआ । कवि यदि अन्यथा प्रचार का बीड़ा उठायेगा तो उसका अकेला प्रयास अरण्य-रोदन की भांति रहेगा जो अधिक प्रभावशाली हो ही नहीं सकता है । सफल कवि की बात दूसरी है ।

कथा शैली

आधुनिक चिन्तन के युग में जितना प्रचार और प्रसार इस शैली का हुआ है,उतना किसी का नहीं हुआ । इस शैली में भी बुद्धि एवं हृदय-पक्ष का जुगलता युग्म रहता है । कथाकार कथा में उड़ान तो नहीं भर सकता, पर चरित्रों को गढ़ा करते समय अपने मस्तिष्क का मुक्त प्रयोग कर सकता है । वह ऐसे पात्र दे सकता है जो वास्तविक जगत में सम्भव ही नहीं । अनेक बार कथा के पात्र हाड़ मांस के न रहकर भावना-लोक के खिलाड़ी मात्र रह जाते हैं । काव्य की भांति ही कथा की शैली भी एकान्त में आनन्द प्रदान करने की क्षमता से परिपूर्ण रहती है । किसी निश्चित प्रमाण की इसके लिए आवश्यकता नहीं है । बस वाला,जहां चाहा एक अकेला पाठक कथा शैली की उपलब्धियां प्राप्त करने के लिए कहानी अथवा उपन्यास का उपयोग

करने लगता है । उसकी शैली में समय स्थानादि की सीमाओं का कोई बन्धन नहीं रहता है । स्वयं उपन्यास अथवा कहानी की कथावस्तु में लेखक का अपना व्यक्तित्व उभरता चलता है । वह स्वतन्त्र रूप से अपने पात्रों की अथवा स्थिति की आलोचना करने के लिए अधिकृत है । वह अपने पात्रों को अपने अनुसार खींचातानी भी कर सकता है । वह पात्रों का मुहताज नहीं,पात्र उसके मुहताज रहते हैं । वह स्वयं स्रष्टा है, अपनी सृष्टि जैसी चाहता है,वैसा रचता है । उसे पाठकों की भी उतनी चिन्ता नहीं,जितनी एक नाटक के रचयिता को दर्शकों का रहती है । अत: नाटक की शैली इस काव्य अथवा कथा-शैली a से भिन्नता रखती है ।

नाट्य शैली

नाटकीय कला मानव जीवन में आने वाले उन क्षणों के समान है,जिनके अवसान में सारी प्रकृति रंग उठती है । समस्त वातावरण एक अद्भुत रंग में रंजित दिखायी पड़ता है । सभी प्राणी एक अवर्णनीय उल्लास में बंधे कार्य करते दिखायी पड़ते हैं । पेड़-पौधे,पशु-पक्षी,कीट-पतंग सभी ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित किसी चमत्कृत भाव-भूमि पर आनन्दमयी क्रीड़ा का अभिनय करते दिखायी पड़ते हैं । जिस स्थिति का वर्णन करने में बड़े-बड़े कवि भी शब्द हीन हो गए,वह स्थिति जिस समय अन्त:करण के मंच पर प्रकट होती है तो शरीर का तार-तार उत्साह से भर जाता है । रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठता है । हर काम में अत्यधिक आनन्द प्रतीत होता है ,हर श्वास चन्दन बिखेरती प्रतीत होती है । अभाव दु:खचिन्ता और व्याधियां आकाश-कुसुम की भांति विलुप्त हो जाते हैं । यह स्थिति जिस मनुष्य के जीवन में आती है, वही उसके महत् सुख का अनुभव कर सकता है । कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला का चित्रण तल्लीन हो गया है । साहित्य की भांति ही नाटक को भी समाज का दर्पण कहा जा सकता है । वह ऐसा पुष्प है जो नाट्य-लेखक के अन्त:करण के ऐसी आनन्द के पराग-कणों से निर्मित होता है ।इसीलिए नाट्य

दर्पण पर पड़ने वाला प्रकृति-बिम्ब और अधिक रंग रंजित हो उठता है,जिसे देखते ही द्रष्टा मंत्रमुग्ध हो जाता है । व्यक्ति-वैशिष्ट्य घुल जाता है । जीवन के विशेष क्षणों की स्थिति भले ही अवर्णनीय हो पर नाटक में वह अदृश्य नहीं है । इसी सन्दर्भ में नाटक काव्यानन्द सहोदर होकर पंचमवेदादि कहा गया है ।

नाट्य-शैली में जहां यह विशेषता है,वहां उसमें कठिनाइयां भी हैं । नाट्य शैली में लेखक पूर्णतया पात्रों के आधीन रहता है । उसके पात्र जिधर जाते हैं,सेवक की भांति वह उनके साथ उधर ही लगा रहता है । इसके अतिरिक्त उसे रंगमंच तया दर्शकों का ध्यान भी रखना पड़ता है । वह इनको उपेक्षा कर के आगे नहीं बढ़ सकता । काव्य एवं कथा शैलियों से तुलना करने पर नाट्य शैली का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो सकेगा । काव्य एवं कथा शैलियों में लेखक का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से प्रकट हो सकता है । नाट्य लेखक अपने में ही पूर्ण नहीं है । वह दर्शकों के मस्तिष्क से सोचता है और अभिनेता के मुख से बोलता है । उसके सम्बन्ध दर्शक और अभिनेता को लेकर ही नहीं चलते,वरन् रंगमंच की भौतिक सीमाओं(रंग,प्रकाश,प्रभाव तथा सज्जाकार और वे सभी उपादान जो नाटक को अभिनीत करने में सहायक रहते हैं) को भी अपने में समाहित करते हैं । क्योंकि हम मानते हैं कि नाटकीय नियम हमपर भौतिक नियम की सीमाओं और आकस्मिक घटनाओं तथा व्यवस्थापकों द्वारा हमपर लादे गए हैं ।[1] नाटककार पर दूसरा बन्धन अभिनेता का भी रहता है । वह अपनी कृति में किसी ऐसे तत्व की सृष्टि नहीं कर सकता जो अभिनेय नहीं है । रंगमंच की सुविधाओं को सदा ध्यान में रखकर ही रचना करनी होती है । इसी सन्दर्भ में नाटककार का दायित्व कवि और कथाकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक कठिन और जिम्मेदारी का है । वह चित्रकार के रंग और रेखाओं की तरह नाटक में कथावस्तु का प्रारूप एक स्थान पर बैठे हुए दर्शकों के समक्ष

1- [illegible], they are composed upon us by a hundred considerations by the accidental -

एक निश्चित समय में करता है । दर्शक का मूल्य यहां सर्वोपरि है[1] । उसके अभाव में नाटक की सफलता के बारे में क सोचा ही नहीं जा सकता ।

नाटक में भी कथा रहती है, पर उपन्यास की कथा से उसमें अन्तर रहता है । उपन्यास की कथा स्वयं लेखक द्वारा बताई जाती है, जिसमें समय तथा स्थानादि की सीमाओं का प्रतिबन्ध नहीं रहता है । उपन्यास का पाठक एक ही बैठक में समस्त वस्तु आस्वादित करने के लिए परिबद्ध नहीं रहता । जिस आस्वाद-बिन्दु पर वह अपना पठन छोड़ता है दूसरे दिन वहीं से प्रारम्भ कर सकता है । नाटक के दर्शक के साथ यह सुविधा नहीं है, उसे एक ही बैठक में सम्पूर्ण नाटक का आस्वाद लेना ही पड़ता है । यदि वह आस्वाद में अरुचि का अनुभव करता है और एक बार उसे छोड़ देता है तो पुनः उसे लौटाया भी नहीं जा सकता है । नाटक की कथा दर्शक के समक्ष उद्घाटित होती है[2] । जिसके लिए पूर्व योजना की आवश्यकता पड़ती है । कवि अथवा कथाकार इसीलिए अपने व्यापार को सर्व सुलभ समझता है कि उसके व्यापार के आस्वाद के लिए किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती । उन्हें उन तमाम प्रयासों को जुटाने का कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता । जिसके अभाव में एक नाटक लेखक अपनी बात उपस्थित ही नहीं कर पाता । समय की सीमाओं से मुक्त कवि चार पंक्तियों के मुक्तक से लेकर सात सर्गों का महाकाव्य तक रच सकता है, पर नाटककार के दर्शक हाड़-मांस के बने होते हैं, जो एक बैठक में बिना ताजगी प्राप्त किये अधिक देर तक बैठ नहीं सकते । उसके पात्र भी हाड़ मांस के बने हैं जो थकते हैं, भूख-प्यास से पीड़ित होते हैं और आराम करने की अपेक्षा रखते हैं । इन मानवीय आकृतियों पर आधारित

---

१. "A play without an audience is inconceivable."

२. "A Drama is never really a story told to an audience it is a story interpreted before an audience."
The Theory of Drama Page 31.

नाटककार कभी भी हुलकर बैठ जाने में असमर्थता का अनुभव करता रहता है।

नाटक का प्रदर्शन एक बार प्रारम्भ होने पर पुनः रोका नहीं जा सकता। क्योंकि उसका एक-एक शब्द, एक-एक प्रभाव कमान के निकले हुए तीर के समान होता है, जो पुनः लौटाया नहीं जा सकता। पाठक पुनः लौट कर कविता या कथा का आस्वाद ले सकता है, बल्कि पुनः-पुनः समझकर पढ़ने में काव्य का मर्म स्पष्ट कर लेता है, पर नाटक में अभिनेता न तो किये हुए अभिनय द्वारा छोड़े हुए प्रभाव को पुनः अनुभूति करा सकता है और न दर्शक ही उसे स्वीकार करने के लिए तैयार होता है। वह कथाकार की तरह स्थिति का वर्णन कर दर्शक के भावातिरेक को बांध भी नहीं सकता है। मोहक चित्रण के सम्मोहन से कथाकार अथवा कवि अपने पाठक को भुलावा दे सकता है, पर नाटक का दर्शक बहुत सजग एवं सावधान होकर बैठता है। उसे मोहक दृश्यों के जाल में नहीं बांधा जा सकता है। नाटककार स्थिति का संकेत भर करता है, जिसे प्रस्तुत करने का दायित्व प्रस्तुतकर्ता का रहता है।

नाटक एक सम्मिलित कला है, जिसमें लेखक से लेकर कार्यकर्ता और दर्शकों तक का सहयोग अपेक्षित रहता है। इन ही समस्त जिम्मेदार व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयास से ही नाटक अपना सम्पूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर पाने में समर्थ होता है। इस कारण नाटककार का दायित्व कठिन और संदिग्ध अवश्य है, पर प्रभाव की दृष्टि से वह सबसे अधिक सेवा समाज की करता है। इसी से नाटक सर्वाधिक सम्मानित होता है। नाटककार को इस सफलता के आगे ही कथाकार एवं काव्य-कार घुटने टेक देते हैं। उत्थान-पतन और अन्य सामाजिक परिवर्तनों में नाटक का आशातीत योग रहता है। कम समय में ही नाटक जिस प्रभाव की स्थायी छाप समाज पर छोड़ता है, उतनी स्थायी छाप साहित्य की अन्य विधाएं नहीं छोड़ सकतीं। समस्त वातावरण जो नाटक

के प्रभाव से डूबता-उतराता प्रतीत होता है । यदि आज का चलचित्र उदात्त तत्व को भी अपना लेता तो समाज का भावी निर्माण अब तक हो गया होता ।

नाट्य शैली की विशेषताएं

नाटक की शैली अन्य साहित्य की कथा या काव्य-शैलियों की अपेक्षा किस प्रकार महत्वपूर्ण है, इसपर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है । यहाँ नाटक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रमुख विशेषता पर कुछ कहना बहुत अपेक्षित है ।

दृश्य काव्य

युगों से काव्य जन-रुचि का कण्ठ-हार बना रहा है । काव्य का चरित्र जो समाज में आदर्श और मर्यादाएं स्थापित करने वाला होता है, यदि स्वरूप धारण कर जनता के समक्ष उपस्थित हो जाये तो जनता पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । नाटक में काव्य के सभी गुण तो रहते ही हैं, किन्तु दृश्य रूप होने का गुण विशेष रखता है । नाटक त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण बताया गया है[१]।

समस्त ज्ञान-शिल्प कला-योग और कर्मादि नाटकों में विद्यमान रहते हैं । नाटक में दृश्यरूप से युग-छाया भी है । यह छाया वास्तविकता से भिन्न होती है । वास्तविक संसार की भाँति देखकर हमें कोई आनन्दानुभूति नहीं होती । पर नाटक में उन्हीं की अनुभूति देखकर हम प्रसन्न होते हैं । नाटक के मंच पर चढ़कर जीवन की कुरूपताएं भी आनन्द

१- त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।।

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते ।।(नाट्यशास्त्र,पृ०१ १०७

का सृष्टि करने लगता है । यह वास्तविकता की अनुभूति ही नाटक है । इसके अभाव में नाटक की कल्पना ही असम्भव है । दशरूपक में धनञ्जय 'अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्' कहकर इसी बात की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं । एक अन्य स्थान पर वह इस स्थापना पर बल देते हुए कहते हैं -- रूपदृश्यतयोच्यते मंच पर अभिनीत होने के कारण ही नाटक को दृश्य कहा जाता है । वह चक्षुग्राह्य है और इसी सन्दर्भ में नाटक रूपक कहा जाता है । नाटक को रूपक इसलिए भी कह सकते हैं, क्योंकि उसमें नाटकीय पात्र अथवा अभिनेता पर वास्तविकता का आरोप किया जाता है । इस प्रकार नाटक रूप या रूपक नामों से अभिहित किया जाता है । यह रूप अथवा रूपक भी उसके दृश्यत्व की पुष्टि करते हैं जो उसके अंग मात्र हैं ।

रूपक का स्पष्टीकरण नाटककार अभिनय के द्वारा करता है । अभिनय में उसे अभिनेता और दर्शक का सहयोग अपेक्षित रहता है । इसके बिना रूपक अधूरा है । इस बात से यह सर्वथा सिद्ध है कि अभिनय तत्व नाटक का एक महत्वपूर्ण अंग है । अभिनय नाट्यरूपी शरीर के पैर हैं, जिसके अभाव में वह पंगु है । अभिनय नाटक की वह धड़कन है, जिसके बिना वह जिन्दा नहीं रह सकता ।

इस प्रकार साहित्य में नाटक का विशिष्ट स्थान है । नाट्य शैली के समक्ष साहित्य की अन्य शैलियां उसी प्रकार श्रीहीन हो जाती है, जिस प्रकार किसी नागर व्यक्ति की उपस्थिति से लोकजन मन्द पड़ जाते हैं । वह नागरव्यक्ति लोकगुणों से भी परिचित रहता है तथा अपने गुणों में वैशिष्ट्य भी रखता है । नाट्य शैली, (जिसकी रंगमंच अपनी विशेषता है) में साहित्य की अन्य सभी शैलियों के गुण विद्यमान रहते हैं । नाटक में काव्य, कथा, संगीतादि की चर्चा, साहित्य के आधुनिक बोध इतिहास तथा भूगोल इत्यादि का भी ज्ञान सुलभ धारण करता है । कोई ऐसा विषय नहीं जो नाटक की शैली में समाविष्ट

नहीं सके । साहित्य के इन्द्रधनुष में नाटक का रंग सबसे चटक है तथा इसके फलक पर सभी रंगों का आभास प्राप्त किया जा सकता है । साहित्य के विभिन्न आयाम रूपी सुहृदयों में नाटक उसका पत्रकार मित्र है,जो साहित्य की ख्याति को जन-जन तक पहुंचाने में समर्थ होता है । एक पत्रकार में राजनीति,समाज-सेवा,साहित्य-रचना आदि के अन्य अनेक गुण भी एक साथ प्रतिभासित होते रहते हैं । वह अनेक व्यक्तित्वों को ओढ़कर सामाजिकों के समक्ष उपस्थित होता है । ऐसे विविध गुण सम्पन्न पत्रकार की भांति ही नाटक का विधा साहित्य ख्याति सभी स्तर के जन समुदाय तक पहुंचती है । इसीलिए यह सत्य है कि साहित्य में नाटक वह अनमोल मोती है, जिसकी कान्ति से मानव-कल्याण का आलोक जन-जन तक पहुंचता है ।

-0-

(ख) दृश्य विधान और रंगमंच की विधा

नाटक के प्रस्तुतीकरण में दृश्य-विधान और रंगमंच की विधा अपने परिवेश में महत्वपूर्ण है। दृश्य-विधान से तात्पर्य उस विशेष शैली से है, जिसमें नाटक की कथावस्तु के अनुसार विविध सूत्रों के संयोजन की प्रक्रिया निर्धारित होती है। कथावस्तु के सूत्रों के विकास के लिए किस दृश्य को किस क्रम में रखना चाहिए, यही क्रम दृश्य विधान का निर्धारण करता है। इसके साथ ही कथा को ऐसे विविध दृश्यों में संयोजित करने की कला प्रदर्शित होती है, जिसमें कथानक के विकास में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो। बड़े और छोटे दृश्यों की योजना का क्रम भी इससे निर्धारित होता है। रंगमंच पर दो छोटे दृश्य बिना परिक्रामी रंगमंच के उपस्थित नहीं किये जा सकते, क्योंकि राजमहल के दो विविध कक्षों का प्रस्तुतीकरण एक-दूसरे के बाद नहीं हो सकता। इन दोनों के बीच में एक बड़ा दृश्य--राजमार्ग, गली या चौराहा आदि दिखलाना आवश्यक होगा, नहीं तो दृश्यों के संयोजन में कठिनाई उपस्थित हो सकती है। इस भांति दृश्य विधान जहां एक ओर कथा के स्वाभाविक विकास की ओर संकेत करता है, वहां दूसरी ओर वह उसके प्रस्तुतीकरण की सुविधा भी ध्यान में रखता है।

रंगमंच की विधा यद्यपि दृश्य-विधान को भी अपने में समाहित करती है, तथापि ऐसी अनेक परिस्थितियों को भी सुलझाती है, जिसमें प्रदर्शन की वास्तविकता और प्रभावोत्पादकता दर्शकों के समक्ष उभर सके। इसमें उन समस्त उपकरणों का समावेश हो जाता है, जिनसे रंगमंच दृश्यों की उपयुक्त प्रदर्शन-भूमि बन सकता है। इसके अन्तर्गत वे सभी कार्य-कलाप भी आ जाते हैं, जिनसे कि नाटक, दृश्यकाव्य की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रधानतः रंगमंच की विधा लिखित नाटकों

को साकार करने में समर्थ होती है ।

इन दोनों सम्बन्धोंपर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है ।

:क: <u>दृश्यविधान</u>

नाटक उपन्यास से इस बात में भिन्न है कि वह जीवन के संवेदनशील प्रसंग ही सुसम्बद्ध करता है । जहाँ उपन्यास जीवन की गतिविधियों का निरूपण विस्तार से करता हुआ एक कथा-श्रृंखला उपस्थित करता है (जिसकी कोई सीमा नहीं है) वहाँ नाटक केवल उन प्रसंगों को ग्रथित करता है जो रंगमंच के सीमित समय में जीवन की किसी प्रमुख संवेदना को उभार सकें । इस रूप में नाटक कथा को ऐसे दृश्यों में विभाजित करता है, जो क्रमिकरूप से किसी वस्तु को नेत्रों के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ होता है । संक्षेप में नाटक का दृश्य-विधान जीवन का एक संश्लिष्ट और घनीभूत रूप है, जो संक्षिप्त रूप में जीवन का विस्तार व्यंजित करता है । यह दृश्य विधान वास्तव में कार्य और कारण की श्रृंखला से सम्बद्ध होकर विकासोन्मुख ही रहता है । जिस भाँति किसी वृक्ष में वृन्त से पहले पुष्प का विकास नहीं होता, उसी प्रकार दृश्य-विधान भी एक क्रम को दृष्टि में रखता है । रंगमंच की प्रत्येक संवेदना इसी दृश्य विधान के माध्यम से क्रमशः मुखर होती है तथा उन्हें संयोजित करने में ही नाटककार का सबसे बड़ा कौशल है । इस दृश्य-विधान के अन्तर्गत निम्नलिखित उपकरणों पर विचार करना आवश्यक है :-

१- स्वाभाविक प्रगति

२- कौतूहल

३- कथा का क्रमिक उद्घाटन

४- एक निश्चित क्रम

१- <u>स्वाभाविक प्रगति</u> : स्वाभाविक प्रगति से तात्पर्य है कि कथा की प्रमुख सम्वेदना ऐसे तत्वों का संयोजन कर ले कि उसका प्रवाह किसी सरिता की भांति अविच्छिन्न और अप्रतिहत रहे । सत्य और कल्पना दोनों का संयोजन इस स्वाभाविक प्रगति में सहायक हो सकता है । जिस प्रकार बाल्यावस्था से यौवन की अवस्था और यौवन की अवस्था से प्रौढ़ावस्था का विकास होता है, उसी प्रकार कथा की स्वाभाविक प्रगति में कथा का क्रमिक विकास होना अभीष्ट है ।

२- <u>कुतूहल</u> -- यह प्रगति कुतूहल को जन्म देती है । सामान्य जीवन में घटनाएं जिस गति से अग्रसारित होती है, उस गति में कुतूहल रहना आवश्यक नहीं है, किन्तु जब वही घटनाएं दृश्यविधान के अन्तर्गत आती है, तब वे अपने साथ एक कुतूहल भी लाती हैं । अप्रत्याशित रूप से घटनाओं की परिणति दृश्य-विधान को एक विशेष आकर्षण प्रदान करती है । यही आकर्षण दृश्य-विधान का मेरुदण्ड है, जो कुतूहल से पोषित होता है ।

३- <u>कथा का क्रमिक उद्घाटन</u> -- कुतूहल से ही कथा का उद्घाटन होता है । जिस प्रकार बालसन्ध्या में किसी पाटल पुष्प की पंखुड़ियां क्रमशः खुलती जाती हैं, उसी प्रकार कुतूहल की आवेगमयी जिज्ञासा कथा के विभिन्न स्तरों को दृश्यविधान के माध्यम से उद्घाटित करती है । जिस प्रकार से कथा के विविध अंगों का उद्घाटन होता है, उसी प्रकार दर्शक या पाठक को जीवन के प्रौढ़ में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती चलती है, वह जीवन में रस लेने लगता है और वह उत्सुकता से कथा के विकास में आत्मविभोर हो उठता है ।

४- <u>एक विशिष्ट क्रम</u> -- घटना के उद्घाटन में एक विशिष्ट क्रम की मर्यादा होनी आवश्यक होती है । यदि किसी सामान्य परिस्थिति से किसी विशिष्ट परिणाम की सम्भावना उत्पन्न होती है तो उसे व्यवस्थित रूप से दृश्यविधान का आवश्यक भाग मानना चाहिए । इस क्रम में संगुम्फन गुण की आवश्यकता होती है । घटनाएं किसी पंछी की भांति किसी सम्वेदना पर उड़कर नहीं

जा सकती, वे एक नियमित गति से उसी प्रकार चलती हैं, जिस प्रकार थरमामीटर में पारे की रेखा किसी निश्चितअंक तक पहुंचती है । दृश्य-विधान का प्रभाव क्रमबद्धता में ही है । इस क्रम को व्यवस्थित करने में नाटककार को विशेष सावधानी रखनी अपेक्षित है । इस भांति दृश्य-विधान इन चार आवश्यक उपकरणों से नाटक का प्रभाव अधिक मात्रा में दर्शकों पर छोड़ने में समर्थ होता है ।

:ख: रंगमंच की विधा

रंगमंच की विधा उन समस्त उपकरणों द्वारा सम्पन्न होती है, जो नाटक में मंच के लिए अनिवार्य हैं । नाटक दृश्यगुणयुक्त साहित्यिक कृति होती है । पाठ्यरूप में नाटक का रसास्वादन तो किया जा सकता है, परन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप का परिचय उसके दृश्य-रूप में ही मिलता है । नाटक की अपनी प्रकृति के उद्घाटन के लिए रंगमंच की आवश्यकता होती है । रंगमंच के अभाव में नाटक का रूप वैसा ही असम्भव है, जैसा आकाश के अभाव में सूर्य का उदय । रंगमंच अनेक उपकरणों की सहायता से नाटक को "चाक्षुष" बनाता है । ये सभी उपकरण तथा परिस्थितियां रंगमंच की विधा कहलाती हैं । नाटक की संवेदना अधिकाधिक प्रकट हो सके, इसके लिए रंगमंच उन सभी तत्वों को संयोजित करता है, जो उसकी विधा के लिए आवश्यक है । रंगमंच की विधा को स्पष्ट करने में निम्नलिखित तत्वों का निरूपण आवश्यक है :

१- मंच का पृष्ठभाग ।

२- स्पष्ट स्वर ।

३- विरोधाभास ।

४- ध्वनीकरण ।

५- [illegible] ।

६- [illegible] ।

१- <u>मंच का पृष्ठतम भाग</u> -- नाटकीय सम्वेदना को पुष्ट करने के लिए सर्वप्रथम रंगमंच अपने पृष्ठतम भाग के प्रयोग की अपेक्षा रखता है । रंगशाला में प्रथम पंक्ति के दोनों छोरों पर बैठे हुए दर्शकों को रंगपीठ का जितना भाग दृष्टिगत होता है, उसे ही रंगमंच का पृष्ठतम भाग माना गया है । इसी स्थल को पृष्ठतम अभिनय भाग भी कहा जा सकता है । नाटक की सफलता के लिए एवं आकर्षण केन्द्र की दृष्टि से इसी भाग का प्रयोग करना चाहिए ।

२- <u>स्थल स्तर</u> -- मंच के पृष्ठ भाग के अतिरिक्त जो मंचीय स्थल शेष रहता है और दर्शकों की दृष्टि में आता है, उसे स्थल स्तर की संज्ञा दी गयी है । उस स्थल स्तर की सज्जा नाटकीय कथावस्तु देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप ही होती है ।

३- <u>विरोधाभास</u> -- पृष्ठतम भाग एवं स्थल स्तर में किसी भी ऐसे पात्र अथवा परिस्थिति की परिणति प्रतिकूल दिशा में होने पर विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होती है । प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा नाटक में संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है । विपरीत परिस्थितियों का संयोजन अन्ततः नाटक की सम्वेदना को उभारने में सहायक होता है और इसलिए प्रत्यक्षतः विरोध होते हुए भी इससे पात्र और परिस्थिति के संयोजन में सहायता मिलती है । इसीलिए इसे विरोध का आभास मात्र कहा गया प्रत्यक्ष विरोध नहीं ।

४- <u>समीकरण</u> -- रंगमंच की अपनी सीमाओं के कारण ही विस्तृत कथा एवं घटनाओं को संकुचित एवं संक्षिप्त करना पड़ता है । इसीलिए संकलनत्रय की आवश्यकता होती है । जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन करने के कारण नाटक की कथावस्तु स्वभावतः विस्तृत होती है । इसी कथावस्तु से सम्बद्ध विस्तृत परिवेश को रंगमंच की सीमाओं के भीतर संयोजित करना

आवश्यक है। इसी को समीकरण की संज्ञा दी गयी है। इस समीकरण से जीवन की व्यापक सम्वेदना एक घनीभूत घटना या परिस्थिति में व्यक्त की जा सकती है।

५- विद्रूप -- मंच पर पात्र अथवा परिस्थिति के आकस्मिक परिवर्तन अथवा विचित्र नियोजन के द्वारा जिस कुतूहल की सृष्टि होती है, उसे विद्रूप कहते हैं। अंग्रेजी में इसे वरबल आइरनी ( ) और आइरनी आफ सिचुएशन( ) कहते हैं। जहाँ किसी वाक्य या शब्द के दो अर्थ निकलते हैं, जिनसे 'पूर्व' या 'पर' की घटनाओं की व्यंजना होती है अथवा श्लेष के द्वारा अर्थ विस्तार होता है, वहाँ वाक्छल समझ लेना चाहिए। जहाँ परिस्थिति की अप्रत्याशित परिणति होती है, वहाँ विद्रूप की स्थिति उत्पन्न होती है। इसका सामान्य आधार वेश-परिवर्तन है। इसके द्वारा मंच पर आकर्षण और विशिष्ट अनुरंजन की सृष्टि होती है।

६- समूहीकरण -- नाटककार को रंगमंच की सीमा में ही वस्तुओं को यथास्थान सजाना रखना है, साथ ही पात्रों के पद चार के लिए भी स्थान छोड़ना रखना है। वस्तुओं एवं पात्रों के इस समुचित नेत्र रंजक कार्य व्यापार को समूहीकरण के अन्तर्गत स्पष्ट किया जाता है। समूहीकरण की प्रक्रिया मंच पर अनेक पात्रों के उपस्थित होने पर ही नहीं, एक पात्र के रहने पर भी होती है। उसकी मानसिक परिधि, भावों और मनों की व्यंजना एक अलग संसार की सृष्टि करती है--

'गोया तुम साथ रहते हो
कि जब कोई नहीं रहता।'

मानसिक आरोहावरोह स्वयं एक विलक्षण नाटक है। इसी प्रकार मंच पर जब अनेक पात्र एक साथ उपस्थित रहते हैं तो सभी का क्रियाशील होना समूहीकरण के लिए आवश्यक है। सम्भव हो एक-दो पात्र ही बोलते हैं, परन्तु अन्य पात्र भी अपने आंगिक तथा वाचिक अभिनय द्वारा दृश्य को उभारने में सहायक

होते हैं । अत: स्पष्ट है कि सभी पात्रों के सम्मिलित प्रभाव को समूहीकरण कहते हैं ।

समूहीकरण साहित्य, कला, संगीत सभी का एकत्व है । रंगमंच पर किसी स्थिति को स्पष्ट करने की संवेदना से प्रभावित तथा दर्शकों को नाटकीय संवेदना से परिचित करने के लिए "समूहीकरण" आवश्यक तत्व है । यदि काले रंग के दृश्य-पट में श्वेत वस्त्रधारी अभिनेता भूमिका निभाता है तो वह इस दृश्य में अधिक उभर सकेगा । अन्यथा काले वस्त्रों को धारण करने वाला अभिनेता इस दृश्य में ही डूब जायगा । दृश्य को अधिकाधिक उभारना भी समूहीकरण के अन्तर्गत आता है । इसी प्रकार प्रकाश व्यवस्था, संगीत व्यवस्था, पार्श्व संगीत-योजना तथा दृश्यपटों की उपयुक्तता भी रंगमंच की विधा के आवश्यक अंग हैं । इनपर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है ।

७- प्रकाश व्यवस्था -- नाट्य मंचन में दिन का कोई भी समय दिखलाने के लिए प्रकाश व्यवस्था भी आवश्यक होती है । सूर्य के प्रकाश में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर पाना सम्भव नहीं है । "जयद्रथ" नाटक में सूर्य की स्थिति लीजिए जो अस्त न होने पर भी अस्त कहा जाता है । अस्तप्राय हुआ सूर्य फिर कृष्ण के संकेत पर उदय हो जाता है । इस दृश्य के लिए मंच पर प्रकाश की उचित व्यवस्था आवश्यक है । इस प्रकार स्पष्ट है कि दृश्य सज्जा के लिए प्रकाश व्यवस्था रंगमंच की विधा का आवश्यक अंग है ।

प्रकाश किरणें मंच पर केवल दृश्य को ही नहीं, उभारती बल्कि अभिनेताओं के व्यक्तित्व को भी निखारने में सहायक होती हैं । प्रकाश व्यवस्था का दायित्व दृश्य और उसके उपादानों को अधिकाधिक उभारने में है । नाटकीय सम्वेदना को सम्प्रेषित करने के लिए मंच पर प्रकाश व्यवस्था का नियोजन तीन विशिष्ट दृष्टियों से किया जाता है:-

१- समय का संकेत करने के लिए ।

२- वेशभूषा को अधिक नयनाभिराम बनाने के लिए ।

३- मुख मुद्राओं को दर्शकों की दृष्टि में अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए ।

इसके अतिरिक्त सूचना अथवा विशिष्ट स्थितियों के लिए पार्श्वदीप, तलदीप अथवा पदादीप, स्थलप्रकाश,छायादीप एवं शिखा दीपों के द्वारा भी प्रकाश की सहायता ली जाती है। इन सभी दीपों पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इनका प्रयोग दृश्य में उचित मात्रा में ही होना अपेक्षित है जिससे रंगमंच की विधा का स्वरूप अधिकाधिक प्रभावशाली हो सके।

८- संगीत व्यवस्था -- रंगमंच की विधा के अन्तर्गत संगीत व्यवस्था से अभिप्राय नाटक में प्रयुक्त गीतों से है। गीतों से नाटकीय चरित्र का स्वभाव प्रकट होता है, साथ ही कथावस्तु का उद्घाटन भी। नाटकीय सम्वेदना को सम्प्रेषित करने में गीत विशेषरूप से सहायक होते हैं। इन दोनों प्रकारों से भिन्न संगीत नाटक में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला होगा। अत: नाटक में संगीत व्यवस्था में सावधानी अपेक्षित है। हृदय में प्रसन्नता की बाढ़ जब आवश्यकता से अधिक आ जाती है तो वह गीत के रूप में बाहर फूट पड़ती है। दु:ख की अधिकता में जो गीत गाये जाते हैं वे केवल रस-निष्पत्ति अथवा वातावरण के निर्माण के लिए ही होते हैं। अत: संगीत व्यवस्था नाटकीय वातावरण में चन्द्र-किरणों के समान होती है, जो दर्शकों के हृदय में व्याप्त आकांक्षा की श्याम रजनी को भी दूर करती है तथा अभिनेताओं के कण्ठों में प्रात:कालीन विहग-कूजन के मधुर राग का संचरण करने में भी समर्थ होती हैं।

९- <u>पार्श्व संगीत योजना</u> -- नाटकीय वातावरण में सरसता घोलकर उसे अधिकाधिक सम्प्रेषित करने में पार्श्व संगीत का विशेष हाथ है। किसी भावना की चरम सीमा तक की अनुभूति इसके द्वारा सहज ही सम्भव हो जाती है। वातावरण को तथा स्थिति को अधिकाधिक मुखर करना भी पार्श्व संगीत का दायित्व है। डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी `दीपदान` में बनवीर कुंवर का वध करने बढ़ता है। बनवीर की भावभंगिमा के साथ ही पार्श्व संगीत क्रूर वातावरण का निर्माण करता चलता है। संगीत की हर लहर पर दर्शकों का हृदय आन्दोलित होता जाता है। कुंवर के बिस्तर पर लेटे धायमाँ के पुत्र चन्दन पर जैसे ही बनवीर का प्रहार होता है `फक्` से संगीत टूटता है और दर्शक समूह शोक-सागर में डूब जाता है। पार्श्व संगीत के अभाव में प्रभावान्विति की यह गम्भीरता किसी प्रकार भी सम्भव न होती।

इसके अतिरिक्त नाटक में मोड़ उपस्थित करने के लिए भी पार्श्व संगीत का उपयोग किया जाता है। पार्श्व संगीत नाटक में ही नहीं, पात्र के स्वभाव में भी मोड़ उपस्थित करता है। इस प्रकार रंगमंच पर अनेक प्रकार के परिवर्तनों के लिए पार्श्व संगीत की आवश्यकता होती है।

१०- <u>दृश्यपटों की उपयुक्तता</u> -- अनेक महत्वपूर्ण दृष्टियों से रंगमंच पर दृश्यपटों का उपयोग अपना विशेष महत्व रखता है। स्थूल रूप से दृश्यपटों का प्रयोग, समय, स्थान तथा वातावरण को स्पष्ट करने के हेतु किया जाता है। सूर्य के आगमन से पूर्व ऊषा का आभास दर्शकों को दृश्यपट पर चित्रित लालिमा द्वारा अथवा दृश्यपट पर चित्रित कलरव उड़ती हुई चिड़ियों द्वारा कराया जाता था। इसी प्रकार मरुस्थल, झोपड़ी तथा पर्वतादि प्राकृतिक व्यापारों का आभास भी दृश्यपट पर चित्रित हुए चित्रों द्वारा ही कराया जाता था। देश तथा काल का वातावरण प्रस्तुत करने में दृश्य-पटों का विशेष महत्व था।

आज का रंगमंच अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ हो गया है। दृश्यपटों का प्रयोग अब देश तथा काल का आभास कराने के लिए नहीं किया जाता। अब दो दृश्यों को क्रमश: बिना व्यवधान के प्रदर्शित करने के लिए दृश्य-पट का प्रयोग होता है। जिस दृश्य का प्रदर्शन होता है, उसके आगे का दृश्य दृश्यपट के पीछे सजाकर रखा जाता है। इस प्रकार दृश्यपट की महत्ता आज भी कम नहीं है। नाटक की घटित घटनाओं की पुनरावृत्ति -पूर्व प्रसंग अथवा अभिनेताओं के मानसिक उद्वेलन को भी दृश्यपट पर छाया द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अत: दृश्य-पट का महत्व रंगमंच की विधा में सदैव अपेक्षित है और मेरी दृष्टि से भविष्य में भी रहेगा।

इस भांति यह स्पष्ट है कि नाटक की सफलता के लिए दृश्य-विधान तथा रंगमंच की विधा दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों पक्ष नाटकरूपी पक्षी के पंख हैं जिनके सहारे वह मानव के भाव संसार की परिधि तक पहुंच सकता है। ये दोनों तत्व नाट्य कक्ष के दो वातायन हैं, जिनसे होकर बाहरी प्रकाश आता है जो कक्ष के भीतरी भाग को प्रकाशित कर देता है। यदि उपर्युक्त वातायन उपयुक्त न होगा तो प्रकाश के अभाव में नाटक का भविष्य अन्धकारमय हो रहेगा।

-o-

(ग) हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा (१९२०ई०से पूर्व)

भारतीय रंगमंच की परम्परा प्राचीन तथा प्रांजल है। संस्कृत साहित्य के विशाल वाङ्मय में नाटकों का विशेष महत्व रहा है। नाटकों के अभिनय की परम्परा भी संस्कृत साहित्य में बहुत प्रशस्त है। हिन्दी नाटकों की आधुनिक स्थिति से पूर्व जो प्रभाव वर्तमान थे,उन्हें डा० रामकुमार वर्मा ने निम्न श्रेणियों में रखा है --

क- परम्परागत क्रमक्रम -- संस्कृत के नाटक

ख- स्थानीय परम्पराओं का प्रभाव-- लोकनाट्य

ग- विदेशी नाट्य शैली का प्रभाव --अंग्रेजी तथा बंगला के नाटक।

घ- व्यावसायिक रंगमंच तथा इन्दरसभा का प्रभाव -- प्रतिक्रियात्मक रूप में।

हिन्दी नाटकों की परम्परा ज्ञात करने के लिए हम उपर्युक्त श्रेणियों का अध्ययन प्रस्तुत करना आवश्यक है। १९२०ई० तक हिन्दी नाट्य परम्परा में भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग के नाटकों का अध्ययन करना भी अपेक्षित है। उपर्युक्त समस्त श्रेणियों का अध्ययन करने से हिन्दी नाटकों की १९२० ई० तक की परम्परा स्पष्ट हो जाती है। अतः इन श्रेणियों की विस्तृत जानकारी आवश्यक है।

क- परम्परागत क्राव क्रम-संस्कृत के नाटक

संस्कृत नाट्य साहित्य की परम्परा बहुत समृद्धशाली रही है। उसका हिन्दी नाट्य साहित्य पर सीधा प्रभाव तो पड़ा ही है। संस्कृत नाटकों की छाया में ऐसे नये तत्कालीन ब्रजभाषा के नाटक भी संस्कृत की क्रमोन्मुखी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे नाटकों की

संख्या चालीस के आस पास है । इनमें रामायण, 'महानाटक' जिसे प्राणचन्द्र चौहान ने लिखा, 'करुणाभरण नाटक' जिसके रचयिता कृष्णजीवन लछीराम है, आनन्द रघुनन्दन नाटक जिसके लेखक रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ जी तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक जिसके रचयिता महाराज रघुराज सिंह प्रमुख हैं । इनके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों के अनेक अनुवाद भी किये गये हैं, जो महत्वपूर्ण हैं । ये सभी नाटक काव्यबद्ध वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं । इन्हें संस्कृत के नाटकों की तरह नाटक नहीं माना जा सकता । इन नाटकों में संस्कृत नाटकों के परम्परागत नाट्यशिल्प का संकेत मात्र है । शिल्प की दृष्टि से अपूर्ण होने पर भी इनका अपना जन-रुचि का लक्ष्य अवश्य है ।

इस आरम्भिक हिन्दी नाट्य-परम्परा से हिन्दी नाटकों के विकास में कोई स्पष्ट योगदान तो प्राप्त नहीं होता । हिन्दी-नाटकों की प्रारम्भिक अवस्था के लेखकों का ध्यान संस्कृत नाट्य परम्परा की ओर अवश्य आकृष्ट होता है । इस संस्कृत नाट्य शिल्प से प्रभावित हिन्दी नाट्य शिल्प के साथ स्थानीय परम्पराओं का भी योग हुआ, जिससे हिन्दी नाटकों की रचना हो सकी ।

ख- स्थानीय परम्पराओं का प्रभाव

लोकनाट्य : विषय की दृष्टि से लोक नाटकों को दो भागों में बांटा जा सकता है :-

क- धार्मिक भावना प्रधान नाटक ।

ख- लौकिक अथवा शुद्ध मनोरंजन प्रधान नाटक ।

हिन्दी के सम्पूर्ण क्षेत्र में इन नाटकों का मंचन व्यवसायी तथा शौकिया नाट्य-मण्डलियों द्वारा होता रहा । धार्मिक भावना प्रधान लोक-नाटकों की परम्परा में रासलीला तथा रामलीला का विशेष महत्व है । इनके रंगमंच पर प्रकाश डालने से पूर्व चन्द्रवर्ती शताब्दी के उत्तर धार्मिक रंगमंच पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है --

पन्द्रहवीं शताब्दी का धार्मिक रंगमंच

यह रंगमंच आकर्षक है। इसपर दृश्यपटों का प्रयोग किया जाता था, जब कि योरोप के पन्द्रहवीं शताब्दी के एलिजाबेथन रंगमंच पर दृश्यपटों की विविधता का अभाव था। महाप्रभु शंकरदेव के एक शिष्य रामचरण ठाकुर ने "शंकर चरित" पुस्तक के १६१ पृष्ठ पर शंकरदेव द्वारा अभिनीत एक नाटक का उल्लेख किया है --

"शंकरदेव ने एक सन्यासी से कला सीखी। उन्होंने नाटक मंचन हेतु स्वयं चित्रपटों का निर्माण किया। वैकुंठ के प्रत्येक दृश्य-निर्माण में सरोवर, नागशैया, कल्पतरु एवं अन्य स्वर्गीय पदार्थों को वैष्णव ग्रन्थों के अनुसार चित्रण किया। तदुपरान्त उन्होंने संगीत(वादन) सहायक(गायक) एवं अभिनेता(नटुक) का चयन किया और चेहरा(मुख) तथा अन्य अभिनय-उपयोगी वस्तुओं को एकत्रित किया। तत्पश्चात् रंगमंच निर्मित हुआ और वहाँ प्रकाश की व्यवस्था हुई। तदुपरान्त "चिन्हयात्रा" नाटक अभिनीत हुआ, जिसमें शंकरदेव जी स्वयं एक अभिनेता बने।"[१]

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी का धार्मिक रंगमंच हमारे देश में विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा था। उस समय के मंच के दो रूप प्राप्त होते हैं --

अ- स्थायी रंगमंच।

आ- खुला रंगमंच।

अ- स्थायी रंगमंच -- इस प्रकार के रंगमंच नामघरों में पाये जाते थे। इनपर वैष्णव-भक्त अभिनय करते थे। इन अन्य रंगमंचों में दर्शकों के बैठने की व्यवस्था से लेकर मंच पर अभिनेताओं के खड़े होने के स्थान तथा प्रकाश व्यवस्था इत्यादि सभी का स्थायी प्रबन्ध था।

१- डा० दशरथ ओझा :"नाट्य समीक्षा", पृ० १००

आ- खुला रंगमंच -- इस प्रकार के रंगमंच स्थायी भवन के सामने खुले आसमान के नीचे निर्मित होते थे। मैदान में एक चंदोवा लगाया जाता था। इसमें दो भागों में बंटकर दर्शक बैठते थे। दोनों भागों के बीच का छूटा हुआ भाग मार्ग के रूप में प्रयुक्त होता था। मंच पर एक उच्च स्थान पर लीलाधारी कृष्ण की मूर्ति रखी जाती थी। इसी के पास मंच पर साज-सज्जा वाले बैठते थे। इनके पीछे चित्रित यवनिका रहती थी तथा इसके थोड़ी दूर पर नेपथ्यगृह रहता था। यहाँ न केवल पात्रप्रसाधन सामग्री रहती थी, बल्कि अन्य सभी प्रकार की नाट्योपयोगी वस्तुएं भी रहती थीं। मंच के पास मार्ग के दोनों ओर गलीचे एवं कम्बल बिछाकर साधु-सन्यासी लोग बैठते थे तथा इसके पीछे मार्ग के एक ओर चटाइयां बिछाकर पुरुष तथा दूसरी ओर स्त्रियां बैठती थीं।

इन रंगमंचों पर रात के भोजन के पश्चात् नाटक प्रारम्भ होते थे और सम्पूर्ण रात खेले जाते थे। अतः इनके लिए प्रकाश व्यवस्था आवश्यक थी। स्थायी तथा खुले दोनों प्रकार के रंगमंचों पर निम्न प्रकार की प्रकाश व्यवस्था थी --

प्रकाश व्यवस्था

विद्युत के अभाव में उस समय फानूसों में मोमबत्तियां जलायी जाती थीं, अथवा मिट्टी के दीपकों में सरसों का तेल भरकर जलाया जाता था। कभी-कभी चकाचौंध दृश्य उपस्थित करने के लिए केले के खम्भों पर बड़े-बड़े दीपकों में बिनौले भरकर जलाये जाते थे। बहुत बार मशालों का प्रयोग भी किया जाता था। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की प्रकाश-व्यवस्था में सम्पूर्ण-रात्रि नाटक खेले जाते थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के रंगमंच पर किस प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता था तथा पूर्व रंगादि नियम क्या थे। इसका परिचय निम्न प्रकार से है :--

वेशभूषा तथा अन्य सामग्री

विभिन्न प्रकार के पात्रों के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था । धार्मिक पुरुष यक्ष, देवता, किन्नर तथा स्त्रियों के लिए शुद्ध वस्त्रों का प्रयोग होता था । मध्य, विक्षिप्त तथा विरक्त पात्र चीथड़ों का प्रयोग करते थे । योद्धा, प्रेमी, राजा अथवा मन्त्री की भूमिका निभाने वाले पात्र चटकीले वस्त्र धारण करते थे । इसी प्रकार रथ, हाथी तथा घोड़ों के लिए हल्के सामानों से निर्मित नकली प्रतिमान प्रस्तुत किये जाते थे । भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रसाधनों का प्रयोग होता था । स्त्री पात्रों के लिए कस्की---मूंछ-का-रखना केशविन्यास उतना ही आवश्यक था , जितना पुरुष-पात्रों के लिए दाढ़ी-मूंछ का रखना । इसी प्रकार दैत्य, पिशाचादि के वर्ण काले ही दिखाये जाते थे । गणेश, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की पहचान भी वस्त्र भूषा द्वारा ही करायी जाती थी । पशु-पक्षियों की भूमिका में अपेक्षित मुखौटा धारण कर अभिनेता ही मंच पर अभिनय करते थे । ताल, तड़िया तथा हल्की लकड़ी द्वारा मंच-सामग्री का निर्माण किया जाता था ।

पूर्वरंगादिनियम

संस्कृत नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वरंगादि नियमों का भी पालन यहां होता था । वाण्डव, सूत्रधार, ध्वजारोहण, विघ्नविनाशक की स्तुति, नान्दी पाठ तथा गुरुमहिमा के बाद ही अन्य पात्र मंच पर आते थे । इनका अन्त भी संस्कृत नाटकों के समान सुखान्त ही रहता था ।

(क) धार्मिक भावना प्रधान लोक-नाटक

कृष्णलीला मंच

कृष्ण का सारा जीवन ही एक नाटक है और ब्रज, मथुरा से लेकर हस्तिनापुर तक की सम्पूर्ण भूमि रंगमंच है। गोचारण, यमुना-विहार एवं पनघट पर गोपियों की छेड़-छाड़ से लेकर कुंज में मुरली-वादन एवं गोवर्धन-पूजा आदि सभी व्यापार नाटकीय वस्तु के लिए जीते-जागते चित्र हैं। गोप-गोपिकाओं का कार्य-व्यापार ही अभिनेताओं का कार्यव्यापार है। कृष्ण लीला से सम्बन्धित तीन प्रकार के रंगमंच प्राप्त होते हैं --

१- लीला

२- छद्म

३- रास नृत्य

१- लीला -- इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर कंस वध तक की मुख्य-मुख्य घटनाओं को लीलामय ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। यह रासनृत्य से प्रारम्भ होती है। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित किसी घटना को नृत्य,गान तथा अभिनयात्मक रूप में मंचित करना ही लीला है।

२- छद्म -- इसमें अनेक रूप धारण कर कृष्ण छिपकर गोपियों के घर जाते हैं तथा वहां अनेक लीलाएं करते हैं। इन छद्म व्यापारों से ईश्वर को प्रकट रूप से लीला करते हुए माना जाता है।

३- रासनृत्य -- प्रत्येक लीला अथवा छद्म के प्रारम्भ में कृष्ण तथा राधा का नृत्य संगीत के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इसके द्वारा यह स्पष्ट माना जाता है कि परब्रह्म परमात्मा अथवा महापुरुष विश्व में आत्माओं के साथ लीला-विहार कर रहा है।

रामलीला मंच

रामलीला का उद्भव-काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। राम के जीवन से सम्बन्धित नाटकों का अभिनय प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में ही नहीं, जावा तथा लंका आदि देशों में भी होता रहा है। महाकवि भवभूति ने सातवीं शती के लगभग संस्कृत में "महावीर चरित" तथा "उत्तररामचरित" जैसे नाटकों की रचना की। भवभूति के नाटकों का दृश्य-विधान बहुत विस्तृत है। जंगल, झरने तथा पर्वतादि के भी दृश्य उन्होंने रखे हैं। नाटकों की शैली गेय है। इनका अभिनय उज्जैन में भगवान कालेश्वर के मंदिर में हुआ था। दसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राजशेखर ने "बाल रामायण" नाटक लिखा। इस नाटक का अभिनय कान्यकुब्जेश्वर महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की आज्ञा से हुआ था। इस प्रकार रामलीला मंच भी कृष्ण-लीला मंच के समकक्ष है। इसका मंच निम्न प्रकार बनता है --

मंच-निर्माण

रामलीला का मंच सरल होता है। किसी मन्दिर या किसी स्थान पर अट्ठारह-बीस हाथ लम्बी तथा चौदह-पन्द्रह हाथ चौड़ी ज़मीन पर तख्त डालकर दृश्य-पट सजाकर अभिनय किया जाता है। ग्रन्थों में वर्णित वस्त्रों के अनुसार वेश भूषा धारण कर पाँच-सात अभिनेता मंच के तीन ओर से दर्शकों से घिरकर अभिनय प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह रासलीला की भाँति जनमंच है, जो हमारे जीवन की आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालता है।

स- लौकिक अथवा शुद्ध मनोरंजन प्रधान नाटक

लोक जीवन में विशुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से लोक प्रणालियों में नौटंकी सर्वाधिक प्रमुख विधा है । नौटंकी, स्वांग, संगीत तथा भगत सभी लगभग मिलते-जुलते लोक-नाटक हैं । इनमें स्थानीय परम्पराओं से ही भेद है । स्वांग इन सभी में प्राचीन विधा है । इसका उल्लेख नवीं शताब्दी में भी प्राप्त है । स्वांग अथवा भगत भाँड़ तथा नक़्क़ाली की अपेक्षा अधिक स्वस्थ स्तर के मनोरंजन हैं ।

नौटंकी इन सभी में अधिक व्यवस्थित है । कुछ समय पूर्व नौटंकी के मंच की उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में बड़ी धूम थी । अब इसका प्रभाव कम होता जा रहा है । इसमें पर्दों का प्रयोग आकर्षक होता है तथा स्त्रियों के स्थान पर नवयुवक किशोर लड़के नृत्य करते हैं । बाजों में नगाड़ों से काम लिया जाता है । इन लोकनाट्य प्रणालियों का विस्तृत अध्ययन अध्याय चार में प्रस्तुत किया जायगा । यहाँ इनका परिचय मात्र दिया गया है ।

इन लोक नाट्य प्रणालियों का हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय व्यवस्था तथा अभिनय-परम्परा पर विशेष प्रभाव रहा है । हिन्दी नाटकों का आन्तरिक पक्ष इन लोक नाटकों से ही अधिक प्रभावित है, भले ही उसका बाह्य पक्ष पाश्चात्य नाट्य प्रणाली द्वारा क्रमशः विकसित हुआ हो । इस प्रकार लोकनाट्यमंच का हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा में योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

विदेशी नाट्य शैली का प्रभाव

हिन्दी की सुसम्बद्ध नाट्य-परम्परा के सूत्रपात तथा विकास में विदेशी नाट्य-परम्परा का योगदान भी रहा है । भारतेन्दु जी की नाट्य-रचना की मूल प्रेरणा का एक स्तर पाश्चात्य नाट्य सम्बन्धी था । पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी नाटकों पर दो रूपों में परिलक्षित होता है —

क- विचारधारा के रूप में ।

विचारधारा के प्रभाव से हिन्दी नाटकों में पश्चिम की बौद्धिकता तथा गम्भीरता का समावेश हुआ तथा शिल्प के प्रभाव से संस्कृत नाट्य शास्त्रीय मान्यताओं में क्रान्ति उपस्थित हुई । इस प्रकार भारतेन्दु-काल को पुरानी तथा नयी मान्यताओं का संक्रान्ति काल माना जा सकता है । इससे हिन्दी नाटकों में संस्कृत नाट्य शास्त्र की जटिलता के स्थान पर पाश्चात्य शैली की स्वच्छन्दता नाटककारों द्वारा अपनायी गई और पाश्चात्य यथार्थवादी शैली का अनुसरण किया गया ।

बंगला नाटकों का प्रभाव

बंगाल का रंगमंच हिन्दी के पहले से ही समृद्ध रहा है । पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव भारत में सर्वप्रथम बंगाल नाटकों पर पड़ा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब प्रथम बार बंगाल गये तो उन्होंने वहां के नाटकों से परिचय प्राप्त किया । उन नाटकों की शैली तथा शिल्प से प्रभावित होकर उन्होंने बंगला के 'विद्या सुन्दर' का अनुवाद किया तथा "नील देवी" "भारतदुर्दशा" तथा 'भारत जननी' आदि नाटकों की रचना की । इन नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव भी है । इस प्रकार हिन्दी पर पाश्चात्य नाट्यशिल्प का प्रभाव बंगला नाटकों के माध्यम से ही आया हुआ ज्ञात होता है । संस्कृत नाटकों में सर्वथा अपरिचित दुःखान्त नाटक भी हिन्दी में क्रमशः लिखे जाने लगे ।

ख- व्यावसायिक रंगमंच : प्रतिक्रिया रूप में

हिन्दी नाटकों की प्रारम्भिक अवस्था में पारसी रंगमंच की स्थिति भी महत्वपूर्ण थी । हिन्दी के प्रारम्भिक नाटकों की स्थिति पर इस व्यावसायिक रंगमंच की प्रतिक्रिया अवश्य हुई । यह रंगमंच साहित्यिक सुरुचि के नाटकों की अवहेलना करता आ रहा । पारसी थियेट्रिकल कंपनियों का इतिहास ही व्यावसायिक रंगमंच का इतिहास है । सर्वप्रथम १८२७ ई० में पिस्तन जी फ्राम जी ने "ओरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी खोली । इसमें खुर्शेद जी बालीवाला,सोराब जी ओगरा,दोराब तथा जहांगीर आदि अभिनेता काम

करते थे । इसके द्वारा अनेक वर्षों में अनेक नाटक खेले गये । सं०१९३४ में दिल्ली में विक्टोरिया कम्पनी खोली गई । बल्लीवाला इसके प्रसिद्ध अभिनेता थे । रुस्तम जी, मिस खुरशेद, मिस मेहताब, मिस मेरीफिन्टन आदि अभिनेत्रियाँ भी इस कम्पनी में कार्य करती थीं । इस कम्पनी की सफलता देखकर काऊस जी खटाऊ ने "अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी" खोली । मैहर खाँ, गुलजार खाँ, माधोराम, मास्टर मोहन, मिस गौहरा तथा मिस गौहर आदि अभिनेत्रियाँ इस कम्पनी में कार्य करती थीं । इसके लिए पं० नारायणप्रसाद बेताब नाटक लिखते थे । इन्होंने उर्दू गजलों के स्थान पर नाटकों में हिन्दी गीतों का प्रयोग किया । इन्होंने एक सच्ची घटना पर "कत्ले नज़ीर" नाटक लिखा । इस कम्पनी के दूसरे नाटककार आगाहश्र थे । इन्हें "हिन्दुस्तानी मार ली" की उपाधि दी गयी । यह अधिकतर रोमांचकारी घटनाओं पर नाटक लिखते थे । कथानक वैचित्र्य पर ही अधिक ध्यान रखने से इन कम्पनियों के नाटक लोकरुचि के अधिक थे । इनमें गज़लों तथा कुरुचिपूर्ण गानों का प्रयोग होता रहा । जनरुचि को उथला बनाने में इन कम्पनियों का बड़ा हाथ था । इसके अतिरिक्त नाटक का एक रूप और भी विकसित हुआ । यह अपने शिल्प में पाश्चात्य और भारतीय रंगमंच का मिश्रित रूप था । इसका विकास नवाब वाजिदअली शाह के की रुचि के अनुसार लखनऊ में हुआ । नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में कुछ फ्रांसीसी लोग रहते थे । इन्होंने नवाब साहब को पश्चिमी "ओपेरा" से परिचित कराया । मुंशी अमानत खाँ ने इसी आधार पर हिन्दी में "इन्दरसभा" नृत्यगीत नाटिका की रचना की । इसके पात्र स्वयं मंच पर आकर अपना परिचय देते हैं । नाटक के दो तिहाई भाग में गाने ही गाने रखे गये हैं । इसकी सफलता देखकर अनेक इन्दरसभाओं की रचना की गयी तथा नाटक में संगीत और नृत्य की व्यवस्था विशेष रूप से हुई ।

इन उपर्युक्त प्रणालियों के अतिरिक्त भारतेन्दु से पूर्व संस्कृत एवं ब्रज नाटक परम्परा से प्रभावित अनेक नाटक रचे गये । जिनमें आनन्द रघुनन्दन तथा नहुष प्रमुख हैं । ये नाटक हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक माने गये हैं ।

आनन्दरघुनन्दन नाटक

रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने संस्कृत नाट्यशैली का पूर्णतया प्रयोग करते हुए गद्य तथा पद्य की मिश्रित शैली में इस नाटक की रचना की । महाराज का शासन-काल सन् १८२१ से सन् १८५४ ई० तक था । इसलिए यही काल इस नाटक के रचना का है । नाटक में सात अंक हैं । प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं । दृश्य-परिवर्तन का प्रणाली 'सर्वनिष्क्रान्त' जैसा संस्कृत की परम्परानुगत है । इसमें शान्तरस प्रधान है तथा अन्य रसों-- वीर,शृंगार तथा करुण आदि का भी समावेश किया गया है । कुछ स्थानों पर हास्य रस का भी प्रयोग है । विदूषक,नान्दी,विष्कम्भक तथा भरतवाक्य का भी समावेश किया गया है । नाटक में पात्रों की बहुलता है । रामकथा पर आधारित होते हुए भी यह नाटक प्रतीक रूप में किसी अवान्तर दार्शनिक उद्देश्य की भी पूर्ति करता है । असत् पर सत् की विजय तथा लोकहित और लोकचिंतन की प्रेरणा के रूप में इस नाटक का अन्त होता है ।

आध्यात्मिक प्रभाव के साथ ही इस नाटक में तत्कालीन दृष्टि से काव्यशास्त्र की सामग्री का भी समावेश हुआ है ।

नहुष नाटक

यह नाटक भारतेन्दु के पिता गिरधरदास(गोपालचन्द्र) द्वारा लिखित है । भारतेन्दु जी इसे हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं, 'आनन्द रघुनन्दन' की अपेक्षा इसकी शैली तथा शिल्प अधिक समृद्ध है । १८४१ ई० में इस नाटक की रचना की गयी । इसका प्रथम अंक ही प्राप्य है । नाटक में पद्य का ही प्रयोग विशेषरूप से है । गद्य का छुट-पुट प्रयोग साधारण बोल चाल की भाषा में किया गया है ।

इस नाटक की कथा महाभारत के उद्योग पर्व से ली गयी है । इन्द्र को ब्रह्महत्या लगती है तथा वे सिंहासन-च्युत हो जाते हैं । इन्द्रासन पर नहुष बिठाया जाता है । नहुष इन्द्रासन पाकर इन्द्राणी को

भी प्राप्त करना चाहता है । इस अभियान में वह ऋषियों द्वारा शापित होता है । इसी बीच इन्द्र शापमुक्त होकर वापस आते हैं तथा अपना आसन ग्रहण करते हैं ।

नाटक में पुरानी शैली का प्रयोग हुआ है । प्रत्येक पात्र के प्रवेश करने पर पद्य में उसका अलग से परिचय दिया गया है । नांदी, प्रस्तावना तथा अंकविभाजन आदि सभी 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक की ही भाँति है ।

मध्यकालीन इन नाटकों की शैली विवादास्पद है । उपर्युक्त दो नाटकों को छोड़कर शेष सभी नाटक प्रबन्ध काव्य प्रतीत होते हैं । कुछ विद्वानों ने इन नाटकों को नाटकीयकाव्य माना । पर इन नाटकों की रचना जिस युग में हुई थी उस युग में हिन्दी के समक्ष रासलीला तथा रामलीला के ही रंगमंच थे । अतः उस काल में सुगठित नाटक लिखना सम्भव नहीं था । । इन नाटकों के रचयिता अपनी इन कृतियों को नाटक कहते हैं । उन्होंने नाटक की रचना के लिए ही इनका प्रणयन किया । इन नाटकों में बीच-बीच में अभिनय संकेतों को भी रखा गया है । अतः स्पष्ट होता है कि इन नाटकों का मंचन भी होता होगा । इस मध्यकालीन नाट्य परम्परा के पश्चात् हिन्दी -नाटकों का प्रबल उत्थान भारतेन्दुयुगीन रंगमंच में होता है । भारतेन्दु जी हिन्दी के नाटकों के जन्मदाता हैं । हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा उनकी सदैव ऋणी रहेगी । भारतेन्दु के रंगमंच का इस विकास की दृष्टि से देख लेना आवश्यक है ।

<u>भारतेन्दु रंगमंच</u>

अंग्रेजी रंगमंच की विधा को बंगला रंगमंच के माध्यम से हिन्दी में लाने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही है । उन्होंने संस्कृत रंगमंच के आधारस्वरूप अपने रंगमंच में स्थान दिया । जहाँ उन्होंने संस्कृत रंगमंच के अनुरूप नान्दीपाठ,भरतवाक्य,प्रस्तावना,नट-नटी और सूत्रधार का प्रयोग अपने नाटकों में किया तथा रस को प्रमुख स्थान दिया, वहां उन्होंने

पाश्चात्य रंगमंच की दु:खान्त पद्धति का भी अनुसरण किया । उनके रंगमंच में यथार्थवादिता, जन-सामयिकता तथा राष्ट्रीयता की भावना प्रधान थी । उनके द्वारा ही पारसी कम्पनियों के हाथों का तोड़कर हिन्दी रंगमंच को नाट्य जीवन प्राप्त हुआ ।

वह युग प्रवर्तक थे । उनके द्वारा चलायी गयी परम्परा आज भी स्मरणीय है । उनके मण्डल में अनेक लेखक थे, जिनमें प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास , अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, मोहनलाल-विष्णुलाल पन्ड्या तथा के०पी० शर्मा प्रमुख थे । इनमें से अधिकांश लेखक केवल नाटकादि ही नहीं, लिखते थे, वरन् अभिनय भी करते थे । भारतेन्दु रंगमंच के कलाकारों के रूप में इन सभी का नाम उल्लेखनीय है । इन सभी के प्रयास से 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'प्रेमयोगिनी' 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों का अनेकबार मंचन हुआ । भारतेन्दु भी नाटक का अभिनेय होना आवश्यक मानते थे । उन्होंने 'प्रेमयोगिनी', 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों का अनेकबार मंचन हुआ । भारतेन्दु भी नाटक का अभिनेय होना आवश्यक मानते थे । उन्होंने 'प्रेमयोगिनी' की भूमिका में लिखा है—'परन्तु मित्र वर्गों से काम न चलेगा, जो यह हिन्दी भाषा में नाटक खेलने आये हैं, उन्हें कोई खेल दिखावो ।'[1]

भारतेन्दु मंच सभी तत्कालीन शैलियों का सम्मिश्रण था । उन्होंने यदि पारसी कम्पनियों का परिष्करण कर 'सत्यहरिश्चन्द्र' लिखा, रासलीला पर 'चन्द्रावली नाटिका' तो आपेरा का परिष्करण कर 'नीलदेवी' की रचना की ।

---

१ कुंवरचन्द्रप्रकाश सिंह : 'मध्ययुगीन हिन्दी नाट्य परम्परा तथा भारतेन्दु' पृ० १०६ ।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु का रंगमंच सादा था । इसे थोड़े से प्रयास में कहीं भी सजाया जा सकता था । उसके दृश्य पर्दों पर अंकित रहते थे तथा अभिनेता केवल पुरुष ही थे । ~~स्त्रियों का अभिनय क भी केवल पुरुष ही थे~~ । स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे । उन्होंने प्राचीनता के साथ नवीनता का सम्मिश्रण किया । रस को उन्होंने पूर्णतया अपनाया । द्वन्द्व तथा चिन्तन की बौद्धिकता में वह सीमित नहीं रह सके । उन्होंने पाश्चात्य नाटक के कुतूहल तत्व को भी अपनाया । उन्होंने 'विद्या सुन्दर' नाटक में सुन्दर को सहसा सुरंग द्वारा प्रकट कराके विद्या तथा उसकी सखियों से हास्य विनोद कराया है । इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी नाटकीयता को उभारने के लिए उन्होंने आकस्मिकता स्वीकार की । इस भाँति भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य विधाएँ जो सर्वथा भिन्न थीं, उनके रंगमंच पर एक हो गयीं । उन्होंने 'प्राचीन' तथा 'नवीन' का आकर्षक संयोग प्रस्तुत किया है—
" इस प्रकार उन्होंने एक ओर तो तत्कालीन विभिन्न रंगमंचीय पद्धतियों का एक नवीन रंगमंच में एकीकरण किया तथा दूसरी ओर इस नवनिर्मित रंगमंच में सरलता एवं सुन्दरता का विधान करके परम्परागत भारतीय नाटक की सार्वभौमिकता तथा सार्वजनिकता की लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया[1] ।"

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाटक साहित्य तथा हिन्दी रंगमंच दोनों की समृद्धि की । इस समय काशी तथा इलाहाबाद में जिन नाट्य मण्डलियों की स्थापना हुई, उनके प्रस्तुतकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे । इसीलिए हिन्दी नाट्य परम्परा में उनका नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । १९२० ई० से पूर्व की हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा का समापन इस युग की मंचीय गतिविधियों के अध्ययन के से ही पूरा होता है । हिन्दी नाटकों का द्वितीय उत्थान पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में हुआ । अतः इस युगीन हिन्दी नाट्य-परम्परा पर भी विचार करना अपेक्षित है ।

---

१ कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह-भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा तथा भारतेन्दु- पृ०११७ ।

द्विवेदीयुगीन मंच

द्विवेदी युग में हिन्दी नाटकों का विशेष उत्कर्ष नहीं दिखलायी पड़ता । इस युग में नाटक की पुरानी धारा ही क्षीण होकर प्रवाहित रही । बहुत कम लेखकों ने इस युग में मौलिक नाटक की रचना की । इस काल में अंग्रेजी बंगला तथा संस्कृत से हिन्दी में नाटकों के अनुवाद ही अधिक किये गये । इस भाँति द्विवेदी युग के नाटकों की दो धाराएं हैं—

१- मौलिक नाटक ।

२- अनुदित नाटक ।

१- मौलिक नाटक — मौलिक नाटकों में कुछ साहित्यिक प्रवृत्ति के हैं तथा अन्य सस्ती पारसी रंगमंचीय प्रभाव से युक्त हैं । मौलिक साहित्यिक नाटकों में ऐतिहासिक,पौराणिक, सामाजिक तथा व्यंग्य प्रधान नाटक लिखे गये । ऐतिहासिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का "शिवाजी" ,बदरीनाथ भट्ट का "चन्द्रगुप्त" , जगन्नाथ मिलिन्द का "प्रताप प्रतिज्ञा" ,पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" का "महात्माईसा" प्रसिद्ध हैं । इनमें से कुछ नाटकों का मंचन भी किया गया। पौराणिक नाटकों में महाभारत पर आधारित माधवशुक्ल का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' ,राम की कथा पर आधारित प्रबन्ध वल्लभ का "रामलीला" तथा रामनारायण मिश्र का "जनकबाड़ा" उल्लेखनीय है । कृष्ण की कथा से सम्बद्ध नाटकों में मैथिलीशरण गुप्त का "तिलोत्तमा" तथा माखनलाल चतुर्वेदी का "कृष्णार्जुनयुद्ध" अच्छे नाटक हैं । इसी प्रकार सामाजिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का "नेत्रोन्मीलन" भगवतीप्रसाद का "वृद्धविवाह" आदि नाटक है । व्यंग्य प्रधान नाटकों में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का "मधुरमिलन" विशेष उल्लेखनीय है । इसका मंचन भी हुआ था । बालकृष्ण भट्ट ने अनेक प्रहसन भी इसी समय लिखे । इस प्रकार मौलिक नाटकों की रचना तो हुई,पर उन्हें भारतेन्दु युग से अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी ।

२- अनूदित नाटक — अनूदित प में इस युग में अपेक्षाकृत अधिक कार्य हुआ । संस्कृत से 'उत्तररामचरित' का पं० सत्यनारायण ने तथा 'मृच्छकटिक' का लाला सीताराम ने अनुवाद किया । बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर के लगभग सभी नाटकों का अनुवाद इस काल में किया गया । इसी प्रकार अंग्रेजी से शेक्सपियर के लगभग सभी नाटकों का अनुवाद इस समय हुआ । शेक्सपियर के अतिरिक्त मोलियर के नाटकों का अनुवाद भी इस युग में लोकप्रिय हुए ।

अनुवाद की इस परम्परा के साथ ही पारसी रंगमंच की विधा पर भी अनेक मौलिक नाटक इस काल में लिखे गये । इनमें नारायणप्रसाद 'बेताब' तथा पं० राधेश्याम कथावाचक के नाटक उल्लेखनीय हैं । इनपर अगला अध्याय में विचार किया जायगा ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि १६२०ई० के पूर्व के हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय परम्परा अनेक विधाओं तथा प्रणालियों की परम्परा थी । इस समय तक हिन्दी नाटकों के मंचन की सुदृढ़ स्थिति नहीं बन सकी थी । लोकनाटकों से साहित्यिक रंगमंच की आशा व्यर्थ थी । अंग्रेजी रंगमंच का विकारयुक्त रूप पारसियों ने अपनाया जिसने जनरुचि को नष्ट किया । संस्कृत नाट्य विधा पर लिखे गये नाटकों के मंचन सम्बन्धी उन्नति कठिन थी । भारतेन्दु युग में ही इस दिशा में कुछ कुछ कार्य हुआ । भारतेन्दुकालीन हिन्दी रंगमंच भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका । द्विवेदी युग में रंगमंचीय स्थिति अपरिवर्तनीय रही । हिन्दी रंगमंच की पुष्ट दिशा १६२०ई० के पश्चात् ही प्राप्त होती है ।

—0—

अध्याय --१

हिन्दी नाटकों का शिल्प-विधान

अध्याय -- १

हिन्दी नाटकों का शिल्प-विधान

शिल्प विधान का महत्व

नाटक का शिल्प अत्यधिक संयत,सुगठित तथा सधा हुआ होता है । कथा-लेखक के समक्ष मात्र पाठक रहते हैं । कथावस्तु वर्णनक्रम से चलती है । अत: रचयिता का वर्णन-शिथिलता भी निभ सकती है । नाटककार को यह सुविधा नहीं है । सीमित समय में समक्ष बैठे दर्शकों के आगे नाटककार की शिथिलता असाध्य है । वही प्रतिभावान व्यक्ति नाटक लिख सकता है, जो दृश्यबन्ध के महत्व को जानता हो । नाटककार को अनेक घटनाओं के माध्यम से दृश्य उपस्थित करते हुए अपने भाव प्रदर्शित करने पड़ते हैं । मुख्य संबंध के दृश्यों को नाटककार दर्शकों के समक्ष कुशलता से प्रस्तुत करता है । वह विषय का चयन करता है । पुन: उसमें गति भरकर उसे रंगमंच के उपयुक्त बनाता है । वह विभिन्न प्रकार के पात्रों को दृश्यों के साथ इस प्रकार अनुबन्धित करता है कि वे एक-दूसरे के लिए प्राणदायी सिद्ध हो सकें । नाटककार को यह स्मरण रखता है कि वह प्रतिपाल दर्शकों के समक्ष बैठा है । दर्शक नाटक के असंयम को सहन नहीं करता । वह एक कठोर आलोचक है, जो नाटककार के साथ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं कर सकता । उपन्यास का पाठक पुन: अपने खोये हुए कथासूत्र को वापस पा सकता है किन्तु नाटक का कथासूत्र जीवन के क्षण की भाँति पुन: वापस नहीं पाया जा सकता । नाट्यशिल्प अत्यधिक सावधानी एवं सजगता का है । जीवन की अनेक घटनाओं के बीच नाटककार छोटे-छोटे सन्दर्भ - चुनता है । और सीधे अपनी मंज़िल पर पहुँचना रहता है । भटकने का अवसर उसे

पात नहीं है । यह सन्दर्भ वह जीवन के बीच से ही चुनता है । सेठ गोविन्ददास का भी यही कथन है कि --

"जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति और कथोपकथन होंगे वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा ।"[1]

स्वाभाविकता के लिए आधुनिक नाटक के क्षेत्र में स्वगत कथन बहिष्कृत कर दिया गया है । गीत तथा नृत्य का प्रयोग भी कम होता है । अंक तथा दृश्य भी कम होते हैं । ये नृत्य-गीत विहीन नाटक प्रभाव की दृष्टि से कितने उपयोगी होंगे, यह भविष्य की बात है । इसपर विचार करने से स्पष्ट होता है कि यह शिल्प विधान तीन बातों में निहित है --(१) दृश्य विधान की प्रतीकात्मकता,(२) संवेदनात्मक घटनाएं, ३- स्वाभाविकता का आग्रह ।

(क) भारतीय दृष्टि

भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-दृष्टियों में सांस्कृतिक दृष्टि से एक मौलिक अन्तर है । स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने भाषण में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशैली के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए कहा था --

"पश्चिमी नाटक विभिन्न घटनाओं से पूर्ण हैं । वे कुछ देर के लिए उद्दीप्त तो कर देते हैं, किन्तु ज्योंही समाप्त होते हैं, त्योंही तुरन्त प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है, तुरन्त मस्तिष्क से उनका

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'नाट्यकला मीमांसा', पृ०१५-१६ ।

सम्पूर्ण प्रभाव निकल आता है । भारत के दु:खान्त नाटकों में मानो इन्द्रजाल की शक्ति भरा रहता है । वे मन्दगति से चुप-चाप अपना काम करते हैं । उनके एकबार सम्पर्क में आते ही वे तुम पर अपना प्रभाव फैलाने लगेंगे, किन्तु तुम टस से मस नहीं हो सकते तुम बंध जाते हो[1] ।"

भारतीय नाट्यशास्त्र का भव्य प्रासाद वस्तु, नेता और रस के तीन स्तम्भों पर टिका है । इसकी नींव अत्यधिक गहराई में रखी गयी थी, अत: आज भी यह प्रासाद स्थिर है । पाश्चात्य नाट्यशिल्प के द्वारा सेंधमारी हो जाने पर भी इसका स्वरूप मूलरूप में आज भी सुरक्षित है ।

१- कथावस्तु-निरूपण

भारतीय नाट्य कथावस्तु का निरूपण अत्यन्त विश्लेषण के साथ किया गया है । इसी के अनुसार कथावस्तु के भेद किये गये हैं --

क- आधिकारिक एवं प्रासंगिक -- आधिकारिक कथावस्तु नायक के प्रमुख कार्यों से सम्बन्धित होती है । इसी से फलागम की प्राप्ति होती है । प्रासंगिक कथावस्तु सहायक घटनाओं से निष्पन्न होती है । प्रासंगिक कथावस्तु को भी पताका एवं प्रकरी दो भागों में बाँटा गया है । पताका मुख्य या आधिकारिक कथा के बीच प्रसंगवश आयी हुई वह कथा है, जो नाटक में बहुत दूर तक मुख्य कथावस्तु के साथ-साथ चलती है । प्रकरी मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलकर समाप्त हो जाती है । रामायण की कथावस्तु में भरत की कथा पताका है तथा सुग्रीव एवं अंगद की कथा प्रकरी मात्र है । रामायण में राम की कथा आधिकारिक कथावस्तु है ।

---

१ सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" : भारत में विवेकानन्द

आ- प्रख्यात,उत्पाद्य एवं मिश्र

रामायण से गृहीत 'भरत का भाग्य' की कथा जिसपर डा० रामकुमार वर्मा ने एक एकांकी की रचना की है प्रख्यात कथावस्तु का उदाहरण है । इसी प्रकार पौराणिक सन्दर्भों पर लिखे गये नाटक 'कृष्णार्जुनयुद्ध' की कथावस्तु भी प्रख्यात है । डा० वर्मा के नाटक 'पृथ्वी का स्वर्ग' की कथा उत्पाद्य है,क्योंकि यह नाटक डा० वर्मा की कल्पना से ही निर्मित हुआ है । उन्हीं का 'चारुमित्रा' नाटक मिश्र कोटि का है,क्योंकि अशोक जैसे ऐतिहासिक पात्र के विचार-परिवर्तन के लिए कुछ काल्पनिक घटनाओं और पात्रों की संयोजना की गयी है । चारुमित्रा, जो अशोक के जीवन में महान परिवर्तन करती है,पूर्णतया काल्पनिक पात्र है । यह कल्पना इतनी प्रखर होती है कि वह सत्य के समानान्तर ही प्रभावशील होती है । ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु बहुधा मिश्र ही रहती है । साहित्यकार जब किसी ऐतिहासिक कथ्य का वर्णन करने चलता है तो वह मनोविज्ञान का सहारा लेता है । वह तत्कालीन पात्रों के दैनिक जीवन में प्रविष्ट होता है । अतः मनोविज्ञान के आधार पर उसे कल्पना का आश्रय लेना ही पड़ता है । श्री जयशंकरप्रसाद के नाटकों तथा डा० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक एकांकियों से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । कथा के वातावरण और प्रभावान्विति की दृष्टि से यह नाटककार की ही रुचि है कि वह प्रख्यात,उत्पाद्य अथवा मिश्रकोटि की कथावस्तु को अपने नाटक का आधार बनाये ।

इ- संधियाँ,अर्थप्रकृतियाँ तथा अवस्थाएँ

सन्धियों की दृष्टि से कथावस्तु पाँच प्रकार से विभाजित की जाती है । मुख,प्रतिमुख,गर्भ,विमर्श एवं निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ हैं । इसी प्रकृति के द्वारा कथावस्तु की प्रगति देखी जाती है । अवस्था से अभिप्राय कथा की उस परिस्थिति से है,जिसमें कथा एक विशिष्ट

सीमा तक पहुंचती है । बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य ये पांच अवस्थाएं हैं तथा आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम ये पांच अर्थ प्रकृतियां हैं । पांचों सन्धियों के साथ क्रमशः एक-एक अर्थ प्रकृति तथा अवस्था का संयोग रहता है । पांचों सन्धियों के अनेक भेद किये गये हैं, जिनकी संख्या चौंसठ तक पहुंचती है ।

६- दृश्य, श्रव्य तथा सूच्य

नाटक में अनेक बातें ऐसी आती हैं, जिन्हें मंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता । उनकी केवल सूचना ही दी जा सकती है । कथा को मोड़ देने के लिए अथवा आगे बढ़ाने के लिए भी सूचना का सहारा लिया जाता है । सूच्यकथा के पांच भेद किये गये हैं, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य तथा अंकावतार । मंच पर प्रदर्शित होने की दृष्टि से कथावस्तु नियतिश्राव्य, सर्वश्राव्य तथा अश्राव्य भेदों से जानी जाती है । नियति श्राव्य के जनान्तिक तथा अपवारित दो भेद किये गये हैं । आकाशभाषित आकाश की ओर मुख करके एक ही पात्र द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में उपस्थित किया जाता है ।

२- पात्र

भारतीय नाट्यशास्त्र का दूसरा स्तम्भ पात्र नियोजन है । पात्र-विवेचन में नायक का स्थान प्रमुख है, यों रस की अपेक्षा पात्र-विवेचन गौण माना जाता है । नायक के मुख्यतया चार भेद किये गये हैं-- धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर प्रशान्त तथा धीरललित । धीर होना नेता के लिए आवश्यक गुण है । वह महासत्व हो अति गंभीर हो, क्षमावान हो, स्थिर हो तथा आत्मिक अभिमान की भावना से आवृत हो । धीरोद्धत नायक में दर्प होता है । वह मात्सर्य, माया, चंचलता, एवं आत्मश्लाघा के दोषों से भरा रहता है । धीरप्रशान्त नायक में सन्तोष का गुण पाया जाता है । अतः इस प्रकार का नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है । वह

साश्रित नहीं हो सकता है । धीर ललित नायक निश्चिन्त, कलाप्रेमी,
सुखी एवं मृदु स्वभाव का होता है । इसके अतिरिक्त नायिका की
दृष्टि से नायक अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट एवं शठ होते हैं । अनुकूल नायक
एक पत्नीव्रत धारण करता है । केवल इसी को छोड़कर अन्य सभी
नायक बहु विवाह करते हैं । दक्षिण नायक सभी नायिकाओं से प्रेम
करने वाला होता है । धृष्ट नायक नायिका के अतिरिक्त किसी अन्य
से प्रेम करके भी नायिका के सम्मुख आने में लज्जा का अनुभव नहीं करता ।
शठ नायक नायिका से छिपकर अन्य नायिका से प्रेम करता है । नायकों
के मार्ग में बाधास्वरूप प्रतिनायक की कल्पना भी है जो अपने धीरोद्धत
स्वभाव से अपने दुराग्रह के लिए षड्यन्त्र भी करता है । नायक के
सहायक पीठमर्द, विदूषक और विट होते हैं ।

अ- नायिका

नायिका का विवेचन भी नाट्याचार्यों ने विस्तार से
किया है । स्वकीया, परकीया तथा गणिका आदि अनेक भेद हैं । नायक
और नायिकाओं के सम्बन्ध के अनुसार नायिका स्वाधीन पतिका, वासक-
सज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, कलहांतरिता, विप्रलब्धा,
प्रोषित पतिका तथा अभिसारिका आदि अनेक प्रकार की होती हैं[1]।
नायिका के स्वाभाविक a गुणों का उल्लेख भी विविध प्रकार से किया
गया है ।

आ- वृत्तियाँ

~~नायिका का विवेचन भी~~
भारतीय नाट्यशास्त्र में रस की दृष्टि में रखते हुए
चार वृत्तियों का उल्लेख किया गया है । वे कैशिकी, सात्वती, आरभटी

---
१ नन्ददुलारे वाजपेयी : "आधुनिक साहित्य", पृ० २१४

तथा भारती हैं। कैशिकी वृत्ति में नृत्य-गान अधिक होता है। इसमें पुरुष तथा स्त्री दोनों भाग लेते हैं। शृंगार प्रधान नाटकों में इसका प्रयोग अधिक होता है। सात्वती वृत्ति वीर तथा अद्भुत रस के अनुकूल होती है। आरभटी का प्रयोग भयानक तथा रौद्ररस के प्रयोग में होता है। भारतीवृत्ति सभी रसों में काम आती है। इसका सम्बन्ध नाटक के प्रारम्भिक कार्यों से भी रहता है[1]।

इ- रूप,सज्जा,भाषा एवं क्रिया

इसका नियम लोक के आधार पर निर्मित किया जाता है। उत्तम,मध्यम तथा अधम पात्रों की भाषा के लिए अलग-अलग नियम हैं। उत्तम पात्र संस्कृत भाषा बोलते हैं। प्रायः संस्कृत भाषा का प्रयोग पुरुष ही करते हैं, पर कुलधारिणी,महादेवी,मन्त्रियों की पत्नियां तथा वेश्यारं भी कहीं-कहीं संस्कृत भाषा का प्रयोग करती हैं।सामान्य रूप से स्त्रियाँ प्राकृत ही बोलती हैं। अत्यधिक नीच लोग पैशाची तथा मागधी का प्रयोग करते हैं। अथवा जो पात्र जिस देश का होता है,उसी देश की प्राकृत का प्रयोग करता है। उत्तम पात्र आवश्यकता पड़ने पर प्राकृत भाषा भी प्रयोग कर सकते हैं। अधम पात्र संस्कृत भाषा का प्रयोग कभी नहीं कर सकते। इसी प्रकार रूपसज्जा तथा क्रिया का उल्लेख भी उत्तम,मध्यम तथा अधम पात्रों की दृष्टि से किया गया है।

ई- शिष्टाचार नियम

पूज्यापूज्य आचार के लिए भी नियम हैं। उत्तमकोटि के लोगों जैसे विप्रों,आचार्यों,कुलधारियों,विद्वानों एवं वेदार्थियों के लिए

---

1 नन्ददुलारे वाजपेयी :`आधुनिक साहित्य`,पृ०२१५।

'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। नट तथा नटी नाटक के आरम्भ में आकर एक-दूसरे को 'आर्य' तथा 'आर्या' कहते हैं। पूज्य लोग अपने से छोटे शिष्यों, पुत्रों तथा छोटे भाइयों को 'वत्स' कहकर सम्बोधित करते हैं। पुत्रों द्वारा पूज्य जन 'तात' आदि नामों से सम्बोधित किये जाते हैं।[१]

३- रस

भारतीय नाट्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व रस ही है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस भाव की आनन्दात्मक अनुभूति है। श्रव्य एवं दृश्यकाव्य के दोनों रूपों में रस की निष्पत्ति ही प्रमाण है। पहिले रचयिता एवं ग्राहक (जो काव्य गुणों को समझने वाला है) दोनों को दृष्टि में रखकर श्रव्य में नहीं मात्र दृश्य काव्य का उद्देश्य ही रस निष्पत्ति माना गया था। सर्वप्रथम ध्वन्यालोककार ने दोनों का प्रभाव रस है, ऐसी घोषणा की। रस स्थायी रूप से हृदय के भीतर सदा विद्यमान रहता है, समय आने पर उसका उद्रेक हो उठता है। निष्पत्ति के लिए कहा गया है कि रस में निष्पन्नता तभी आ सकती है, जब वह औचित्यवाह हो। 'अनौचित्याद्: ऋतेनान्यद्-रसभंगस्य कारणम्' औचित्य का बोध लोक या समाज से होता है। लौकिक औचित्य के अतिरिक्त रस-निष्पत्ति के विधायक और व्यवधायक तत्वों का अवगाहन भी अपेक्षित है। विधायक तत्वों में शब्द और अर्थ की स्थिति है। व्यवधायक तत्वों में लम्बी सामासिक पदावली क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग और टेढ़ी कल्पना आदि बातें आती हैं। रीति और वृत्तियों का विधान रस निष्पत्ति के अनुरूप होना चाहिए।

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में अभिनेय तत्वों का प्रयोग नाटक में रस निष्पत्ति को ध्यान में रखकर ही किया गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में रस निष्पत्ति के अभाव में सभी तत्वों के आधार पर लिखा गया नाटक आत्माविहीन शरीर की भांति प्रभाव उत्पन्न करने

में असमर्थ है । रस के साथ नायक का विधान समाज में नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा करता है । नायक धर्म का प्रतीक है, अत: उसका पराभव समाज में अधर्म को प्रश्रय देगा । यही कारण है कि नायक के द्वारा दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक नाटक का अन्त होता है और नाटक सदैव सुखान्त होता है ।

(ख) पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के लिए अरस्तू का नाम उसी प्रकार महत्वपूर्ण है, जिस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के लिए आचार्य भरत का नाम स्मरणीय है । अरस्तू के नाट्यसिद्धान्त यौरोप में अनेक शतियों से थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ माने जाते रहे हैं । अरस्तू ने नाट्यशिल्प के लिए कथावस्तु, पात्र तथा भाषा शैली को प्रधानता प्रदान की है । कथावस्तु को बल प्रदान करता हुआ वह द्वन्द्व को महत्व प्रदान करता है । अरस्तू के नाट्य तत्वों पर विचार करते हुए द्वन्द्व का रूप स्पष्ट करना समीचीन होगा ।

द्वन्द्व

कार्य व्यापार में गति प्रदान करने के लिए द्वन्द्व एक आवश्यक तत्व है । विरोधी वृत्तियों द्वारा बाह्य जगत में, जो परिस्थितियाँ संघर्ष उत्पन्न करती हैं, वे ही आन्तरिक जगत में द्वन्द्व उपस्थित करने का कारण बनती हैं । मनुष्य अपने में निर्णयात्मक बुद्धि के अभाव में द्वन्द्व के चक्रव्यूह में आ जाता है । दूसरे शब्दों में उचित-अनुचित के बीच पड़े निर्बल चरित्र में द्वन्द्व उत्पन्न होता है । पात्र में ही नहीं, नाट्य वस्तु में भी द्वन्द्व उत्पन्न होता है । इस द्वन्द्व से नाट्य वस्तु विशेष गति से प्रवाहित होती है । यह प्रवाह द्वन्द्व की परिस्थितियों को विस्तार देता है । यहीं से अभिनय उभरता है यह अभिनय कथोपकथन से परिचालित होता है । इस प्रकार अभिनय और कथोपकथन एक-दूसरे के पूरक होते हैं। बिना कथोपकथन के अभिनय नहीं उभरता और बिना अभिनय के कथोपकथन निष्प्राण होता है ।

साधारण बातचीत न तो दर्शकों को प्रभावित कर सकती है और न नाटक के उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ होती है । उसका अभिनेय होना नितान्त आवश्यक है । अभिनेयता क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है तथा क्रियाशीलता में उत्कर्ष "द्वन्द्व" के द्वारा ही सम्भव होता है । इस द्वन्द्व की वाहिका नाट्य वस्तु है ।

१- नाट्य वस्तु

नाट्यवस्तु में जीवन का स्वाभाविक रूप प्रस्तुत किया जाता है । इतिहास भी जीवन का आलेख है, किन्तु इतिहास और नाटक में अन्तर है । जहाँ नाटक तथ्य और कल्पना को प्रधानता देता है । वहाँ इतिहास केवल तथ्यों पर लिखा जाता है । नाटकीय वस्तु उत्पाद्य अथवा मिश्र भी रहती है । इसीलिए कल्पना द्वारा परिचालित नाट्यवस्तु इतिहास की अपेक्षा अधिक रोचक रहती है ।

वस्तु के लिए अरस्तू ने बहुत कड़े नियम बनाये । वह वस्तु में क्रमिक योजना और अनुपात अवश्य चाहता था । एक जीवित प्राणी के अंग जिस प्रकार निश्चित स्थान पर रहकर अपना कार्य करते हैं, उसी प्रकार नाट्यांग भी अपना दायित्व पूरा करते हैं । नाटक में आदि,मध्य तथा अन्त का संयोजन स्वाभाविक रूप से होना चाहिए ।

पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त में कला का मूलाधार अनुकरण है । पूर्वघटित घटना अथवा क्रिया का अनुकरण वर्तमान में प्रस्तुत करना ही नाटक है । इसके लिए संघर्ष आवश्यक है । संघर्ष के कारण ही पाश्चात्य कथावस्तु में प्रगति आती है । इसी का दूसरा नाम द्वन्द्व है,जिसका परिचय दिया जा चुका है । पाश्चात्य कथावस्तु के प्रारम्भ में (एक्सपोजीशन) अर्थात् प्रारम्भिक घटना की सूचना दी जाती है । इसे कथा प्रवेश भी कहते हैं । कार्य का चरम सीमा की ओर

बढ़ता आरोह (राइजिंग एक्शन) है । इससे द्वन्द्व,संघर्ष अथवा समस्या स्पष्ट हो जाती है । इसके पश्चात् कथावस्तु में चरम सीमा(क्लाइमैक्स) की स्थिति आती है । यहां संघर्ष अन्तिम सीमा तक पहुंचता है । चरम सीमा के बाद कथावस्तु में अवरोह(फालिंग एक्शन) होने लगता है और शीघ्र ही अन्त (कैटेस्ट्रोफे) के रूप में आ जाता है । 'कैटेस्ट्रफे' बुरे फल को कहते हैं , जो पाश्चात्य नाटकों के दु:खान्त का सूचक है ।

उपर्युक्त कथावस्तु का रेखाचित्र इस प्रकार है :-

आरोह
(राइजिंग एक्शन)

चरमसीमा(क्लाइमैक्स)

प्रारम्भ
(एक्सपोजीशन)

अवरोह(फालिंग एक्शन)
अन्त (कैटेस्ट्रफे)

स्वाभाविकता पर जोर देने के कारण पाश्चात्य नाट्यवस्तु में जीवन को तदनुरूप लिया जाता है । अत: यहां बहुधा दु:खान्त ही नाटक लिखे जाते हैं । दु:खान्त से यही अभिप्राय है कि नाट्यान्त में नायक पर जीवन की परिस्थितियां विजय प्राप्त करती हैं और या तो नायक का वध होता है या वह निराशा से आत्महत्या कर लेता है ।

२- चरित्र-चित्रण

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का दूसरा प्रधान तत्व नेता है । अरस्तू का नेता भारतीय नेता से थोड़ा भिन्न है । वह अपने व्यक्तित्व में एकान्तिक है । इस सम्बन्ध में अरस्तू का मत इस प्रकार है --'उद्देश्य की महानता द्वारा औचित्य न किया जाय , अर्थात् नारी में पुरुष गुण तथा पुरुष में नारी गुण न लिये जायं । वैषम्य अकारण अनियम होना चाहिए । अकारण उत्थान पतन कलापूर्ण नहीं होता ।'[1]

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी: 'आधुनिक साहित्य',पृ०२१८ ।

चरित्र-चित्रण के लिए पात्रों में वैयक्तिक गुणों की खोज की जाती है। कभी-कभी श्रेणीगत अथवा जातिगत विशेषताओं का निरूपण भी किया जाता है। अरस्तू के समय में पात्र 'टाइप्स' (कोटि) के आधार पर होते थे। राज्य की महिलाएं तथा अन्य प्रतिष्ठित महिलाओं से लेकर एक सिपाही तक अपनी विशेषताओं के आधार पर ही चित्रित होता था। वे अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, अपने व्यक्तित्व का नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरस्तू का चरित्र-चित्रण-सिद्धान्त स्वतन्त्र न होकर नियमबद्ध था।

३- भाषा-शैली

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का यह तीसरा महत्वपूर्ण तत्व है।— भाषा-शैली। यहाँ बोधगम्य भाषा का प्रयोग उपयुक्त माना गया। नाट्यमंचन के समय दर्शक आनन्द में निमग्न होता है। अत: भाषा की क्लिष्टता उसे असह्य होती है। भाव बोध के लिए नाटकीय भाषा की आवश्यकता होती है -- 'असाधारण समन्वित तथा स्पष्टता की विधायक प्राय: सामान्य युक्तियाँ होती हैं। असाधारण शब्द तथा अस्पष्ट शब्द के बीच सफल नाटककार सामन्जस्य स्थापित करता है। साधारण भाषा से उठकर उच्च शिखर पर स्थापित करना नाटकीय सफलता है। लाक्षणिक भाषा का रूप कहीं बोधगम्यता पर पर्दा न डाले। स्मरण रहे कि नाटक दर्शकों की वस्तु है[१]।'

भाषा की उपर्युक्त शब्दावली नाटक के लिए आवश्यक है। भाषा-शैली के पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कुतूहल, जिज्ञासा, संकलनत्रय, तथा उद्देश्य को भी आवश्यक तत्व माने गये हैं। इनका ज्ञान भी आवश्यक है।

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य', पृ०२१६।

४- कुतूहल एवं जिज्ञासा

इनका प्रयोग वस्तु की प्रमुखता प्रदान करने के लिए होता है । विशिष्ट प्रसंगों से सम्बद्ध घटनाएं जो चमत्कारयुक्त तथा रोमांचकारी हों कुतूहल एवं जिज्ञासा की सृष्टि करती हैं । उत्सुकता का स्थायित्व, जिससे नाट्यान्त तक दर्शक आगे की स्थिति जानने के लिए सजग रहे कुतूहल एवं जिज्ञासा की सृष्टि करता है । अतः इन तत्वों द्वारा नाटक में चेतना एवं अभिनेयता का विकास होता है ।

५- संकलनत्रय

संकलनत्रय से अभिप्राय समय की एकता, कार्यव्यापार की एकता तथा स्थान की एकता से है । इससे नाटक में संगठन बना रहता है । बाबू गुलाबराय के शब्दों में --

"प्राचीन नाटकों में स्थल, काल एवं कार्य की एकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था । वे चाहते थे कि जो घटनाएं नाटक में दिखाई जायं , उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो, यह नहीं कि एक दृश्य आगरे का हो तो दूसरा कलकत्ते का । इसी को वे स्थल की एकता (यूनिटी आफ प्लेस) कहते थे । दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक में दिखायी जाय वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो । उसको वे समय की एकता (यूनिटी आफ टाइम) कहते थे । ऐसा करने में वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य हो जाता था । तीसरी बात यह थी कि कथावस्तु एक रस हो। इस एकरसता को निभाने के लिए प्रासंगिक कथाओं को स्थान नहीं मिल सकता था । इस नियम को कार्य की एकता (यूनिटी आफ ऐक्शन) कहते हैं।"[1]

---

१ गुलाबराय : `काव्य के रूप`, पृ० ९८ ।

यह विशेषतायें यूनानी रंगमंच की देन थीं। अंग्रेजी नाटकों ने न केवल कार्य-संकलन ही स्वीकार किया। इब्सन और शेक्सपियर के नाटकों द्वारा कार्य संकलन का निर्वाह कुशलता से हुआ है। बाद की नाटककारों ने इनका भी विरोध किया तथा इनकी स्थापना किये बिना ही सफल नाटक लिखने के प्रयोग किये।

६- उद्देश्य

पाश्चात्य नाटकों में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य रहता है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक अथवा बाह्य संघर्ष से रहता है। आधुनिक युग के बुद्धिवादी समस्या-प्रधान नाटकों में उद्देश्य की प्रधानता और भी महत्वपूर्ण हो गयी है। इस प्रकार भारतीय रस तत्व की भाँति ही पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में उद्देश्य तत्व महत्वपूर्ण है।

अरस्तू के नाट्य सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने वाला पाश्चात्य विद्वान् इब्सन था। उसके दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

(ग) इब्सन का नाट्य शिल्प

इब्सन ने अपने नाटकों से लम्बे सम्भाषणों, स्वगतों तथा काव्यात्मक सम्वादों को निकाल दिया। इनके स्थान पर उसने छोटे-छोटे चुभते सम्वादों का प्रयोग किया। उसने नाटक का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं माना, बल्कि समस्याओं का हल तथा जनोत्थान बहुत आवश्यक। बाबू गुलाबराय के मत से इब्सन में पांच बातें प्रधान थीं :-

(१) नाटकों का विषय ऐतिहासिक न रखकर वर्तमान समाज और उसकी समस्याएं ही रखा।

२- नाटक का विषय अभिजात वर्ग में ही सीमित नहीं रहा। साधारण लोग मानव रुचि का विषय बने।

३- नाटक में व्यक्ति, व्यक्ति के दोष की अपेक्षा सामाजिक, संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाने लगा।

४- बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता मिली।

५- स्वगत कथन आदि कम होने से नाटक स्वाभाविकता की ओर अधिक बढ़ा[१]।

इस प्रकार इब्सन के समय में इन भावनाओं से प्रेरित नाटकों की बाढ़-सी आ गयी तथा प्राचीन मान्यताओं पर आधारित नाटक बहुत दूर चले गये। बाद में इब्सन के सिद्धान्तों मेंभी परिवर्तन किया गया। नाट्य-शिल्प में कवित्व और प्रतीकवाद को स्थान मिला। इस प्रकार प्राकृतिक घटनाएं मानवीय समस्याओं की प्रतीक बनीं। यह अन्योक्ति पद्धति है। इस प्रकार योरोप का नाट्य सिद्धान्त भारतीय नाट्य सिद्धान्त की भाँति ही विकास करता गया।। आधुनिक नाट्य साहित्य किस सीमा तक भारतीय दृष्टिकोण से पोषित होकर पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ, यह विचारणीय है।

(घ) निष्कर्ष

योरोप में १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जो चेतना की लहर उठी थी, वह भारत में ~~उन्नसवीं में~~ बीसवीं सदी उत्तरार्द्ध में पहुंची। हिन्दी नाटकों के जनक बाबू हरिश्चन्द्र बंगला नाटकों के सान्निध्य में

---

१ गुलाबराय : 'काव्य के रूप', पृ०७०

आये और उन्हीं के माध्यम से अंग्रेजी नाट्यशिल्प से परिचित हुए। उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र का भी अध्ययन तो किया ही था, पश्चिम की नाट्य शैली से भी उन्होंने लाभ उठाया। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों देशों के नाट्य सिद्धान्तों के सामन्जस्य से उन्होंने हिन्दी नाट्य नियमों का निर्धारण किया। आधुनिक हिन्दी नाट्य शिल्प के सम्बन्ध में उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा -- 'अब नाटकों में कहीं आशी: प्रभृतिनाट्य लंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन कहीं सम्फेट, कहीं पंचसंधि व ऐसी ही अन्य विषयों की आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटकों की धारा में इनका अनुसंधान करना व किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक ढूंढ़कर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है। क्योंकि प्राचीन लक्षण लिखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है[1]।'

डा० दशरथ ओझा ने भारतेन्दु जी के इन विचारों की आलोचना करते हुए लिखा --'भारतेन्दु जी ने परम्परागत नाट्य पद्धति के प्रवाह में योरोपीय नाट्यकला की नयी धारा संयुक्त कर दी[2]।'

इस प्रकार आधुनिक समय में भारतीय और पश्चिमीय नाट्य -सिद्धान्तों में बहुत अधिक सामीप्य हो चुका है।

-0-

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ०७२२।

२ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', पृ०२८८

अध्याय --२

रंगमंच की व्यवस्था

अध्याय --२

रंगमंच की व्यवस्था

नाटक की उपयुक्त दृश्यता के लिए और दर्शकों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था को रंगमंचीय व्यवस्था कहते हैं । इसके लिए लेखक की अपेक्षा निर्देशक अधिक दायित्व वहन् करता है । रंगशाला के निर्माण से लेकर मंच सामग्री तथा नाट्य प्रस्तुति की समस्त आवश्यकताएं सभी कुछ रंगमंच की व्यवस्था के अन्तर्गत आती हैं । सर्वप्रथम रंगशाला के निर्माण का प्रश्न है । अत: उसी पर विचार करना आवश्यक है ।

क- रंगमंच का विस्तार

रंगमंच अथवा प्रेक्षागृह का इतिहास बहुत प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होता है । मध्य प्रदेश में रामगढ़ पहाड़ी पर जो सीता-बेंगा नामक गुफा है, उसपर सुतनु का नाम की नर्तकी का उल्लेख है । उसने अपने प्रेमी देवदत्त के मनोरंजन के लिए एक रंगशाला का निर्माण कराया था, जिसमें प्रेक्षागार तथा नाट्य मण्डप की स्थिति भी थी । ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन नाट्य मण्डपों के अन्तर्गत "विकृष्ट" नामक नाट्य मण्डप का उल्लेख किया है, वह सीता बेंगा के प्रेक्षागार और नाट्य मण्डप का ही रूप है ।

इस प्रकार आचार्य भरत के मनुष्यों का प्रेरणा स्रोत सीताबेंगा के नाट्य मण्डपों को ही माना जा सकता है।

प्रेक्षागृह

प्रेक्षागृह कितना भव्य, लम्बा चौड़ा एवं दर्शकों तथा अभिनेताओं की दृष्टि से उपयोगी हो, सर्वप्रथम इस पर ध्यान जाता है। प्रेक्षागृह में मंच का निर्माण किस कोण से निर्मित किया जाय, कि प्रेक्षागृह के भीतर किसी भी पंक्ति का बैठा हुआ दर्शक मंच पर अभिनीत नाटक को सम्पूर्ण अवलोकन कर सके। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह पर ही तीन प्रकरणों में प्रकाश डाला है। वे प्रेक्षागृह के तीन भेद करते हैं :--

(१) विकृष्ट।

(२) चतुरस्र।

(३) त्र्यस्र।

इन तीनों प्रकार के प्रेक्षागृहों के भी ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ तीन-तीन भेद किये गये हैं।

(१) विकृष्ट प्रेक्षागृह

विकृष्ट प्रेक्षागृह की लम्बाई चौड़ाई से दुनी होती है। इसका चित्र इस प्रकार होता है --

(१)
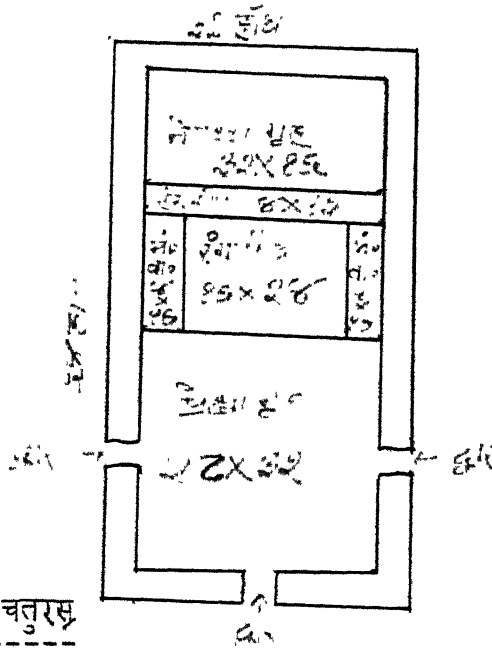
(२) चतुरस्र

चतुरस्र प्रेक्षागृह की लम्बाई तथा चौड़ाई बराबर होती है । इसका रेखा-चित्र निम्न प्रकार का होगा :-

(३) त्र्यस्र
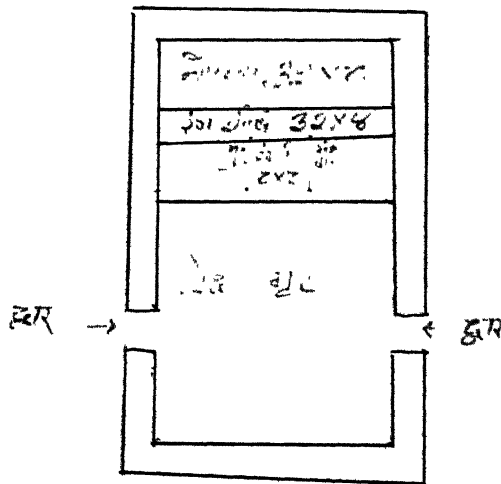
त्र्यस्र प्रेक्षागृह एक त्रिकोण के आकार का होता है । इसका रेखा-चित्र निम्न प्रकार का होता :-

सुगमता की दृष्टि से विकृष्ट प्रेक्षागृह अधिक उपयुक्त माना जाता है। चित्र १ में स्पष्ट किया गया है कि इसको दो भागों में बांटा जाता है। पीछे रंगशीर्ष, मत्तवारिणी तथा रंगपीठ का भाग अभिनय के लिए माना जाता है। शेष आधे का आधा भाग दर्शकों के लिए माना जाता है। इस प्रकार आचार्य भरतमुनि के प्रेक्षागृह की व्याख्या इस प्रकार होगी कि समस्त निश्चित भूमि को दो भागों में बांटा जाय। एक भाग पर रंगभूमि तथा दूसरे भाग पर प्रेक्षाभूमि होती थी। इसमें चारों वर्णों के बैठने के लिए निश्चित व्यवस्था रंगपीठ के सामने के श्वेत स्तम्भों के पास वाले आसनों पर ब्राह्मण, इनसे थोड़ी दूर पर रक्त वर्ण के स्तम्भों वाले स्थान पर क्षत्रिय इनके उत्तर-पश्चिम की दिशा में पीत वर्ण के स्तम्भों के पास वैश्य तथा वैश्यों के उत्तर में नील वर्ण के स्तम्भों के पास का स्थान शूद्रों के लिए सुनिश्चित था।
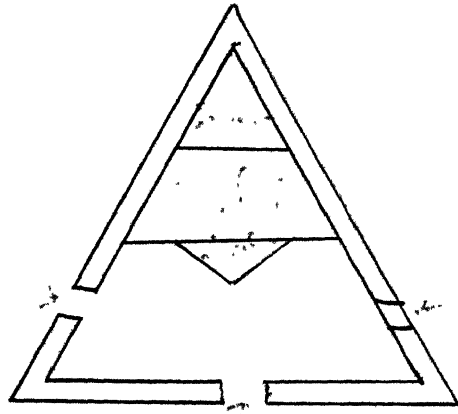
रंगपीठ के आधे भाग पर रंगशीर्ष का स्थान निर्माण किया जाता था। इस रंगशीर्ष के पीछे कुतपट पड़ा रहता था। कुथपट के पीछे नेपथ्य होता था, जिसमें दो द्वार होते थे। एक द्वार से सीधे रंगशीर्ष पर प्रवेश होता था तथा दूसरे से नेपथ्य स्थल पर। प्रथम द्वार के पास रंगशीर्ष पर वादकों और गायक लोग बैठते थे।

१,२,३ — कमलिनी मेहता — "नाटक के तत्व मनोवैज्ञानिक अध्ययन" पृ० १४३-१४४।

अभिनव गुप्त ने भरतमुनि के मत की आलोचना की तथा उन्होंने प्रेक्षागृह के निर्माण में अपना मत इस प्रकार स्पष्ट किया --

प्रेक्षागृह निर्माण में अभिनव का मत

सम्पूर्ण निर्धारित भूमि को तीन भागों में विभक्त किया जाय । इन्हें नेपथ्य, रंगपीठ तथा प्रेक्षा भूमि नामों से जाना जाय । प्रेक्षा या दर्शक भूमि को दोनों ओर भित्तियों से तथा आपस में भी चार-चार हाथ की दूरी पर दो-दो स्तम्भों से विभक्त किया जाय । इस प्रकार दोनों ओर पांच-पांच स्तम्भ हो जाते हैं । इसी प्रकार रंगपीठ पर छः स्तम्भ, कोनों पर दो तथा उनके समीप भी दो । इस प्रकार आठ-आठ हाथ की दूरी पर चार-चार स्तम्भ हो जाते हैं । इसके बाद दो स्तम्भों का निर्माण और किया जाय । स्तम्भों द्वारा ही अभिनव का प्रेक्षागृह निर्मित हो जाता है ।

अभिनव डिम आदि नाट्य-रूपों के प्रदर्शन का ध्यान करके ही विकृष्ट प्रेक्षागृह (६४ × ३२ हाथ) को समयुक्त मानते हैं । इनसे छोटे रंगमंच में आवाज गूंजती है और बड़े प्रेक्षागृह में अस्वाभाविक ढंग से बोलना पड़ता है । विकृष्ट प्रेक्षागृह को श्रेष्ठ मण्डपों से विभक्त होना वे आवश्यक समझते हैं । मण्डपों की व्यवस्था ऊपर स्पष्ट हो चुकी है ।

प्रेक्षागृह की व्याख्या के सन्दर्भ में आये हुए रूढ़ शब्दों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है । इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'नेपथ्य गृह' का उल्लेख है --

नेपथ्य गृह

रंगशाला में यह भाग सबसे पीछे की ओर रहता है । यह समस्त रंगशाला के चतुर्थांश पर निर्मित होता है । ३२ हाथ लम्बाई

तथा १६ हाथ चौड़ाई वाले नेपथ्यगृह का उपयोग पात्रों की वेशभूषा सजाने के लिए किया जाता है। यदि कभी कलरव , कोलाहल तथा घोषणा की आवश्यकता नाटक में अपेक्षित रहती है तो उसे इसी स्थान से पूरी की जाती है। संस्कृत नाटकों में आकाशवाणी के लिए भी इसी स्थान का उपयोग होता था। नाट्योपयोगी सम्पूर्ण उपयोगी सामग्री का संकलन भी इसी स्थान पर किया जाता है।

रंगशीर्ष

यह स्थल रंगपीठ तथा नेपथ्यगृह के मध्य में होता है। इसके निर्माण के लिए अभिनव ने अपना मत इस प्रकार स्पष्ट किया कि नेपथ्य की दीवाल के सामने आठ-आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भ स्थापित करके प्रवेश द्वार बनाने के लिए चार हाथ के अन्तर पर दो-दो खम्भे तथा उनके ऊपर नीचे दो-दो काष्ठ लगाने का निर्देश है। इन छः काष्ठों को अभिनव ने 'षड्दारुक' कहा है। नेपथ्य के उत्तर तथा दक्षिण की ओर दो द्वार इन्हीं काष्ठों की विचित्र रचना से बनाये जाते हैं। इससे यह भी लाभ होता है कि पात्र वहां विश्राम कर सकते हैं। साथ ही मंच पर आते समय दर्शक उन्हें देख भी नहीं पाते। रंगशीर्ष पर यह ऐसा निरापद स्थान है जहां बैठा अभिनेता रंगपीठ का अभिनय भी देख सकता है तथा स्वयं को दर्शकों की आंख से बचा भी सकता है।

मत्तवारिणी

रंगपीठ पर इसका वर्णन सर्वत्र मिलता है। मत्तवारिणी का शब्दार्थ मतवाला हाथी होता है। यह एक अलमारी है, जिसका आकार सूंड उठाये हुए मतवाले हाथी की तरह होता है। नाटकों में एक ही पात्र कभी-कभी अनेक स्थानों पर क्रमशः अभिनय प्रस्तुत करता है। अभिनेता जब

किसी अन्य स्थल पर जाने की घोषणा करता है तो मंच पर घूमते हुए वह मत्तवारिणी के तले दृश्य में प्रवेश कर जाता है । मत्तवारिणी का सभा दृश्य उठाकर मंच के रंगपीठ स्थल पर भी रखा जा सकता है । यह आधुनिक मंच का प्राचीन रूप है । स्थान ऐक्य के अभाव से नाटकों के अभिनय में उपस्थित बाधा का निराकरण मत्तवारिणी द्वारा ही होता था ।

अभिनव ने मत्तवारिणी को १६x८ हाथ के बरामदों के रूप में माना है । कुछ लोग इसे मुख्य मण्डप के मध्य में स्वीकार करते हैं । सुब्बाराव प्रभृति विद्वानों के मत से मत्तवारिणी रंगमंडप के सामने डेढ़ हाथ ऊंची दीवाल है, जिसमें चार स्तम्भ और मस्त हाथियों की पंक्ति खिंची रहती है । रंगपीठ की ऊंचाई मत्तवारिणी के बराबर मानी गई है ।

द्विभूमि

रंगपीठ पर यह विवादास्पद स्थल है । अभिनव भट्टतौत के मत को अधिक उपयुक्त मानते हैं । उनके अनुसार द्विभूमि समस्त नाट्यमण्डप की भूमि को कहते हैं । रंगपीठ से ऊपर पीछे दर्शक-भूमि के निकास द्वार तक रंगशाला की ऊंचाई क्रमशः उठती जाती है । इससे आगे के दर्शक पीछे वालों की आड़ नहीं लेते, आवाज नहीं गूंजती तथा गुफा द्वार के आकृति की रंगशाला भव्य प्रतीत होती है ।

रंगशाला के निर्माण पर संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी विद्वानों ने अपना मत व्यक्त नहीं किया । इसका परिणाम हिन्दी रंगमंच की व्यवस्थित परम्परा का न होना है । बाबू गुलाबराय ने प्राचीन प्रेक्षागृह पर ही अपनी नवीन दृष्टि दी है । उनके मत से रंगशाला का निर्माण निम्न प्रकार है —' नेपथ्य के आगे की ओर दो भाग रहते हैं। नेपथ्य-गृह से मिला हुआ रंगशीर्ष तथा उसके बाद रंगपीठ । रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच यवनिका रहती है । रंगशीर्ष में नाना प्रकार की चित्रकारी चित्रायी जाती थी । सम्भवतः और पर्दे भी रहते थे । रंगशीर्ष में ही प्रारम्भिक पूजादि होती थी । कभी अभिनय रंगशीर्ष में ही दिखाया जाता था ... । आगे का भाग दर्शकों के लिए था । सोपानाकार बैठकें

होता था । इन बैठकों के बीच से खम्भों के रंग से यह स्पष्ट हो जाता था कि वे किस वर्ण के लोगों के लिए हैं[1] ।"

इस प्रकार प्राचीन काल से आज तक रंगमंच अपना रूप ग्रहण करता रहा है । रंगमंच की व्यवस्था में मंच का विशेष स्थान होता है । अतः मंच का रूप तथा निर्माण इत्यादि जानना भी आवश्यक है ।

मंच निर्माण

साधारणतया मंच उस ऊँचे अभिनय-स्थल को कहते हैं जो ऊपर से तथा बगल से ढका रहता है । उसके पीछे चित्रित दृश्य-पट टँगे रहते हैं । उसी पर अभिनेता मनोनीत नाटक का अभिनय करते हैं । मंच बहुधा तीन प्रकार के पाये जाते हैं --

१- चौखटेदार ।

२- त्रिभुजाकार ।

३- चक्रिल ।

१- चौखटेदार मंच

इसमें आगे एक मत्था तथा अगल-बगल दो पखवाइयाँ लगी रहती हैं । इसका अग्रिम भाग प्रदर्शन-स्थल मंच की ओर क्रमशः नापा जाता है । मंच का सम्पूर्ण भाग अभिनय-स्थल नहीं होता । प्रेक्षागृह में बैठे हुए प्रथम पंक्ति के दोनों छोरों के व्यक्ति मंच के जितने स्थान पर दृष्टि दौड़ा सकें उतना ही स्थान अभिनय स्थल कहा जायगा । प्रथम पंक्ति के नीचे दोनों छोरों पर बैठे हुए दर्शकों को जहाँ तक जितने भाग का अभिनय दिखता रहेगा, उसे प्रेक्षागृह का प्रत्येक दर्शक देख सकता है । आजकल अधिकतर चौखटे-दार मंच का ही प्रयोग किया जाता है । त्रिभुजाकार तथा चक्रिलमंचों का

---

१ बाबू गुलाबराय : "हिन्दी नाट्य विमर्श"

प्रयोग नहीं होता । त्रिभुजाकार अथवा मंच के चित्र को राजकुमार ने निम्न प्रकार के दिये हैं —

इस प्रकार रंगमंच में मंच का निर्माण होता है । रंगमंच व्यवस्था में प्रेक्षागृह तथा मंच निर्माण के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व निर्देशक या सूत्रधार का होता है । उसके कार्यों पर दृष्टिपात करने से रंगमंच की व्यवस्था का अनुमान हो जाता है । अतः निर्देशक पर विचार करना आवश्यक है ।

निर्देशक

नाट्य प्रस्तुतीकरण में निर्देशक का स्थान सर्वाधिक महत्व का है । नाटक चयन से प्रस्तुतीकरण तक वह अनेक मनोदशाओं से गुजरता है । उसे अपनी सूझ-बूझ के साथ ही अनेक नियमों का पालन करना व पड़ता है । उसके नियमों पर दृष्टिपात करने से उसके दायित्व स्पष्ट हो जाते हैं । उसके नियम निम्न हैं —

१- निर्देशक को चुने हुए नाटक का अभिनेताओं के समक्ष सम्पूर्ण रूप से पाठ करना होता है ।
२- वह पात्रों से परामर्श करता है ।
३- रंगमंच विषयक व्यवस्था का निरूपण और इस सम्बन्ध में रंगाध्यक्ष (स्टेज मैनेजर) से परामर्श ।
४- उपयुक्त वेशभूषा के सम्बन्ध में परामर्श और उसका प्रबन्ध ।

५- नाटक में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों की उपलब्धि ।

६- उपयुक्त पात्रों का चुनाव ।

७- कार्य विभाजन ।

८- पूर्वाभ्यास कार्य का विभाजन ।

६- तैयारी ।

१०- परीक्षणात्मक प्रदर्शन ।

११- प्रदर्शन ।

रंगमंच की तकनीक की दृष्टि से भी निर्देशक ही रंगमंच का प्रबन्ध करता है । तकनीक से अभिप्राय मंच पर पात्रों का समूह करना, दृश्यविधान, चलना-फिरना तथा नाटकीय प्रभाव से अभिनय का तादात्म्य उपस्थित करने से है । इस प्रकार प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था का भार निर्देशक के ऊपर रहता है । यहाँ रंगमंच का विस्तार पक्ष समाप्त होता है । रंगमंच की व्यवस्था में दूसरा पक्ष मंच सामग्री का है ।

ख रंगमंच की सामग्री

रंगमंच अनेक कलाओं का संगम है । इसकी कला कोमल तथा हृदय रंजक है । सारा बर्नार्ड रंगमंच की कलाको स्त्रियों की कला मानता है -- नाट्य कला एक कामिनी कला-सी प्रतीत होती है । उसमें वे सभी साधन सम्मिलित हैं,जो नारी क्षेत्र के अन्तर्गत होते हैं । प्रसन्न करने की अभिलाषा,भावनाओं के अभिव्यक्त करने की और दोषों को छिपाने कीकुशलता और अंगीकरण का गुण भी नारियों का वास्तविक गुण है । रंगमंच की इस नारी सुलभ कला को सफल बनाने में रंगमंच का विशेष हाथ है ।[१]

---

१ " The dramatic art would appear to be rather feminine art, it contain in itself, all the artifices which -- belong to the province of women, the desire to please faculty to express emotion is the real essence of women."

अभिनेताओं को अपना भाव प्रदर्शन करने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उन्हें रंगमंच की सामग्री कहा जाता है । प्राचीन काल के रंगमंच पर मुखौटा आवश्यक था । आज अनेक प्रकार के भाव जीवन की जटिलता को स्पष्ट करने के लिए अपेक्षित हैं । उनका बोध मुखौटा द्वारा नहीं कराया जा सकता । इसी प्रकार संस्कृत रंगमंच पर प्रतीक शैली द्वारा अनेक प्रकार की मंच सामग्री का बचाव कर लिया जाता था । संस्कृत मंच का अभिनेता अपने अभिनय द्वारा ही स्थिति तथा दशा का आभास कराता था । आज हल्के उपादानों द्वारा इन मानवीय एवं प्राकृतिक वस्तुओं का दिग्दर्शन दर्शकों को कराया जाता है । यही सारे उपादान रंगमंच की सामग्री है ।

संस्कृत रंगमंच पर पशु,पक्षी तथा कीड़ों के लिए और अभिनेताओं द्वारा प्रयुक्त छत्र,चामर दण्डादि अनेक द्रव्य एवं भूमिकाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार की सामग्री अपेक्षित थी । इन उपकरणों को हल्के उपादानों द्वारा बनाया जाता था । ये उपकरण बहुधा लोकधर्मी ही प्रयुक्त होते थे — कभी-कभी उनका प्रयोग नाट्य धर्मी भी होता था । पर्वत,कवच,ढाल तथा ध्वज आदि कपड़ा,छाल तथा अभ्रक के बनाये जाते थे । अभ्रक की पन्नियों से अनेक प्रकार के रत्नों की आभा उत्पन्न की जाती थी ।

रंगमंचीय उपकरण वास्तविक जगत की वस्तुओं की भ्रान्ति देते हैं । रंगमंच की कुछ गौण सामग्री की बात करते हुए ए०बी०कीथ ने बांस,कपड़ा, छाल,घास आदि हल्के सामानों द्वारा निर्माण की बात कही है । बांस से बनी वस्तुओं पर चमड़ा अथवा कपड़ा चढ़ाया जाता था- इससे उपकरणों की शोभा बढ़ जाती थी — "सीमित रूप में कुछ गौण रंगमंचीय सामग्री भी प्रयुक्त होती थी, जिसे पुस्त का सामान्य नाम दिया गया है । (भरत ने पुस्त का प्रयोग आहार्य नेपथ्य के प्रसंग में किया गया है)

नाट्यशास्त्र में पुस्त के तीन भेद बताये गये हैं-- १- सन्धिम बांस के निर्मित और चर्म अथवा वस्त्राच्छादित । २- व्याजिम यन्त्रों की सहायता से निष्पन्न । ३- वेष्टित जिसमें केवल वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है ।[1]
इस प्रकार रंगमंच पर प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार की सामग्री का प्रयोग होता रहा है । रंगमंच की सामग्री के साथ ही रंगमंच की व्यवस्था में संगीत का स्थान आता है ।

ग- संगीत व्यवस्था

नाटक में प्रभाव उत्पन्न करने के हेतु संगीत का प्रयोग किया जाता है । रंगमंच की व्यवस्था में संगीत व्यवस्था से अभिप्राय पार्श्व संगीत योजना से है, नाटकों में प्रयुक्त गीतों से नहीं । संगीत से अभिनेता तथा दर्शक दोनों का राग तत्व उभर आता है । इसके सहयोग से रंगमंच स्वाभाविक हो जाता है । संगीत गीत में प्राणतत्व उभारता है । गीत भावपूर्ण और उपयुक्त शब्दों का समूह होता है तथा इन शब्दों में प्रभाव संगीत के द्वारा ही उत्पन्न होता है । संगीत की लय की तरलता से दर्शकों में रागात्मकता उत्पन्न हो जाती है ।

हिन्दी नाटकों में रस तत्व का महत्व आज भी विशेष रूप से है । संगीत रस को सहज ही सम्प्रेषित करता है । शृंगार, वीर, भयानक तथा रौद्ररसों को उभारने में संगीत का विशेष हाथ होता है । संगीत प्रबन्धक को राग-रागिनियों का ज्ञान होना चाहिए । रौद्ररस-निष्पत्ति के अवसर पर यदि कोमल श्रुति-उद्बोधक राग बजाया जायगा तो रसाभास उत्पन्न कर संगीत नाटक के प्रभाव को समाप्त कर देगा । संगीत

---

१ ए०बी०कीथ : "अनु० उदयभानु सिंह --"संस्कृत नाटक"

निर्देशक नाटक में संगीत प्रयोग के स्थलों पर रेखांकन कर देता है— वह मंच पर उपस्थित नहीं रहता है, पर उसकी कला मूर्तिमयी होकर मंच पर अवतरित होती है ।

संगीत का प्रयोग नाटकीय तथा वातावरण की सृष्टि के लिए भी किया जाता है । स्थिति के लिए अथवा सूचना प्रदान करने के लिए भी संगीत का प्रयोग होता है । संगीत निर्देशक को देश,काल एवं पात्र का ध्यान रखना भी अपेक्षित है । कोमल एवं कठोर ऋतुओं एवं मिलन-विरह शोकादि पात्र की स्थितियों के अनुसार संगीत का प्रयोग होता है । नृत्यादि के समय रौद्र तथा विवाहादि के समय कोमल संगीत का प्रयोग उचित है । इस प्रकार रंगमंचीय व्यवस्था में संगीत का विशेष महत्व है । रंगमंच में उत्साह का संचरण संगीत के माध्यम से ही होता है । संगीत के पश्चात् इस व्यवस्था में वेशभूषा का स्थान है ।

ख- वेशभूषा व्यवस्था

व्यक्तित्व को उभारने में बहुत कुछ दायित्व वस्त्रों का है । पात्र की स्थिति के अनुरूप ही वेशभूषा प्रयुक्त होती है । डा०रामकुमार वर्मा के एकांकी 'तैमूर की हार' में यदि तैमूर को ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वस्त्र न पहनाकर पात्र को धोती-कुर्ता या पेन्ट-सूट से सजाया जाय तो वह रसाभास उत्पन्न करेगा । इसी प्रकार सामाजिक नाटक में किसी नाम प्रकरण आदि को धोखा के वस्त्रों में मंच पर उपस्थित करना भी अस्वाभाविक है । वस्त्र पात्रों की सानुकूलता को प्रकट करने के लिए होते हैं ।

वेशभूषा से पात्र की स्थिति का सहज ही आभास हो जाता है । गन्दे-फटे वस्त्रों में किसी अभिनेता को मंच पर देखकर उसके पागल या शराबी होने का सन्देह होता है । इसके विपरीत व्यवस्थित वस्त्रों में कोई अभिनेता पागल की भूमिका में अभिनय सफलता पूर्वक नहीं कर सकता ।

अतः वस्त्रों का प्रयोग नाटकीय पात्र एवं वातावरण को ध्यान में रखकर करना आवश्यक है । रंगमंच की व्यवस्था में इसका प्रमुख स्थान है ।

वेशभूषा प्रबन्धक को मंचन से पूर्व ही प्रत्येक अभिनेता के लिए आवश्यक वस्त्र प्रयोग की सूची तैयार करनी होती है । वह मंचन के समय अभिनेता को वस्त्र-परिवर्तन में सहायता देता है । वेशभूषा का निर्देश नाटककार करता है, फिर भी वस्त्र प्रबन्धक को अपनी सूझ का भी प्रयोग करना चाहिए । संस्कृत नाटकों में पात्रों के लिए वेशभूषा भी निश्चित की गयी थी । तापस व्यक्ति वल्कल काषाय वस्त्र धारण करें, अन्तःपुर की सेवा में रत व्यक्ति काषाय कंचुकी धारण करें तथा आभीर युवती नील वस्त्रों को ही धारण कर सकती है । मलिन वस्त्र उन्मादी तथा दुःखी व्यक्तियों के लिए प्रयोग किये जाते थे । यक्ष, किन्नर तथा राक्षसों के लिए विशेष प्रकार के वस्त्र अपेक्षित थे । काले वस्त्र किरात, बर्बर, आन्ध्र तथा द्राविड़ों के लिए निश्चित थे । शक तथा यवन गौरवर्ण के ही व्यक्ति होते थे । पांचाल, मागध तथा अंगवंग निवासी काले होते थे । इस प्रकार शारीरिक वर्ण के अनुसार ही नाट्याचार्यों ने रंगमंच पर वेशभूषा का निर्धारण किया । इसी प्रकार केशपाश के लिए भरतमुनि ने निश्चित मत व्यक्त किया ।

केश-पाश

पिशाच, उन्मत्त तथा भूतों के बाल लम्बे माने गये । विदूषक का सिर खल्वाट होता था । बालक काकपक्ष रखते थे अथवा तीन चोटियाँ धारण करते थे । देशों के अनुसार भी केशों का वर्णन हुआ है । अवन्ती तथा गौड़ देशीय स्त्रियों के बाल घुंघराले होते थे तथा उत्तर की स्त्रियों के सिर पर जूड़ा उठा हुआ रहता था । इसी प्रकार रूप रचना के लिए भी नियम निर्धारित हैं ।

रूपसज्जा

रूप सज्जा से रूप में निखार आता है । रूपसज्जा से पात्र की बाह्याकृति एवं आन्तरिक स्थिति भी प्रकट होती है । एक युवक अभिनेता वृद्ध की भूमिका में अभिनय करने में रूपसज्जा की सहायता से ही प्रभाव उत्पन्न करता है । रूपसज्जाकार को प्रकाश का भी ज्ञान होना चाहिए । वह अपने पात्र को इस प्रकार की सूक्ष्म तथा सटीक रूपसज्जा प्रदान करे जिससे पात्र की रूपाकृति अधिकाधिक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो सके । रूपसज्जा मुखौटे की तरह पहनी नहीं जाती वरन् यह सम्पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करती है । रंगमंचीय व्यवस्था में अन्तिम और अत्यधिक प्रभावशाली तत्व प्रकाश व्यवस्था है । इसके अभाव में रंगमंच की सारी व्यवस्था व्यर्थ है ।

१०- प्रकाश व्यवस्था

अभिनय कला को सौन्दर्य प्रदान करने के लिए तथा कार्य की पूर्णतया योजित करने के हेतु प्रकाश व्यवस्था आवश्यक है । विविध प्रकाश किरणों की सहायता से ही कोमल नाटकीय भावों तथा रूपांकन को स्पष्ट करने में सफल होता है । नाटकीय कला के सौन्दर्याकर्षण को तथा उसकी दीप्ति को विकसित करने में प्रकाश व्यवस्था का महत्वपूर्ण योग है । प्रकाश ऐन्द्रिक उद्दीप्ति के लिए सहायक होता है । नाटक में शैली तत्व की अभिव्यक्ति देने में भी प्रकाश का हाथ है । प्रकाश द्वारा नाटक में देश,काल, स्थल का भी उद्घाटन होता है । दृश्यबंध का महत्वपूर्ण दायित्व भी प्रकाश-व्यवस्था पर ही है । इस प्रकार प्रकाश व्यवस्था रंगमंच पर एक आवश्यक तत्व है,जिसका प्रयोग विविध अनेक स्थितियों में करता है । जिनका वर्णन नीचे प्रस्तुत है--

समय सूचना द्वारा

रात-दिन का कोई भी समय, नाटक में जिसका वर्णन है, प्रकाश द्वारा मंच पर उपस्थित किया जाता है। प्रातः, मध्याह्न अथवा संध्या कालीन दृश्य सुगमता से बनाये जा सकते हैं। विद्युत-किरणों की सहायता से सन्ध्या का समय मंच पर उपयुक्त रूप से प्रदर्शित होता है। दो विरोधी काल क्रमशः आभासित करना भी आसान है। इस प्रकार समय सूचना में प्रकाश व्यवस्था का विशेष हाथ है। प्रकाश का प्रयोग कुछ विशिष्ट स्थितियों में भी किया जाता है।

विशिष्ट स्थिति

चांदनी विकीर्ण करता चांद धीरे-धीरे बढ़ रहा है अथवा मन्दिर में दीप टिम-टिमा रहा है। इन दृश्यों को प्रकाश व्यावसायिक मंच पर बनाता है। जंगल का दृश्य उपस्थित करने के हेतु जंगल के पर्दे पर बैंगनी प्रकाश-किरणें फेंकी जाती हैं तथा क्रोधपूर्ण मुख को प्रदर्शित करने के हेतु लालवर्ण की किरणें मुख पर डाली जाती हैं। मंच की स्थिति के अनुसार प्रकाश के छः प्रकार प्रयोग में लाये जाते हैं, जिनका परिचय निम्नप्रकार से है—

१- शीर्ष दीप (हेड स्पाट)

ये बत्तियां रंगपीठ की छत में लगी रहती हैं। ये दर्शकों को नहीं दिखाई देतीं। इनके प्रकाश से स्टेज तथा अभिनेता का सम्पूर्ण अंग इस प्रकाश में चमकता रहता है। इन बत्तियों से मंच पर पात्र की छाया नहीं पड़ती।

२- क्षीण महा दी (ग्राउण्ड स्पाट)

रंगपीठ के आगे दोनों कोनों में अधिक प्रकाश वाले [illegible] दीप लगाये जाते हैं। इनसे अभिनेता का अंग-अंग चमकता है। सम्पूर्ण मंच प्रकाश से भर उठता है। पृष्ठ-भूमि के विपरीत दिशा में प्रकाश किरणें फेंकने वाले इन महादीपों की छाया नहीं पड़ती। रंगीन मखमली पत्र

से विभिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न किये जाते हैं । पात्र के मुख के भाव भी इसी द्वारा प्रकट होते हैं । छोटे-बड़े सभी मंचों पर कौण महादीप का प्रचलन है ।

३- पार्श्व दीप (विंगस्पाट)

रंगपीठ के दोनों पार्श्वों की दोनों दीवारों पर ये दीप रखे जाते हैं । इनका प्रयोग अभिनेता के मुख को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है । इनपर कांच की रंगीन चरखी लगी रहती है, जिसे घुमाने से विभिन्न प्रकार के रंग आते हैं । इनका प्रचलन भी सभी मंचों पर होता है ।

४- तलदीप (फुट स्पाट)

रंगपीठ के आगे एक पंक्ति में दर्शकों की आड़कर यह दीप लगे रहते हैं । इनका प्रकाश ऊपर की ओर उठकर अभिनेताओं की ओर जाता है । दर्शक इन्हें नहीं देख सकते । रंगपीठ के छोर पर दर्शक कक्ष के आरम्भ में एक ऊंची किनारी रहती है । इन दीपों से भी अभिनेताओं की भाव भंगिमाएं प्रकट होती है ।

५- पतादीप(पिन स्पाट)

रंगपीठ के दोनों ओर थोड़ी-थोड़ी दूर पर दीप लगे रहते हैं । इनका प्रभाव सम्पूर्ण मंच पर नहीं पड़ता । इनका कार्य इनकी परिधि में आने वाले अभिनेताओं की मुखाकृति का पूर्ण भाव प्रकट करना है ।

६- स्थलप्रकाश(स्पाट लाइट)

यह प्रकाश विशेष महत्व का है । जब किसी-किसी विशेष पात्र अथवा स्थिति को 'स्पष्ट' करना रहता है तब इसका प्रयोग किया जाता है । इससे एक विशिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति मंच पर

उपस्थित अन्यों की तुलना में अधिक चमक उठता है । दर्शकों का सारा ध्यान उन प्रकाश-किरणों से दीप्ति स्थान पर ही केन्द्रीभूत हो जाता है ।

७- चमकदीप(फ्लैश लाइट)

सम्पूर्ण रंगपीठ को जब कभी प्रकाश की बाढ़ से भरना अपेक्षित होता है, तब इसका प्रयोग किया जाता है । यह एक ही दीप अत्यधिक व शक्तिशाली होता है । किसी हरहराती नदी की भाँति इसका प्रकाश सम्पूर्ण रंगपीठ को आप्लावित कर देता है । अभिनेता प्रकाशपिण्ड से दीखते हैं । जिस प्रकार पूर्ण धूप में उछलती हुई मछलियाँ अथवा वर्षा में चमकती धारा की भाँति ही अभिनेता प्रतीत होते हैं ।

८- छायादीप(स्क्रीनलाइट)

यह रंगशीर्ष से पर्दे पर छन-छन कर आया हुआ प्रकाश है । इसकी झलक ही मंच पर मिलती है । रंगपीठ पर का प्रकाश समाप्त होने पर यह प्रकाश बहुत प्रभावशाली प्रतीत होता है । छायानृत्य अथवा छाया-अभिनयों का प्रदर्शन इसी दीप के सहयोग से किया जाता है ।

९- शालादीप(सभीस्पाट)

रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच में दृश्य पट रहता है । उसके पीछे ऊपरी भाग से रंगपीठ के अभिनेताओं पर जो प्रकाश डाला जाता है, वह शाला दीप का प्रकाश कहा जाता है । इसका ध्येय अभिनेताओं के भावों को अधिकाधिक व्यंजित करना रहता है ।

१०- चित्रदीप(प्रोजेक्टर)

इस दीप द्वारा चन्द्र सूर्य आदि दिखलाये जाते हैं । इसके द्वारा रंगीन चित्रों को भी प्रकाशित किया जाता है । इन प्रयोगों द्वारा प्रकाश व्यवस्था का महत्व स्पष्ट होता है । डा० रघुवंश प्रकाश व्यवस्था का महत्व स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -" प्रकाश का पहला उपयोग दृश्य मानता है।

रंगमंच पर अभिनेता वस्तुओं तथा दृश्यों को उनके नाटकीय महत्व के अनुपात में प्रस्तुत करना प्रकाश व्यवस्था का पहला दायित्व है । जिसप्रकार साधारण वाणी की अपेक्षा अभिनेता के शब्द और वाक्य अधिक कलात्मक होने चाहिए,उसी प्रकार प्रकाश का प्रयोग भी होना चाहिए ।[1]

ह स्पष्ट है कि प्रकाश व्यवस्था नाटकीय प्रदर्शन को प्रत्यक्ष करने की अपेक्षा उसे आभासित अधिक करता है । दृश्यविधान की अनेक स्थितियां प्रकाश व्यवस्था द्वारा सहज तथा स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाती हैं । दृश्य,रूपसज्जा,वेशभूषा आदि पर परिवर्तन की स्पष्टता लाना प्रकाश द्वारा ही सम्भव है । इस प्रकार सभी प्रकार से रंगपाठ को प्रकट करने का दायित्व प्रकाश पर है ।

अन्त में कहा जा सकता है कि नाटक दृश्यकाव्य है । अपनी सहयोगिनी अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा यह एक विशिष्टता रखता है । अतः प्रारम्भ से ही भारतीय रंगमंच अपने समकालीन जनजीवन को कथानक एवं चरित्र-चित्रण के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता रहा है । पाश्चात्य रंगमंच के प्रभाव में आने पर भारतीय रंगमंच का आकर्षण और भी बढ़ गया । पाश्चात्य नाट्य साहित्य से एक गुण अतिरंजना का हमें प्राप्त हुआ । इसका प्रयोग वहीं तक उपयुक्त है,जहां तक कथ्य दूषित न हो । कथ्य को दूषित करके रंगमंच की संरचना नाटककार के दृष्टिकोण को प्रभावशाली न नहीं बना सकती । अतः रंगमंच का प्रयोग नाटक में उसके स्वरूप की अन्तरात्मा से प्रकाशित करने की क्षमताओं से युक्त होना चाहिए ।

--0--

---

१ डा० रघुवंश : 'नाट्यकला' ,पृ०२१६ ।

अध्याय --३

नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध

अध्याय -- ३

नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध

नाटक और रंगमंच का घनिष्ठ सम्बन्ध है । नाटककार एवं सूत्रधार एक-दूसरे के पूरक होते हैं । इन दोनों का अन्तर्सम्बन्ध इसप्रकार समझा जा सकता है कि नाटककार अपने अनुभव के सहारे अपनी अनुकरणमूलक एवं भावानुभूति मूलक रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है और सूत्रधार नाटककार की इसी भावानुभूतिमूलक रचनात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर अनुभवगम्य भौतिक प्रदर्शनों को रंगमंच पर प्रस्तुत करता है । वह नाट्यात्मा में अपनी अनुभूति मिलाकर नाट्य रूप खड़ा करता है । रंगमंच पर प्रदर्शित अभिव्यक्ति उसकी अपनी वस्तु होती है । नाट्य-कृति की सफल मंच-प्रस्तुति तभी सम्भव है, जब नाटककार की आत्माभिव्यक्ति में सूत्रधार के कार्यों से सामन्जस्य स्थापित किया जाय । अतः नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध नाटककार तथा सूत्रधार के बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है ।

नाटक का अभिनेय होना आवश्यक है । रंगमंच पर असफल नाटक कभी नाटक नहीं कहा जा सकता । हरिकृष्ण 'प्रेमी' के शब्दों में --' नाटक लिखा जाय तो उसे खेला जाना चाहिए। खेला जा सके ऐसा ही नाटक लिखा जाना चाहिए । मुझे इस बात का सन्तोष है कि मेरे नाटक देश के कोने-कोने में खेले जा चुके हैं ।'[1]

---

१. विश्वप्रकाश दीक्षित : 'नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी', पृ०७३

इस प्रकार नाटक के अभिनेय होने के लिए रंगमंच की आवश्यकता है । दूसरे शब्दों में नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक हैं । नाटक को रंगमंच के उपयुक्त होने के लिए अनेक प्रकार की सीमाओं के भीतर ही विकसित होना चाहिए । ये सीमा-सरणियाँ ही नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध के पर प्रकाश डालती हैं । अतः नीचे उनका क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है ।

अ- कथावस्तु

(क) कथावस्तु की विशिष्ट योजना

नाटक की कथावस्तु साहित्य की अन्य विधाओं की कथावस्तु की अपेक्षा भिन्नता रखती है । इसमें रचयिता, सूत्रधार तथा दर्शक तीनों का सहयोग अपेक्षित है । तीनों के सम्मिलित प्रयास से ही नाटक की कथावस्तु अपना रूप स्पष्ट करने में समर्थ होती है । डा० रघुवंश ने त्रिभुजों में इन तीनों का सम्बन्ध स्पष्ट किया है--
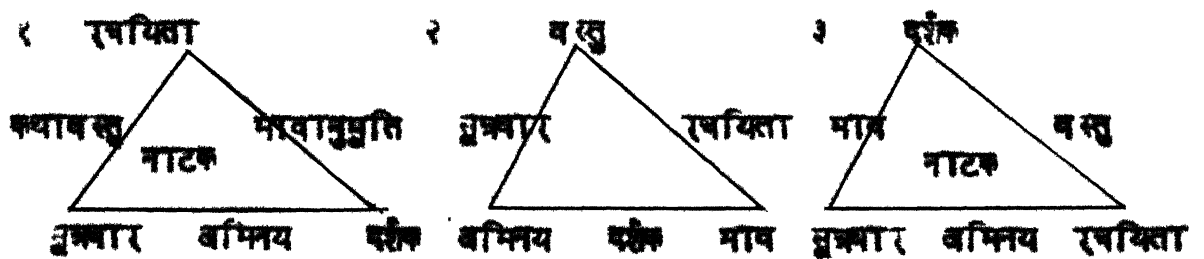
"प्रथम त्रिभुज में शीर्षकोण रचयिता है । सूत्रधार एवं दर्शक आधारकोण हैं । नाटक यदि रचयिता की रचनात्मक अभिव्यक्ति है तो सूत्रधार की अभिनयात्मक अभिव्यक्ति तथा दर्शक की भावानुभूति है । रचयिता वस्तु का सर्जन करता है, सूत्रधार अभिनय का उत्तरदायित्व रखता है तथा दर्शक को रस की अनुभूति होती है[१] ।"

इसी प्रकार दूसरे तथा तीसरे त्रिभुजों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा --" रचयिता रचना के रूप में स्वयं प्रस्तुत रहता है । सूत्रधार यदि उससे सामंजस्य स्थापित न कर सका और अभिनेता उसके भाव के अनुरूप प्रदर्शन उपस्थित न कर सका तो नाटक सफल नहीं कहा जा सकता है । साथ ही रचयिता का अपना उत्तरदायित्व भी है । नाटक को रंगमंच पर अवतीर्ण करने के लिए ,सूत्रधार तथा निर्देशक को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलना चाहिए और अभिनय की सफलता के लिए अभिनेता को भी एक सीमा तक स्वतन्त्र वातावरण मिलना चाहिए । जो रचयिता अपनी सूक्ष्म दृष्टि में इतने व्यापक नहीं होते, उनके नाटक रंगमंच पर सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं और वे आदर्श नाटक नहीं कहे जा सकते हैं[1] ।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक की कथावस्तु में इन तीनों का समावेश होना आवश्यक है । यदि नाटककार अपनी कथावस्तु में सूत्रधार एवं दर्शकों का ध्यान नहीं रखता तो वह मात्र पाठ्य नाटक लिख सकता है । अभिनेय नाटक की कथावस्तु में रचयिता,सूत्रधार तथा दर्शकों के अन्तर्सम्बन्धों की विशिष्ट योजना आवश्यक है ।

(ड) उपयुक्त दृश्य विधान

नाटक में दृश्यविधान अत्यधिक आवश्यक तत्व है । यदि नाटक का दृश्यविधान दूषित होगा तो उसका मंचन नहीं हो सकता । नाटक में दृश्यों का अवतारण कम से कम रखी जाय । दो अचल दृश्यों के बीच में एक चल दृश्य रखना आवश्यक है । यदि राजमहल के दृश्य के पश्चात् ही किसी पहाड़ का दृश्य रखा जायगा तो उन्हें उपस्थित कर पाना सम्भव न होगा । इन दोनों दृश्यों के मध्य में किसी पथ,बाधा अथवा मैदान का दृश्य रखना आवश्यक है । तभी दोनों अचल दृश्यों को

---

१ डा० रघुवंश :"नाट्यकला" ,पृ०१६

मंच पर सजाया जा सकता है । दृश्य यदि स्थानैक्य की सीमाओं के अन्तर्गत न होंगे तो वे नाटक का प्रभाव समाप्त कर देंगे, साथ ही मंचन में बाधा उपस्थित करने वाले होंगे ।

नाटक में असम्भव दृश्य नहीं रहे जाते । इसलिए भारतीय नाट्याचार्यों ने मृत्यु,यात्रा,भोजन तथा जंगली जानवरों--आदि के दृश्यों को नाटक में वर्ज्य माना । इन दृश्यों को मंच पर प्रदर्शित कर पाना सम्भव नहीं है । दृश्य विधान नाटक को रंगमंच पर मूर्तता प्रदान करता है । यदि दृश्य विधान की रेखाएं सामर्थ्यवान नहीं होंगी तो नाटक का चित्र स्पष्ट नहीं होगा । इस भांति दृश्य-विधान असम्भव दृश्यों से रहित सरल तथा रंगमंच की सीमाओं के अन्तर्गत होना चाहिए, तभी वह उपयुक्त दृश्यविधान की संज्ञा से युक्त होगा । दृश्यविधान के लिए माना गया है कि प्रत्येक अंक में दृश्यों की संख्या कम होती जाय, साथ ही उनका आकार छोटा होता जाय । इसका सम्बन्ध दर्शकों की मन:स्थिति से है । दृश्य-विस्तार कहीं उनके मन में ऊब उत्पन्न न कर दे, इसलिए दृश्य क्रमश: छोटे होते जाने चाहिए । इस भांति दृश्यविधान की उपयुक्तता नाटक तथा रंगमंच के सम्बन्ध के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है ।

(ग) कुतूहल एवं जिज्ञासा

ये दोनों गुण नाटकीय सफलता के लिए आवश्यक हैं । कुतूहल यदि दर्शकों को नाट्यवस्तु में तत्परता से उन्मुख रखता है तो जिज्ञासा उन्हें नाटक के अन्त तक उत्सुक बनाये रखती है । नाटकीय वस्तु में इन दोनों गुणों की सृष्टि जितनी सफलता से की जायगी उतनी ही सफलता नाटक को अभिनेय बनाने में प्राप्त होगी । कुतूहल

तथा जिज्ञासा का भी पूर्वापर का सम्बन्ध है । किसी नाटकीय घटना
अथवा पात्र की विशिष्ट स्थिति से कुतूहल उत्पन्न होता है तथा इस
कुतूहल का परिणाम ज्ञात करने की उत्सुकता ही जिज्ञासा है । कुतूहल
यदि चन्द्र है तो जिज्ञासा उसकी कला है,जो सम्पूर्ण आकाश-मण्डल के
मस्तक पर शोभित होती है तथा दर्शक जगत को सम्मोहित किये रहती
है । जिस प्रकार चन्द्र तथा उसकी कला से श्याम रजनी चमक उठती है,
उसी प्रकार कुतूहल तथा जिज्ञासा से नाट्यवस्तु में निखार आ जाता है ।
अतः नाट्यवस्तु में अभिनेय तत्व उभारने में इनका अधिक हाथ है । नाटक
तो दृश्य काव्य है । उसे स्वरूप देने के लिए रंगमंच की जितनी आवश्यकता
है,उतनी ही आवश्यकता कुतूहल एवं जिज्ञासा की है ।

(घ) <u>गतिशीलता</u>

अभिनेय नाटक की कथावस्तु गतिशील होती है ।
अवरुद्ध कथावस्तु नाटक के प्रदर्शन में बाधक सिद्ध होती है । नाटक में
दृश्यविधान,पात्र सम्बन्ध,कथनोपकथन भाषा सभी तत्वों में गतिशीलता
हो तभी नाटक सफल हो सकता है । दृश्य संख्या की दृष्टि से कम तथा
आकार की दृष्टि से छोटे हों । यदि दृश्य संयोजन का क्रम इस प्रकार
नहीं होगा तो प्रस्तुतीकरण में बाधा उपस्थित होगी और नाटक की
गतिशीलता रुक जायगी । गतिशीलता बनाये रखने के लिए सम्वादों
में चरित्रोद्घाटन की क्षमता तथा कथावस्तु में विकास की [illegible] शक्ति
दोनों गुणों का होना आवश्यक है । नाटकीय कथावस्तु का विकास
कुमुदिनी की भांति होता है,जो रात्रि में विकसित होकर प्रातःकाल
सम्पुटित हो जाती है, परन्तु अपनी आभा सम्पूर्ण वायु मण्डल में
छोड़ जाती है । दूसरे शब्दों में किसी वनौषधि की भांति ही नाटकीय
कथावस्तु विकसित होती जाती है और किनारा प्राप्त करते ही समाप्त
हो जाती है । यह विशेषता नाटकीय कथावस्तु में गतिशीलता आने पर

स्पष्ट ही सम्भव हो सकता है ।

(ढ०) सुखान्त और दुखान्त

नाटकीय कथावस्तु का सुखान्त और दुखान्त होना उसके नेता के फलभोग के परिणाम पर आधारित होता है । नाटक में दर्शकों की सहानुभूति नायक के साथ रहती है । यदि नायक अनेक शारीरिक तथा मानसिक आघात सहते हुए अन्त में सुखी हो जाता है तो दर्शकों को भावनात्मक सन्तोष प्राप्त होता है । इस प्रकार नाटक स्वयं ही सुखान्त हो जाता है । इसके विपरीत यदि नायक अन्त में पराजित होता है तो दर्शकों के मन में विक्षोभ या ग्लानि उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार का नाटक दुखान्त होता है ।

भारतीय दर्शन में आदर्श की महत्ता है । जीवन में संघर्ष तथा दुःख स्वाभाविक रूप से आते हैं । मनुष्य को चाहे-अनचाहे परिस्थितियों के आघात सहन करने पड़ते हैं । भारतीय नेता परिस्थितियों के हर मोड़ पर सन्तुलित रहता है, वह अपना विवेक और धैर्य बनाये रखता है । उसके पास नैतिक बल के साथ ही सत्य का अवलम्ब रहता है । इन्हीं गुणों के सहारे वह अन्त में समस्त कठिनाइयों पर विजयी होता है । भारतीय चिन्तक वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को अधिक समृद्ध देखना चाहता है । अतः जीवन के अवरोह में भी वह नायक को विजय की विभूति से अलंकृत करता है । इससे समाज की परम्पराएं आस्थावान और व्यवस्थित रहती हैं ।

पाश्चात्य चिन्तक यथार्थ का चित्रण ही साहित्य के लिए अपेक्षित मानते हैं । अतः वे जीवन की यथावत् ही नाट्य में वस्तु के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में हैं । जीवन में अधिकतर मनुष्य दुःखी ही रहते हैं । यदि कोई सुखी दीखता भी है तो वह दुःख की विस्मृति का जीवन ही जीता है । अतः दुःखी जीवन का अन्त नाटक को दुःखान्त रूप में

प्रस्तुत करता है ।

'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में राजा हरिश्चन्द्र सत्य की रक्षा के लिए अनेक कष्ट सहते हैं । वे स्वयं डोम के हाथ बिकते हैं तथा श्मशान पर जलाये जाने वाले मृतकों के परिवार वालों से मृतक का कफन कर के रूप में प्राप्त करते हैं । उनकी पत्नी शैव्या भी नाटक की चरम सीमा में अपने पुत्र रोहिताश्व को दाह-संस्कार हेतु श्मशान पर ले आती है,जहाँ हरिश्चन्द्र सेवा कार्य रत है । दोनों एक-दूसरे को पहचानते हैं । हरिश्चन्द्र को हार्दिक क्लेश होता है, पर वह कफन के अभाव में शैव्या को मृतक रोहिताश्व को जलाने की अनुमति नहीं देते । सत्य की यह कसौटी सम्भवतः संसार की सबसे बड़ी कसौटी है,जिसपर सामान्य मानव खरा उतर ही नहीं सकता । ऐसी स्थिति में भगवान विष्णु को प्रकट होना पड़ता है ।वे हरिश्चन्द्र के सत्याचरण की प्रशंसा करते हुए उन्हें स्वर्गलोक का शासन प्रदान करते हैं । इस घटना से भारतीय -हृदय आश्वस्त होता है । पाश्चात्य नाटककार इस नाटक का अन्त संभवतः हरिश्चन्द्र तथा शैव्या की उसी स्थल पर मृत्यु कराके करते अथवा हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करके स्थिति में परिवर्तन कर देते ।

इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य नाटकों में आदर्श तथा यथार्थ के आधार पर सुखान्त और दुखांत का निर्धारण किया जाता है ।

आ- वातावरण

रंगमंच पर वातावरण से अभिप्राय उस काल-विशेष के अन्तः तथा बाह्य स्वरूप से है,जिसका चित्रण नाटक में किया जाता है । रंगमंच पर वातावरण का निर्माण करना इसलिए आवश्यक है कि रंगमंच पर ही नाटक की सफल सम्प्रेषणा सुनिश्चित होती है । डा० दशरथ ओझा

के शब्दों में--"रंगमंच नाट्य साहित्य का उपादान है । इसी की सहायता से नाटक अपने भावों को अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति की अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अपनी एक विशिष्टता होती है । नाटकों के अतिरिक्त साहित्य की अन्य सभी विधाओं में भावचित्र को काल्पनिक नेत्रों के सम्मुख रखकर प्रमाता कृति का आस्वाद ले सकता है, किन्तु नाटक को मंचित होते हुए प्रमाता के मन में भाव सत्वर सम्बेध हो उठता है और रसास्वाद सुलभ होता है ।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि रंगमंच पर ही नाटक का रूप प्रकट होता है । रंगमंच पर यदि नाटकीय वातावरण का आविर्भाव नहीं किया जायगा तो नाटक सफल नहीं हो सकता ।

सामाजिक,पौराणिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के नाटकों का अपना एक विशिष्ट काल है । काल के अतिरिक्त पात्र की स्थिति स्वभाव तथा शिक्षा-दीक्षा के आधार पर भी प्रत्येक नाटक का अपना विशिष्ट वातावरण होता है । काल के अनुसार वेशभूषा, भाषा तथा मंच सामग्री का उचित प्रयोग मंच पर अनुकूल वातावरण की सृष्टि करता है । इसी प्रकार पात्र के स्वभाव के अनुकूल भी इन्हीं उपर्युक्त वस्तुओं की समुचित व्यवस्था अनुकूल वातावरण के लिए आवश्यक है । नाटक में जिस काल का वातावरण चित्रित है, मंच पर उसका स्पष्टीकरण इस रूप में होना चाहिए कि दर्शक उसी वातावरण में निमग्न हो सकें । इस प्रकार नाटक में प्रभाव को उद्घाटित करने के लिए समुचित वातावरण की संरचना आवश्यक है ।

ङ- <u>पात्रों की योजना</u>

रंगमंच पर उपस्थित किये जाने वाले नाटकों में पात्र-योजना एक विशिष्ट दृष्टि से की जाती है । कथावस्तु की प्रमुख सम्वेदना का निर्वाह करने के लिए जिन पात्रों का सृजन किया जाता है, वे नाटक के मुख्य पात्र कहलाते हैं । उन्हीं के द्वारा कथा की प्रमुख धारा अग्रसर होती है और उनकी सहायता से ही कथावस्तु की प्रमुख सम्वेदना की पूर्ति

१- डा० दशरथ ओझा 'नाट्य समीक्षा', पृ० ११७

होता है । ऐसे पात्रों का रंगमंचीय नाटक में विशेष स्थान है । इसके अतिरिक्त जो कथावस्तु के सहायक सूत्र होते हैं,उनके लिए पात्रों की योजना इस दृष्टि से की जाती है कि वे प्रमुख पात्रों की गति में योग दे सकें अथवा जो प्रसंग कथावस्तु में सूचित किए गए हैं, उनकी पूर्ति करने में सहायक हो सकें ।

यह भी सम्भव हो सकता है कि प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त जो गौण पात्र हैं,वे कथावस्तु की योजना में बाधक हों । ऐसे पात्रों में जो महत्वपूर्ण पात्र होता है, वह या तो प्रतिनायक होता है या दुष्ट पात्र 'विलन' । पश्चिम के नाटकों में संघर्ष उत्पन्न करने के लिए 'विलन' की कल्पना की जाती है । इस स्थान पर यह दृष्टव्य है कि विरोधी पात्रों के द्वारा भी कथावस्तु में प्रगति सम्भव हो जाती है,क्योंकि कार्य की अवरुद्धता प्रगति का एक नवीन मार्ग होजाती है । जिस प्रकार शिला से टकराने पर जल अपने प्रवाह के लिए दूसरा मार्ग निर्धारित कर लेता है,उसी भाँति विरोधी पात्रों की योजना कथावस्तु में जहाँ अवरुद्धता उपस्थित करती है,वहाँ कुतूहल एवं जिज्ञासा को भी स्थान देती है । यही कारण है कि नाटकों की पात्र-योजना अपने विकास में इस प्रकार की विविधता उत्पन्न करती है कि उससे नाटक के विकास में मनोरंजन,कुतूहल एवं जिज्ञासा का समावेश सम्भव हो जाता है । यहाँ यह भी विचार कर लेना चाहिए कि भारतीय नाट्यशास्त्र में जहाँ पात्र-योजना प्रतीकों के रूप में उपस्थित की जाती है, वहाँ पश्चिमी नाटकों में पात्रों के व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान देकर उनके मनोविज्ञान का विश्लेषण किया जाता है । अर्थात् उनकी स्पष्ट इकाई निर्धारित की जाती है । इस प्रकार नाटकों में पात्र-नियोजन एक विशेष उत्तरदायित्व का कार्य है । जहाँ प्रमुख संवेदना को वहन करने वाले सूत्रों का विभाजन पात्रों की दृष्टि में रखकर किया

जाता है ।

(क) मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का सम्बन्ध रंगमंच में पात्रों के चरित्र-चित्रण से है । चरित्र-चित्रण व्यक्तित्व से सम्बद्ध होता है तथा व्यक्तित्व मनोविज्ञान पर आधारित रहता है । इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा ने मनोविज्ञान के विश्लेषण पर गहराई से विचार किया है । यह इतना पूर्ण है कि मैं उसे यथावत् उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता । --" पहला पक्ष व्यक्तित्व के संस्कारों से सम्बन्ध रखता है, जो उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं । ये संस्कार उसने अपने वंश से उत्तरदायित्व के रूप में प्राप्त किये हैं,जो उसके रक्त में है । ये बड़ी कठिनाई से बदलते हैं। वैभव और विपत्ति में भी ये व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ते और अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ते हैं । एक बनिये का लड़का जिस आसानी से एक दुकान चला सकता है, उस आसानी से एक ब्राह्मण या कायस्थ का लड़का नहीं । चरित्र-चित्रण में संस्कारों की यही दृष्टि व्यक्तित्व का वास्तविक चित्रण कर सकती है । 'अजातशत्रु' नाटक में भी जयशंकर प्रसाद ने पात्र के संस्कारों पर बड़ी गहरी दृष्टि रखी है । मागन्धी दरिद्र कन्या है, अतः राजमहिषी होने पर भी उसकी क्षुद्रता नहीं गयी और वह काशी में जाकर वार-विलासिनी बनी । + + + + इस प्रकार संस्कार मेरुदण्ड बनकर पात्र की अपनी स्थिति में स्वाभाविकता प्रदान करता है । मनोविज्ञान का दूसरा पक्ष परिस्थितियों के प्रभाव से सम्बन्ध रखता है । पात्र के संस्कारों पर जब परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है तो वे अपना विकास करने लगते हैं । यदि प्रभाव संस्कार के अनुकूल होता है तो पात्र उचित या अनुचित दिशा में सरलता से विकास करने लगता है । यदि यह प्रभाव संस्कार के प्रतिकूल पड़ता है तो पात्र में अन्तर्द्वन्द या मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है । इससे पात्र के मनोविज्ञान के भीतर का एक-एक पार्श्व झलकने लगता है ।"

इस प्रकार नाटक के पात्र का मनोविज्ञान इतना मुखर होना चाहिए कि कार्य ही उसकी दिशा बन जाय । रंगमंच पर अभिनेता पात्र के मनोविज्ञान में पूरी तरह डूबता है । उसे वह अपना अभिनय नाटकीय पात्र के मनोविज्ञान के आधार पर निर्दिष्ट रूप से करना चाहिए । अभिनेता अपना व्यक्तित्व नाटकीय पात्र के मनोविज्ञान के साथ जितनी सफलता से व्यक्त कर सकेगा , उतनी ही प्रभविष्णुता के साथ वह अभिनय प्रस्तुत करने में सफल हो सकेगा । पात्र-मनोविज्ञान की परख नाटककार तथा सूत्रधार दोनों के लिए परम आवश्यक है ।

(ए) संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व

संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व पात्र में मनोवैज्ञानिक गतिरोध के कारण उत्पन्न होता है । जब दो विरोधी संस्कारों के पात्र एक साथ आ जाते हैं, तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । जन्मजात एवं पारिवारिक संस्कारों के अतिरिक्त पात्र पर बाह्य परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है । इस प्रकार एक ही पात्र दो विविध भावधाराओं में बहने वाला बन जाता है । ऐसी परिस्थिति में पात्र कभी किसी प्रतिकूल परिस्थिति में उलझ जाता है तो निर्णायक बुद्धि के अभाव में उसमें अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होजा जाती है । यदि संस्कार तथा प्रभाव विपरीत दिशा में चलते हैं तो सम्पूर्ण जीवन संघर्ष-स्थल बन जाता है । इसका रेखा-चित्र डा० रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार दिया है ।

पात्र का मनोविज्ञान

संस्कार प्रभाव
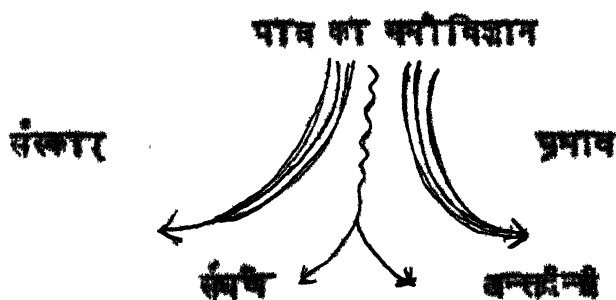
संघर्ष अन्तर्द्वन्द्व

इस प्रकार संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व पात्रों के संस्कारों तथा प्रभावों का प्रतिफलन है और इस प्रकार पात्र का जीवन-रेखा-क्रम सम अथवा विषम परिस्थितियों में चलता है । इसी को डा० वर्मा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं— "जब संस्कार और प्रभाव विपरीत दिशा में चलते हैं तो बाहरी जगत में संघर्ष और अन्तर्जगत में द्वन्द्व उत्पन्न होता है । वह क्रान्ति करता हुआ किसी निश्चित उद्देश्य पर आत्म बलिदान भी कर सकता है । स्कन्द गुप्त आरम्भ से ही गुप्त साम्राज्य का सैनिक राजकुमार था, किन्तु देश की परिस्थितियों ने उसे प्रकृति का अनुचर और नियति का दास बना दिया । अन्त में देवसेना की अस्वीकृति से उसने जीवन भर कौमार्य व्रत ही धारण किया । अन्तर्द्वन्द्व से आक्रान्त ऐसा पात्र गतिशील(   ) कहा जायेगा ।"[१]

नाटक की कथावस्तु में नाटकीयता लाने में एवं पात्र के चरित्र-चित्रण में संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व का विशेष महत्व है ।

६ - सम्वाद

रंगमंच के नाटकों में संवाद संक्षिप्त और व्यंजनापूर्ण होने चाहिए । कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभावशाली विचार हों, जिनसे पात्र का चरित्र साकार हो उठे । संवाद को स्वाभाविक होना आवश्यक है । रंगमंच पर संवादों की स्वाभाविकता की माँग के कारण ही, संवादों में से पद्य का प्रयोग समाप्त हुआ, साथ ही 'स्वगत' का भी बहिष्कार कर दिया गया । संस्कृत नाटक के आकाश-भाषित जनान्तिक तथा अपवारित भी स्वाभाविकता के आग्रह से बहिष्कृत कर दिए गए ।

संवाद में भावुकता तथा मनोरंजन भी अपेक्षित है । संवादों का विकास मनोविज्ञान के समानान्तर हो । मनोवैज्ञानिक संवाद अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न स्थलों में तथा स्वाभाविक होने से कथावस्तु के विकास में

---

१. डा० रामकुमार वर्मा '[illegible] के स्वर', भूमिका, पृ० च ।

सहायक होते हैं । अभिनेय संवादों में गतिशीलता अपेक्षित है ।यह गति नदी की लहरों की भाँति ही जो क्रम से क्रम चलकर प्रवाह का संकेत दे सके ।

मंच पर लम्बे संवादों की योजना अभिनेता के लिए सुखद सुग्राह्य नहीं होती । वे नायक के तीर के समान रहें जो देखने में छोटे हों पर प्रभाव में 'गम्भीर' ।संक्षिप्त संवादों का प्रयोग अभिनेता प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकता है,जिसमें उसकी भाव-भंगिमा तथा मुद्रा का उपयोग होता है ।

(ख) अभिनय-मुद्रा-गति

नाटक में कायिक,वाचिक, आहार्य तथा सात्विक चार प्रकार का अभिनय प्रयुक्त होता है । कायिक अभिनय द्वारा अभिनेता आंगिक प्रक्रियता रंगमंच पर बनाये रखता है । वाचिक अभिनय में पात्र संवादों का अभिनेयता रूप में अधिक स्पष्ट करता है । आहार्य अभिनय उचित रूप सज्जा से सम्बन्ध रखता है तथा सात्विक अभिनय का सम्बन्ध सूक्ष्म मुख-चेष्टाओं से है । अतः अभिनय द्वारा ही सम्वाद योजना समुचित रूप ग्रहण कर पाती है ।

मुद्रा से अभिप्राय मुख एवं अंग मुद्राओं से है,जिन्हें रंगमंच पर पात्र अपनी स्थिति तथा भावाभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत करता है । क्रोध में भौंहें से चढ़ना, शोक में अंग-संकोच,प्रसन्नता में उत्साह भाव अभिनेता इस प्रकार अपनी मुखाकृति से स्पष्ट करता है कि दर्शक वस्तुस्थिति समझने में सक्षम हो जाता है । संवाद के सन्दर्भ में गति से अभिप्राय स्वाभाविक अभिनेय तथा प्रभावपूर्ण कार्यों से है जो पात्र के चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करते हुए नाटक की कथावस्तु का उद्घाटन करने में सक्षम होते हैं । संवादों के संबंध में विनोद,व्यंग्य,हास्य तथा अभिव्यंजना पर भी विचार रखा जाता है ।

(ङ) विनोद, व्यंग्य, हास्य, अति रंजना

ये सभी हास्य के रूप हैं भले ही इनमें कुछ अन्तर हो । रंगमंच के विभिन्न आयामों में इनका विशेष महत्व है । हिन्दी नाटकों में हास्य की बहुत कम स्थितियाँ प्राप्त होती हैं । संस्कृत नाटकों में हास्य की अवतारणा के लिए विदूषक की स्थिति थी । यह हास्य की उत्पत्ति स्थूल उपकरणों द्वारा करता था । उसके आचरण से कथावस्तु का शायद ही विकास होता हो । भारतेन्दु काल में अंग्रेजी शासन के खोखलेपन पर तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य नाटक लिखे गये । द्विवेदी युग में जी०पी० श्रीवास्तव ने मोयलियर के हास्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया । कुछ नाटक इस भावधारा के अन्तर्गत कुछ नाटक मौलिक रूप से भी लिखे गये । आज का जीवन संघर्षमय है । नाटकों में कुंठा, भय तथा त्रास चित्रित किये जाते हैं । ऐसी विरोधी स्थिति में भी कभी-कभी हास्य गहन संत्रास के मेघों के बीच चमक जाता है । आचार्य भरत ने हास्य के दो भेद-- १- आत्मस्थ, २- परस्थ किये हैं । जब पात्र स्वयं हंसता है तो आत्मस्थ और जब दूसरों को हंसाता है तो परस्थ होता है । इसकी व्याख्या पण्डितराज जगन्नाथ ने दूसरे ढंग से प्रस्तुत की है । उनके अनुसार हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, उसे आत्मस्थ तथा और अन्य को हंसता हुआ देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है उसे परस्थ कहते हैं । प्रभाव की दृष्टि से हास्य उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार का होता है । इनको भी स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित छः भागों में विभक्त किया गया है । इन छः भागों को भी आत्मस्थ तथा परस्थ दो-दो भागों में बांट कर बारह भेदों में स्पष्ट किया गया है ।

स्मित हास्य रंजित मन्द मुस्कान को कहते हैं-हसित में मुस्कान के साथ दन्तावलि दीखती है, विहसित में मन्द ध्वनि के साथ मधुर

शब्द भी होता है, अवहसित में सस्वर मधुर शब्द के साथ शरीर संचालन होता है, अपहसित में शरीर संचालन के साथ हर्षाश्रु निकलते हैं तथा अतिहसित में हर्षाश्रु के साथ ताली तथा अट्टहास भी होता है ।[१]

डा० रामकुमार वर्मा ने हास्य के दस भेद किये हैं —

हास्य
- सहज — विनोद, अट्टहास
- दृष्टि विकार — अतिरंजना, विद्रूप
- भाव विकार — परिहास, उपहास
- ध्वनि विकार — व्याजोक्ति, वक्रोक्ति
- बुद्धि विकार — व्यंग्य, विकृति

उन्होंने इनकी व्याख्या भी प्रस्तुत की है । डा० वर्मा ने इन सभी भेदों पर अनेक एकांकी लिखे हैं । 'रिमझिम' एकांकी संग्रह में उन्होंने इसकी तालिका प्रस्तुत की है कि उनका कौन सा नाटक हास्य की किस कोटि में आता है ।

इस प्रकार रंगमंच पर हास्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । हास्य का प्रयोग कथावस्तु से सम्बद्ध होकर ही रहे, अन्यथा वह कथावस्तु में शिथिलता उत्पन्न करने वाला होगा । भाषा पर विचार करना भी आवश्यक है ।

---

१. डा० रामकुमार वर्मा : 'रिमझिम', पृ० १३ ।

३- भाषा - शैली

(क) पात्रानुकूल भाषा

नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में दो मत हैं— एक मतानुसार भाषा एक सी रहे, जिसके द्वारा कथावस्तु की सम्पूर्ण रोचकता एक रूप में सभी दर्शकों के पास पहुंचायी जा सके । इस मान्यता के अनुसार विदेशी पात्र भी एक-सी ही भाषा प्रयुक्त करेंगे । श्री जयशंकर प्रसाद के नाटकों में इसी मान्यता के आधार पर एक सी ही भाषा सभी पात्रों द्वारा प्रयुक्त हुई है । दूसरा मत यह है कि संवादों की भाषा पात्रों के व्यक्तित्व की स्वाभाविकता के अनुरूप होनी चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति अपनी एक विशिष्ट शैली में बात करता है । इस विशिष्टता का प्रयोग रंगमंच पर भी किया जाना चाहिए । इससे नाटक में रस का उद्रेक होता है तथा कुतूहल को बल मिलता है । विदेशी पात्र की भाषा शैली अपनी विशेषता लिये होगी । इसी प्रकार सामान्य पात्र की भाषा सरल तथा गम्भीर पात्र की भाषा गम्भीर होगी । यह दूसरा ही मत नाटकीय दृष्टि से अधिक स्वाभाविक है । पात्रानुकूल भाषा ही अभिनेय नाटकों के लिए अपेक्षित है । भाषा का एकता रूप नाटक में अभिनय की दृष्टि से अस्वाभाविकता की सृष्टि करता है ।

उपर्युक्त सभी दृष्टियों से नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है । इस एक सन्दर्भ में डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है — "यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नाटक साहित्य का सगुण रूप है । जिसप्रकार निराकार ब्रह्म अपने वैभव का अभिज्ञान अवतार के माध्यम से भक्त को कराता है, उसी प्रकार साहित्य का सौन्दर्य रंगमंच पर अवतरित होकर नाटक के रूप में प्रकट होता है"[1] ।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "विजय पर्व", पृ०१२

नाटक को रंगमंच से अलग करके उसपर विचार करना असंगत है । रंगमंच से ही वह उत्पन्न हुआ है और वहीं उसे पूर्ण अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए । सभी श्रेष्ठ नाटकों की रचना अपने समय की रंगशालाओं में समकालीन दर्शकों के सम्मुख अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करने के लिए ही की गयी है थी । महान लेखकों के सभी नाटक अभिनय के लिए ही लिखे गये हैं । वे प्रस्तुत रूप से रंगमंच के लिए तैयार न किये गये हैं ।

कहना न होगा कि प्राण और शरीर की भाँति नाटक और रंगमंच का संयुक्त रूप ही इन दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट कर सकता है । ऐसी स्थिति में रंगमंच का विस्तार नाटक से सानुपातिक रूप से ही हो और नाटक में ऐसी घटनाओं का ही उल्लेख हो जो रंगमंच पर व्यवस्थित रूप से उपस्थित की जा सके । नाटक में जितना अधिक दृश्य भाग होगा उतना ही वह सफल होगा । दृश्य के आधार पर ही नाटक रंगमंच पर अभिनीत होते हैं ये अपने दृश्य-विधान में अद्भुत रखते हैं । यह सम्भव है कि नाटक के दृश्यों का संकेत व्यंजना के आधार पर हो । पर दृश्य और व्यंजना में अन्तर है । व्यंजना से नाटकीय कथावस्तु विकसती है तथा दृश्य से अद्भुत अंशों की पूर्ति की जाती है । अतः रंगमंच पर दृश्य-विधान यदि अपने पूर्ण रूप में व्यंजना के साथ स्पष्ट होगा तो रंगमंच की प्रभावोत्पादकता बढ़ सकती है ।

मंचविधान से नाटक की संयोजना या रूप में किसी भी देश की सर्वोत्तम कला मानी जा सकती है ।

—o—

अध्याय — ४

हिन्दी नाटकों का अध्ययन (१९२७-१९३०ई०)

१- पारसी रंगमंचीय नाटक

२- लोक नाटक

३- साहित्यिक नाटक

अध्याय --४

हिन्दी नाटकों का अध्ययन (१९२०-१९३०ई०)

हिन्दी नाट्य साहित्य के अन्तर्गत यह काल पं०महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में आता है । इस युग में हिन्दी नाटकों की परम्परा में कोई नया अध्याय नहीं जोड़ा गया । भारतेन्दु काल से चली आ रही नाट्य-परम्परा ही क्षीण रूप से विकास पाती रही । इस काल में संस्कृत-बंगला तथा अंग्रेजी से अनेक नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया । ये नाटक यद्यपि अभिनेय थे, तथापि इनका मंचन नहीं के बराबर हुआ। इनका महत्व इसी में है कि बाद के हिन्दी नाटकों पर इनके शिल्प का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस काल में मौलिक रूप से जिन हिन्दी नाटकों की रचना की गयी वे तीन रूपों में प्राप्त होते हैं :-

१- पारसी रंगमंचीय नाटक ।

२- लोक नाटक ।

३- साहित्यिक नाटक ।

इन्हीं तीनों प्रकार के नाटकों का रंगमंच की दृष्टि से अध्ययन करना आवश्यक है । सर्वप्रथम पारसी रंगमंचीय नाटकों पर विचार प्रस्तुत है

१- पारसी रंगमंचीय नाटक

यह एक विचारणीय विषय है कि इन्हीं नाटकों को रंगमंचीय नाटक क्यों कहा जाता है, जब कि सभी प्रकार के नाटक रंगमंच की बीजधर रहे हैं । हिन्दी के अनेक विद्वानों ने पारसी रंगमंच की

आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गये नाटकों को रंगमंचीय नाटक के नाम से पुकारा । यद्यपि दूसरे प्रकार के स्वतन्त्र रूप से लिखे गये नाटकों को भी अरंगमंचीय नहीं कहा जा सकता । रंगमंचीय नाटक एक विशेष विधा के नाटक हैं । उस समय पाठ्य-नाटक भी लिखे जाते थे, किन्तु जो नाटक शैली के लिए ही लिखे गये अथवा पारसी रंगमंच के लिए लिखे गये, उन्हें रंगमंचीय नाटक कहा गया । डा० देवर्षि सनाढ्य के शब्दों में —'इस प्रकार के नाटक रंगमंच के लिए हैं । यह स्वीकार करते हुए भी केवल रंगमंच के उपयोग को ध्यान में रखकर लिखे गये नाटकों को रंगमंचीय विशेषण देना पड़ा और शेष को अरंगमंचीय न कहकर भी इस विशेषण से युक्त नहीं किया गया, क्योंकि यह ऐसे नाटक लिखे गये, जिनमें रंगमंचीय गुण न थे ।'[1]

अत: रंगमंचीय विशेषण रूढ़िगत अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह एक विशेष कला, विशेष गुणों से युक्त नाटक हैं, जिनका युग बीत चुका है ।

<u>रंगमंचीय नाटकों की शिल्पगत विशेषताएं</u>

ये नाटक साहित्यिक स्तर से बहुत गिरे हुए होते थे । इनमें मनोरंजन भी बहुत निम्नकोटि का होता था । इनके भाव सामान्य तथा भाषा सरल है । सम्वाद पद्यमय शैली में प्रश्नोत्तर रूप में रहते हैं । कथन अस्वाभाविक रहते हैं, जिनमें गाली तथा अपमान के [illegible] मिलाये जाते हैं । इनके कथनों को सुनकर हृदय चमत्कृत हो उठता है । इन नाटकों में 'अलौकिक' को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है । यह 'अलौकिक' इस रूप में है 'भक्त प्रह्लाद' नाटक में हिरण्यकश्यप के सिर का ताज गायब होकर प्रह्लाद के सिर पर आ जाता है अथवा हिरण्य कश्यप की तलवार टूट जाती है और उसका दूसरा भाग बैकुण्ठ में भगवान विष्णु के हाथ में दिखाई देता है ।

'अलौकिक' के अतिरिक्त इनकी दूसरी विशेषता घटनाओं

---

1 डा० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री : 'हिन्दी के पौराणिक नाटक', पृ०२९८

की भाड़ है । विरोधी स्वभाव वाले दो अथवा दृश्यों को भी उनमें रखा जा सकता है । सभी प्रकार के नाटकों के लिए एक ही रंगमंच सजाया जाता है । देश-काल तथा पात्र की भिन्न विशेषताओं का चित्रण इन नाटकों में नहीं रहता । प्रत्येक पारसी कम्पनी अपना वेतनभोगी लेखक रखती थी, जिससे अपनी सुविधानुकूल नाटक लिखवाती थी, जिससे धनोपार्जन अधिक हो सके । इसीलिए इन नाटकों में 'सीन सीनरी' के साथ चमत्कारिक दृश्यांकन और कुतूहल पूर्ण कथानक की योजना रहती थी । ये नाटक सस्ते,कामुक तथा बाजारू थे । उनमें कोई सुरुचि तथा उच्च भावना नहीं था । आगे चलकर आगाहश्र कश्मीरी तथा पं०राधेश्याम कथावाचक ने कुछ उत्कृष्ट नाटक लिखे । इनके अतिरिक्त पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' , कृष्ण चन्द्र जेबा, तुलसीदास शैदा तथा हरिकृष्ण जौहर के नाम भी उल्लेखनीय हैं । हिन्दी के नाटक जिन्हें कहा जा सकता है वे आगाहश्र कश्मीरी तथा पं०राधेश्याम कथावाचक के ही हैं । अतःयही यहां अध्ययन के विषय हैं । इससे पहले कि इन दोनों लेखकों के उत्कृष्ट नाटकों का अध्ययन किया जाय पारसी रंगमंच की व्यवस्था पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है :

मंच सज्जा

पारसियों के पास स्थायी तथा परिभ्रामक दोनों प्रकार के मंच थे । कलकत्ता व तथा बम्बई जैसे बड़े शहरों में इनके स्थायी मंच थे जो मेलों तथा अन्य विशिष्ट स्थानों पर परिभ्रामक मंच सजाये जाते थे ।पारसी नाटकों का दृश्यविधान लगभग एक-सा रहता था । प्रत्येक नाटक में तीन अंक तथा प्रत्येक अंक में सात से नौ तक दृश्य होते थे । ये दृश्य घर,जंगल, मार्ग ,महल,तीर्थस्थान,राजमहल तथा किसी मन्दिर के होते थे । ये दृश्य दृश्य-पटों पर ही प्रदर्शित किये जाते थे । दृश्य-पटों की व्यवस्था कम्पनी स्वयं करती थी । इस प्रकार पारसी रंगमंच की सज्जा वस्त्र,बांस,बल्ली तथा दृश्य-पटों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम थी ।

स्थायी मंच

बड़े-बड़े शहरों में ये मंच होते थे, जो चारों ओर से बन्द रहते थे । इनके दृश्य-पट तथा अन्य मंच सामग्री परिभ्रामक मंच की अपेक्षा अच्छी रहती थी । इनमें दर्शकों के बैठने की सुविधा का ध्यान रखा जाता था तथा ध्वनि,प्रकाश और रूपसज्जा की अच्छी व्यवस्था होती थी । इनका रंगमंच विशाल होता था,जिसपर फिल्मी मंच की भाँति सभी प्रकार की स्थितियाँ चमत्कार रूप में प्रदर्शित की जानी संभव थीं ।

परिभ्रामक मंच

यह रंगमंच किसी बड़े चबूतरे पर तख्त बिछाकर बल्लियों के सहारे बनाया जाता था । यह खुला हुआ और कनातों से घिरा हुआ दोनों रूप में मिलता है । सुविधापूर्ण दो-चार दृश्यपटों के सहारे ही मंचन होता था । कुर्सी अथवा चारपाई ही मंच सामग्री होती थी । दर्शकों के लिए बड़ी-बड़ी दरियाँ बिछायी जाती थीं अथवा वे अपने बैठने का प्रबन्ध स्वयं करते थे । प्रकाश के लिए गैस लालटेनों का प्रबन्ध होता था ।

नक्कारा,ढोलक और हारमोनियम तबला रंगमंच के आवश्यक वाद्य थे । बीच में किसी राजा या रईस की कल्पना करके नृत्य भी उपस्थित किया जाता था । इस प्रकार पारसी रंगमंच स्थानों के अनुसार विशिष्टता रखता है ।

आगाहश्र कश्मीरी

ये एक अच्छे नाटककार ही नहीं, सफल अभिनेता भी थे । इनके नाटकों में 'शहीदेनाज','मीठीछुरी','ख्वाबेहस्ती','ठण्डी आग' 'खूबसूरत बला','तुर्की हूर','बनकुमारी' तथा 'आँख का नशा' अधिक सफल हैं । आगाहश्र कश्मीरी ने अपने नाटकों में उर्दू की गज़लों के साथ-साथ हिन्दी

गानों को भी रखा । इनके नाटकों में अधिकतर उर्दू शैली का प्रयोग है ।

नारायण प्रसाद "बेताब"

पं० नारायण प्रसाद ने "पत्नी प्रताप" नाटक की रचना की । इस नाटक में प्रारम्भ में नट-नटी को रखा गया है । अंक तथा दृश्यों के स्थान पर इस नाटक में प्रवेश रखे गये हैं । नाटक में तीन प्रवेश हैं । इनमें मकान, स्वर्ग, आश्रम, जंगल, झुलोघर, बगीचा, कैलाश पर्वत तथा इन्द्रासन आदि के उपप्रवेश हैं ।

कथावस्तु को पाँच छः घण्टे तक अभिनीत करने के लिए नाटक में नृत्य तथा हास्य-व्यंग्य के प्रसंग रखे गये हैं । हास्य की अवतारणा में मुख्य कथानक डूब जाता है । ऋषियों की पत्नी अनुसूया ने रेखा को स्वर्ग भेज दिया तो त्रिदेव पत्नियाँ अप्रसन्न हो गयीं तथा अनुसूया को नीचा दिखाने का उपक्रम करने लगीं । अन्त में उन्हीं को नीचा देखना पड़ा । इस कथानक में असम्बद्ध उपकथानक जोड़े गये हैं, जिससे नाटक में शिथिलता आ गयी है ।

इस नाटक के सम्वाद अधिक अभिनेय हैं ।

मृदंग — ठेरो मुझे पेशगी अदबान करने दो ।

क — यह क्या करता है कम्बख्त ।

मृदंग — भूख बहुत लगी है ।

क — तो भूख का मसाला नटी के करों में मौजूद है ।

बेताब की भाषा सरल तथा मिश्रित है । उर्दू तथा फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग है ।

पं० राधेश्याम कथावाचक

इनके अनेक नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए । इनकी लोकप्रियता का प्रधान कारण यह है कि इनमें उन्होंने बाजारू वातावरण की अपेक्षा भारतीय वातावरण की पवित्रता की चेष्टा की गयी है । इनके "वीर अभिमन्यु"

'श्रवणकुमार' आदि नाटक खेले गए हैं । इन नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

'वीर अभिमन्यु' नाटक

दृश्यविधान -- इस नाटक का कथानक महाभारत की कथा से लिया गया है । इसके प्रथम दृश्य में अर्जुन रथारोहण हैं, जिसे कृष्ण चला रहे हैं । दूसरे, तीसरे तथा चौथे दृश्य क्रमशः कौरवों, पाण्डवों के शिविरों तथा युद्धस्थल में खुलते हैं । दृश्य एक ही बना रहता है, उसमें पाण्डवों के आने पर पाण्डवों का शिविर तथा कौरवों के आने पर कौरवों का शिविर माना जाता है । यही दृश्य युद्ध स्थल की भी अनुभूति देता है । दृश्य में अभिनेता परिवर्तित होते हैं, मंच सामग्री नहीं । दृश्यान्त में आगामी दृश्य की सूचना दे दी जाती है तथा सम्वादों द्वारा इच्छित दृश्य की पूर्ति कर ली जाती है । इसी पद्धति के आधार पर युद्धस्थल से लेकर जनाने डेरे तथा विदूषक के गृह के दृश्य भी इंगित कराये जाते हैं ।

दूसरे अंक में मार्ग उत्तरा के शयनकक्ष, पाण्डवों का डेरा श्रीकृष्ण का डेरा, कैलाश, जंगल, श्मशान तथा युद्धस्थल के दृश्य हैं । इन सभी दृश्यों की प्रस्तुति किंचित् अन्तराल के उपरान्त एक ही स्थल पर एक ही पर्दे पर की जाती है । सुविधापूर्वक प्रतीक तथा यथार्थ रूप से दृश्य बनाये जाते थे । तीसरे अंक के दृश्य भी इसी प्रकार हैं । अन्त में राजा परीक्षित के राज्याभिषेक का एक विशेष दृश्य रखा गया है । इसको बनाने में भी विशेष कठिनाई नहीं होगी - कुछ चौकियों तथा आसन्दिकाओं से काम चला लिया जायगा । इस प्रकार इन नाटकों की दृश्य सज्जा सुविधापूर्वक प्राप्य सामग्री द्वारा निर्मित की जाती थी । स्थिति-परिवर्तन मान्यता के आधार पर ही है ।

वस्तु संगठन

पौराणिक कथाएं भारतीय जन-मानस के लिए सुपरिचित कथाएं हैं । इन कथाओं और रंगमंचीय नाटकों का ढांचा इस प्रकार खड़ा करना पड़ता था कि पांच या छ: घण्टे तक दर्शक बिना ऊबे रात्रि में बैठे रह सकें, साथ ही यथेष्ठ मनोरंजन भी हो सके । बहुधा इन नाटकों में संकलनत्रय पर ध्यान नहीं दिया जाता । स्थान ऐक्य पर अवश्य इन लोगों की दृष्टि रहता है । 'वीर अभिमन्यु' नाटक में चक्रव्यूह संरचना से लेकर जयद्रथ वध तक की कथा समेटकर नाटककार ने समय की एकता पर भी ध्यान दिया, पर परीक्षित राज्याभिषेक की कथा को सम्मिलित कर उसने कथावस्तु के संगठन में एक लम्बी छलांग मारी है । रंगमंचीय नाटकों के दर्शक इस अन्तराल को बहुत आसानी से लांघ जाते हैं । वे हास्य प्रसंगों में इतने डूबे रहते हैं कि उन्हें कथावस्तु के बिखराव का ध्यान ही नहीं रहता ।

'वीरअभिमन्यु' नाटक में संस्कृत नाटकों की विदूषक पद्धति का प्रयोग भी किया गया है । अभिमन्यु जितना वीर है, राजबहादुर एक काल्पनिक पात्र उतना ही डरपोक तथा डींग हांकने वाला है । वीर अभिमन्यु से अधिक उसी की मंच-उपस्थिति दर्शक चाहते हैं । इस नाटक में राजबहादुर तथा उसकी पत्नीसुन्दरी को लेकर अनेक हास्यपूर्ण सृष्टियां की गयी हैं । गांव में राजाबहादुर अभिमन्यु की भांति ही प्रसिद्ध चरित्र बन गया है । इस प्रकार रंगमंचीय नाटकों की कथावस्तु काल्पनिक प्रसंगों को भी मनोरंजनार्थ मुख्य कथानक के साथ जोड़कर चलती थी । उसका दर्शकों का संगठन था कथावस्तु का नहीं ।

सम्वाद विधान

रंगमंचीय नाटकों का संवाद विधान चलती भाषा में वृत्तान्त पद्धति पर लिखा जाता था । वृत्तान्त सम्वाद के अन्त में उसका

सार गेय पदावली में पढ़ा जाता था । 'वीर अभिमन्यु' नाटक का सम्वाद-विधान भी रंगमंचीय नाटकों के सम्वाद-विधान के आधार पर हा है । स्वगत-कथन सम्वाद विधान का ही एक अंग है । यह एक पात्र अकेले में भी बोलता है तथा अन्य पात्रों के साथ भी । एकान्त में जो स्वगत-कथन एक ही अभिनेता द्वारा होता है वह अपेक्षाकृत लम्बा होता है तथा उसमें हृदय का द्वन्द्व उभरता है । अन्य पात्रों अथवा परिस्थितियों से जो मतैक्य या मत-पार्थक्य रहता है, उसी का स्पष्टीकरण अभिनेता अपने इस कथन में करता है । दूसरे पात्रों के समक्ष बोला गया स्वगत-कथन अभिनेता यह मानकर कहता है कि पास के पात्र नहीं सुनते हैं । पुन: उनके द्वारा पूछे जाने पर अपना पूर्व कथन रूप से बदलकर कुछ बताता है और इस युक्ति पर दर्शकों का मनोरंजन हो जाता है । इस प्रकार रंगमंचीय नाटकों के सम्वाद अधिकतर मनोरंजन के आधार पर ही लिखे जाते थे । उक्त विशेषताओं का प्रयोग नाटक 'वीर अभिमन्यु' में है ।

<u>रंगसूचनाएं एवं नाटकीयता</u>

स्थूलता इन नाटकों की देन है । इनमें आंगिक तथा वाचिक दो ही प्रकार के अभिनय उभारे जाते हैं । संघर्ष और द्वन्द्व के अभाव में सात्त्विक अभिनय रंगमंचीय नाटकों में नहीं उभर पाता है । आहार्य अभिनय इन नाटकों में शिथिलता होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाता । हास्य अभिनेता अनेक प्रकार की असंगत वेशभूषा धारण करता है । वह अपनी वेशभूषा में किसी प्रकार का नियम नहीं मानता-दर्शकों को हंसाना ही उसका उद्देश्य रहता है ।

'वीरअभिमन्यु' नाटक में कुछ सूचनाएं इस प्रकार हैं--

मुकुट को चमकाते हुए आना, तलवार निकाल कर, गर्भवती होने का ढोंग करती है टीका लगाती तथा हार पिन्हाती है ।" इसी प्रकार मूर्च्छित हो जाना, अर्जुन का आना, टूटे हुए रथ से कूद कर तथा चम्पा को

पीठ पर हाथ मार कर आदि ।

पात्र-विधान

"वीर अभिमन्यु" नाटक में नट, दरबारी राजा, सैनिक तथा देवताओं को लेकर कोई ५० पात्र हैं । इनमें चालीस पुरुष तथा दस स्त्री पात्र हैं । यह पात्र कथानक में संवेदना उभारने के लिए नहीं, बल्कि चमत्कार उभारने के लिए रखे गये हैं । साधु-सन्यासियों का पोलपट्टी तथा गांव के गायकों की सृष्टि भी मुख्य कथानक से हटकर की जाती थी, जिसका अभिप्राय दर्शकों को प्रसन्न करना ही मात्र रहता था । राजाबहादुर सटपट, करमचन्द साधु तथा मुहल्लेवाले और गुण्डों इत्यादि की अवतारणा भी "वीरअभिमन्यु" नाटक में इसी आधार पर की गयी है । ये सभी पात्र महाभारत काल के नहीं हैं । कलात्मकता रंगमंचीय नाटकों के लिए अपेक्षित एवं आवश्यक नहीं समझी गई । अतः ऊपर से जुड़ी हुई होने पर ये घटनाएं इन नाटकों के साथ सम्बद्ध कर दी गई हैं ।

"वीर अभिमन्यु" नाटक दर्शकों को बहुत भाया । इसमें वीर रस मुख्यरूप से वर्णित है । साथ ही हास्यरस के लिए पर्याप्त अवकाश प्राप्त है । अतः नाटक अपने प्रभाव में अधिक सफल रहा और सम्पूर्ण उत्तरभारत में इसके असंख्य मंचन हुए ।

पण्डित राधेश्याम कथावाचक ने अन्य पौराणिक नाटक भी लिखे । उनमें भी वीर अभिमन्यु की भांति रंगमंचीय नाटकों की शिल्पगत विशेषताओं का उपयोग किया गया है । एक-दो नाटकों का उदाहरण प्रस्तुत करना अपेक्षित है । इनके "श्रवणकुमार" तथा "उषा अनिरुद्ध" नाटक भी प्रसिद्ध हैं । "श्रवणकुमार" नाटक का प्रारम्भ संस्कृत नाटकों की परिपाटी पर हुआ है । नट-नटी प्रारम्भ में आते हैं तथा नाटक के अभिनय की सूचना देते हैं । अंकों तथा दृश्यों में बंटा हुआ यह नाटक भी अपने दृश्य-विधान का निर्देश रखता है । प्रारम्भ में चित्रकार दृश्य का संकेत नाटककार ने दिया है ।

[illegible] [illegible] का दरबार, सिंहासन पर राजा दशरथ बैठे हैं, एक ओर गुरु वशिष्ठ तथा एक ओर मन्त्री व दरबारी बैठे हैं ।

इसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यों का अंकन किया गया है ।

वस्तु संगठन

'श्रवणकुमार' नाटक का वस्तुसंगठन शिथिल है । कथावस्तु अयोध्या, प्रयाग, काशी, बदरीनारायण तथा पुनः अयोध्या तक फैली है । श्रवणकुमार तथा उनकी पत्नी की सेवा तथा चारित्रिक विशेषताओं को उभारने के लिए नाटक में विरोधी स्वभाव वाले हास्य दृश्यों का अवतारणा भी की गयी है । चम्पक तथा चमेली के प्रसंग इस नाटक में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रखे गये हैं ।

'उषा अनिरुद्ध' नाटक का वस्तु संगठन भी अन्य नाटकों की ही भांति है । नट-नटी को नाटक के प्रारम्भ में नाटक की विशेषताओं के बताने के लिए इस नाटक में भी रखा गया है । तीन अंकों में विभाजित इस नाटक में भी अनेक दृश्य हैं । दृश्यों की अवतारणा असम्बद्ध से इस नाटक में की गयी है । तीन अंकों में लगभग सत्ताइस दृश्य हैं । यह सभी दृश्य रास्ता, छावनी, बाणासुर का दरबार, महन्त माधोदास का मंदिर तथा उषा का शयनगृह द्वारिकापुरी अनिरुद्ध का शयनकक्ष, उज्जैन का दरबार, हरिमंदिर तथा कारागृह के हैं । इस नाटक का कथानक प्रेमाख्यानक है । इस नाटक में वैष्णव तथा शैवों का आपसी विरोध अधिक उभरा है, मुख्य कथानक दब गया है । यदि मुख्य कथानक जिस प्रेम की आधार-भूमि पर चला था उसी पर विशुद्धरूप से विकसित होता तो यह एक महान् नाटक बन जाता, । मंदिर के पुजारियों, चेलों की मस्ती तथा भक्तों की अज्ञानता का चित्रण इतना मुखर हो गया है कि मूल कथानक का महत्व कम हो गया है । चमत्कारिता इस नाटक का विशिष्ट गुण बन गया है।

पात्र विधान

'श्रवणकुमार' नाटक में उन्नीस पुरुष तथा दस स्त्री पात्र हैं । नट नटी, द्वारपाल, दरबारी, चोबदार, ब्राह्मण, पुजारी, सन्यासी

यमदूत तथा देवता आदि पात्र सम्मिलित किये गये हैं । सभी पात्र अपने-अपने स्थल पर स्वतन्त्र हैं । ये पात्र मुख्य कथावस्तु के विकास में भी सहायक नहीं होते । अपने विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु इनकी सृष्टि होती है तथा उसी विशिष्टता से वे सम्बद्ध हैं ।

सम्वाद

साहित्यिक नाटकों में चुस्त,सुगठित,चरित्रोद्घाटक तथा कथावस्तु को विकसित करने वाले सम्वाद अपेक्षित हैं । रंगमंचीय नाटकों के सम्वाद बातचीत के अधिक निकट रहते हैं । यह सम्वाद व गेय पदावली में तुकान्त रहते हैं । यह सम्वाद कथासूत्र का उद्घाटन करते अवश्य हैं, पर नाटकीयता को नहीं उभारते । नारद तथा नर्तकियों के रूप में गाने भी गाये जाते हैं । गीतों का संयत और परिमार्जित रूप इन गानों में नहीं मिलता है ।

स्वगत तथा रंगसूचनाओं का प्रयोग भी प्रस्तुत नाटक में किया गया है । अन्य नाटकों की भांति ही इसके सम्वाद भी आंगिक तथा वाचिक अभिनय रूपों को ही उभारते हैं । इसमें 'आंख खोलकर' उठकर गाते हुए , प्रसन्न हो कर चिलम चढ़ाकर ,सुदर्शन का पहरे पर होना विभीषण का आना आदि रंगसूचनाएं हैं ।

इस प्रकार पं० राधेश्याम के नाटक अधिकतर पौराणिक हैं इनमें तीन अंक तथा अनेक दृश्य हैं । नाटकों का दृश्य-विधान स्वतन्त्ररूप से किया गया है । पात्रों की सृष्टि मनोरंजनार्थ की गयी है तथा सम्वाद चमत्कारिता को उभारने वाले गेय तथा बातचीत के स्तर के हैं । रंगमंचीय अन्य नाटकों का उदाहरण भी लिया जा सकता है । पर सभी में उपर्युक्त नाटकों की भांति ही विकास तथा शिल्प प्रयोग हुआ है । यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंचीय नाटकों ने हिन्दी नाटकों के लिए पर्याप्त भूमि तैयार कर दी थी । इन्हीं नाटकों के कारण जनता में नाटकों के प्रति

उत्सुकता पैदा हुई । ऐसा लगता है कि समर्थ नाटककार जयशंकर प्रसाद में अच्छे नाटक लिखने की प्रेरणा पारसी नाटकों के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप हो। प्रकट दृश्यविधान की उपयुक्तता का ज्ञान भी हिन्दी नाटककारों को पारसी रंगमंच से ही प्राप्त हुआ ।

आज हिन्दी के पास रंगमंच का अभाव है, पर जब भी वह अपना स्वरूप निर्माण करेगा पारसी रंगमंच का विधान किसी न किसी रूप में आभासित होगा । यदि पारसी रंगमंच का ज्ञान हिन्दी के नाटककार प्राप्त कर लें तो हिन्दी रंगमंच का विकास हो सकता है । पारसी रंगमंच की सफलता का एक कारण यह भी था कि वह गांवों में प्रचलित हो गया था । निश्चित रूप से हिन्दी रंगमंच को भी अपने विकास के लिए पारसी रंगमंच के इस प्रयोग को अपनाना पड़ेगा । पारसी रंगमंचीय नाटकों की परम्परा से हिन्दी नाटकों को हानि नहीं लाभ ही हो सकता है ।

--0--

(२) लोकधर्मी नाटकों की विशेषताएं

सर्वसाधारण की भाषा में अस्थायी मंच पर इनके मनोरंजन के लिए शिल्प की चिन्ता न करते हुए नाट्य रूप प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें लोकधर्मी नाटक कहते हैं । लोकधर्मी नाटक परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है । खेल तमाशों को लेकर भाड़,भंडैती और और नौटंकी भी इसी के अन्तर्गत हैं । लोकधर्मी नाटकों की भाषा आंचलिकता से पूर्णतया प्रभावित होती है । इन लोकधर्मी नाटकों के अनेक रूप मिलते हैं । इनका रेखा-चित्र इस प्रकार है :

---
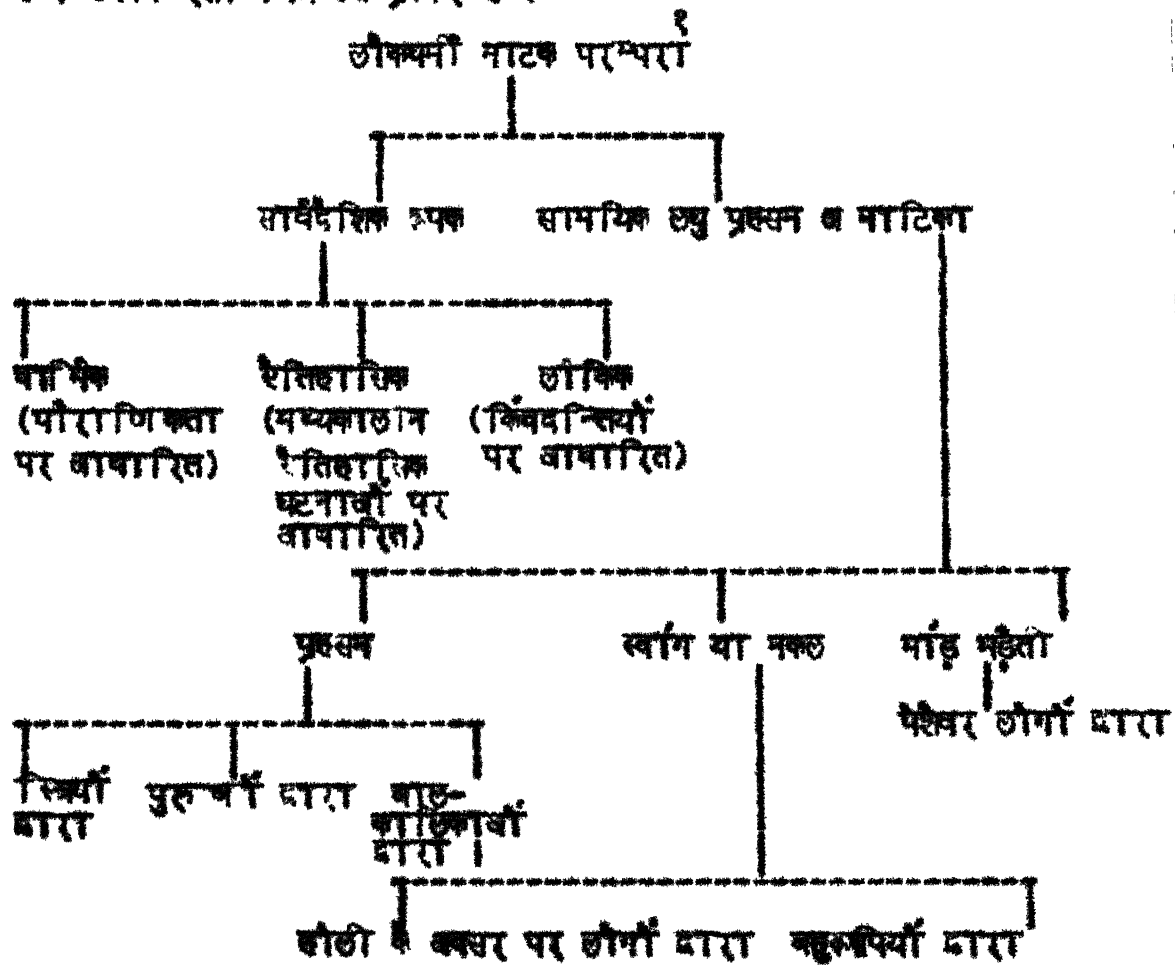
१ लोकधर्मी नाट्य परम्परा — डा० श्याम परमार

जनमानस में मनोरंजन के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। प्रत्येक प्रदेश में यह प्रकार भिन्न-भिन्न नामों और तरीकों से अपनाये जाते हैं। यह अन्तर होने पर भी इन लोकधर्मी नाटकों में कुछ विशेषताएं समान होती हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है --

१- वातावरण

लोक नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है। इनमें गद्य का प्रयोग नहीं के बराबर होता है। यदि गद्य का प्रयोग किया भी जाता है तो उसमें भी लय-तुक और प्रवाह बराबर रहता है। लोक नाट्य समूह के लिए लिखे जाते हैं। ग्रामीण समूह जो विचारों की अपेक्षा मन बहलाव को अधिक महत्व प्रदान करता है, संगीत के द्वारा ही प्रभावित किया जा सकता है। इसी से गद्य का प्रयोग भी इस प्रकार का होता है कि शब्दों की लड़ियां एक-दूसरे से जुड़ी हुई-सी रहती हैं, जिनमें आकर्षण की क्षमता सहज ही रहती है। पद्यमय सम्वादों में यह भी सुविधा रहती है कि वे सहज ही स्मरण हो जाते हैं और कथानक की भावात्मकता हृदय पर छा जाती है। इन लोक-नाट्यों में लोकगीतों की ध्वनियों में गाये जाने वाले अंश अधिक रहते हैं। ये अंश नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। संघर्ष, प्रखरता या गति जैसी कोई चीज इनमें नहीं होती है। प्रश्नोत्तर रूप में अथवा बातचीत के रूप में ही सम्वादों का प्रयोग किया जाता है।

२- कथानक

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि इन लोक-नाटकों का कथानक पौराणिक या ऐतिहासिक ही अधिक रहता है। सामाजिक बहुत कम रहता है। लोक नाटकों के कथानक में वक्रता नहीं होती। छोटे-छोटे प्रसंगों के द्वारा मूल कथा का विकास होता है। कथानक लम्बे रात-रात भर चलने वाले होते हैं। लघु प्रसंगों वाले छोटे

छोटे मनोरंजक प्रसंग भी होते हैं। गावों में गान या मनोरंजन पर ये प्रहसन खेले जाते हैं। लोक-नाटकों के कथानकों में कलात्व का अभाव रहता है। लोक बुद्धि का शिल्प कौशल के परिष्करण से सम्बन्ध नहीं रहता है। पौराणिक कथानकों के प्रति श्रद्धा तथा ऐतिहासिक के प्रति कुतूहल अथवा रागात्मकता की भावना दर्शकों को बांधे रहता है। लोक-नाटकों के कथानक के बारे में श्री जगदीशचन्द्र माथुर के विचार इस प्रकार हैं :

'लोकनाटकों में कथानक प्राय: ढीला ढाला होता है। और पूर्वार्द्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है, उत्तरार्द्ध में उतनी ही द्रुत और स्वाभाविक गति से घटनाओं को ढकेला जा सकता है। किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोक नाटक होते हैं, जिनमें घटनाओं के शिल्प विधान के स्थान पर जीवन की झांकियों की लड़ी होती है। अथवा जिनमें पौराणिक और धार्मिक कथाओं का पूर्ण परिचित दर्शक होता है। स्पष्ट है कि लोक रंगमंच के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नहीं करते हैं। ये प्राय: पहले ही से परिचित होते हैं और इसीलिए कथा से प्राप्त मनोरंजन उसका लक्ष्य नहीं होता बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति उनका प्राप्य होता है।

३- पात्र

कथानक की भांति ही लोक-नाटकों के पात्र भी समाज के जाने माने रहते हैं। इनमें अधिकतर मुस्टंड, दुर्गुणी पति, ढोंगी, साधु कर्कशा औरत आदि पात्र रहते हैं। पात्र चाहे ऐतिहासिक भूमिका में उतरें अथवा पौराणिक भूमिका में वे स्थानीयता के से मुक्त रहते हैं। अयोध्या से लंका जाते समय राम मंच पर दो चार चक्कर लगाते हैं और लक्ष्मण उनके साथ ठिठोली भी करते चलते हैं। निश्चित सम्वादों के अलावा प्रत्येक पात्र क्षमता के अनुसार अपनी ओर से भी कड़ियाँ जोड़कर हास्य उत्पन्न करता चलता है। उपर्युक्त पात्रों की एक रूढ़ अभिनय-परम्परा बन गयी है जिसके अन्तर्गत रहकर ही वह अभिनय करता है और इस परम्परा में आनन्द भी आता है। पूर्व

परिचय रहने के कारण परम्परा आनन्द उपजाने में सहायक होता है । दर्शक पात्रों को कथन कहता एवं अंग संचालन में आनन्द लेते हैं । दर्शक अभिनय को कला की दृष्टि से नहीं, मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं ।

४- प्रसज्जा

लोक नाटकों के प्रसाधनों में लम्बे-चौड़े प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती । इनके लिए प्रसाधन अलंकरणों एवं मकुओं वस्त्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती है । मोहर,कोयला काजल आदि देशी चमक के साधनों से मुंह पोत कर मुखौटा लगाकर अथवा रंगीन वस्त्र पहन कर पात्र मंच पर आते हैं । स्त्री पात्रों की भूमिका में पुरुष पात्र ही घूंघट में मुंह छिपाकर स्त्रियों के आभूषण पहन कर (जो बाहर दिखते रहते हैं) ओढ़नी ओढ़कर पतले गले से बोलते हुए उपस्थित होते हैं ।

५- संगीत योजना

संगीत योजना में ही लोक नाटकों के आकर्षण का रहस्य है। ढोल,झांझ,मंजीरे,करताल,चिकारा,बांसुरी हारमोनियम आदि के अतिरिक्त स्थानीय वाद्य भी रहते हैं । माच में ढोलक तथा नौटंकी में नगाड़े के बिना काम नहीं चलता । संगीत की शैली आंचलिकता से प्रभावित रहती है । ऊंची आवाज में सामूहिक वाद्यों की ध्वनि रहती है । संवादों के बोलचलों के वाद्यों से ही खुलते हैं । उच्च स्वर से पढ़े जाने वाले सम्वाद वाद्यों के अभाव में गले के से पूर्णतया निकलेंगे ही नहीं । लोक नाटकों में वाद्य आद्यन्त बजते रहते हैं ।

६- मंच सज्जा

लोक नाटकों की मंच सज्जा खुले मैदान में ही होती है । किसी मन्दिर अथवा चौराहे के उच्चस्थान पर बल्लियों के सहारे एक दो पर्दे डाले जाते हैं । इन पर्दों पर बनावट खूब रहती है । एक बार खुला पर्दा

बदला नहीं जाता , बल्कि अन्त तक एक ही पर्दा टंगा रहता है । दृश्य की कल्पना 'मौरेलिटी प्लेज़' की तरह होती है । लोक नाटकों की व्यवस्था अपने ही प्रकार की होती है । इनकी अव्यवस्था ही व्यवस्था है । अनेक लोकधर्मी नाटकों की ये विशेषताएं रासलीला,रामलीला, नौटंकी स्वांग तथा भगतों में पायी जाती हैं । इनपर संक्षिप्त विचार भूमिका में किया जा चुका है । यहाँ इनके स्वरूप का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करना अपेक्षित है ।

रासलीला

रासलीला धार्मिक भावना प्रधान लोक नाटकों में सर्वाधिक प्राचीन है । संस्कृत के शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों में रासक,नाट्य रासक तथा रास का उल्लेख प्राप्त होता है । वहाँ इन्हें नृत्य उपरूपक माना गया है । अपभ्रंश भाषा में रास तथा रासक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । इनका अर्थ यहाँ भी नृत्य,संगीत आदि से ही लिया जाता है । डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव रचित श्री मद्भागवत में कृष्ण के रास का उल्लेख है । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि १६ वीं शता की प्रचलित रासलीला के पूर्व भी रास की कोई परम्परा वर्तमान थी ।

शिल्प

रासलीला की अपनी विशेषताएं होती हैं । इसके संवाद छन्दयुक्त गेय होते हैं । इसमें गद्य का प्रयोग बहुत कम रहता है । पात्र प्रारम्भ से अन्त तक मंच पर ही उपस्थित रहते हैं । प्रवेश तथा प्रस्थान के लिए स्थान नहीं होता । मंगलाचरण रहता है । रासलीला में नृत्य गीत का प्राधान्य रहता है । भाषा में तत्सम शब्दों के साथ देशज शब्दों का भी प्रयोग होता है ।

मंच व्यवस्था

रासलीला का मंच रासलीला की भाँति ही सरल होता है । मंच किसी उच्च स्थान अथवा मैदान में तरत डालकर बनाया जाता है । मंच के चारों ओर सुविधानुसार दर्शक लोग बैठते हैं । उद्घोषक बाजे के साथ आरम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहता है । यहीं उपस्थित रहकर वह पात्रों की स्थिति तथा अभिनय की गतिविधियों का परिचय देता है ।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में -- ' रासलीला भारतवासियों की धार्मिक मनोवृत्ति की परिचायिका है । रासलीला के लिए नाटक सम्बन्धी किसी भी आडम्बर की अपेक्षा नहीं है ।'

इस प्रकार अशिक्षित जन-जीवन में ये लीलाएं मनोरंजन के साधनों के रूप में प्रचलित थीं ।

रामलीला

राम की कथा कृष्ण की कथा से अपेक्षाकृत प्राचीन है , पर रामलीला का प्रारम्भ कृष्ण लीला के आधार पर ही हुआ प्रतीत होता है । कहा जाता है कि उत्तरभारत में गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग काशी में किया था । इसकी शिल्पगत विशेषताएं रास लीला के समान ही हैं । अतः उनका उल्लेख करना आवश्यक है । इसका मंच रासलीला की अपेक्षा अधिक सुगठित है । इसके मंच की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार होगी --
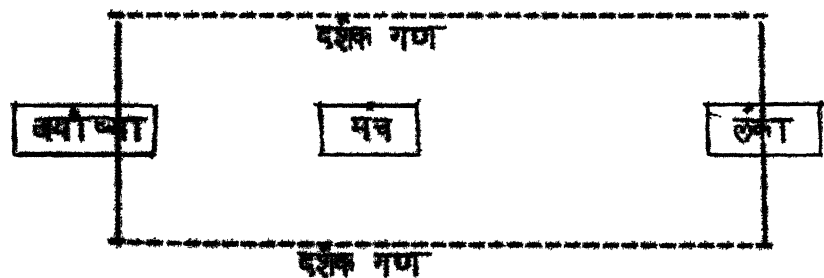
इससे कथानक पात्र व्यवस्था तथा अभिनय इत्यादि सभी कुछ अन्य लोकधर्मी नाटकों के समान ही रहे जाते हैं ।

रूपसज्जा

रामलीला में मनुष्य, बन्दर, भालू, राक्षस एवं देवता अनेक प्रकार के पात्रों की अवतारणा होती है । इन पात्रों का विभिन्न रूप सज्जा के आधार पर ही होता है । रूपसज्जा की सामग्री में काजल, चन्दन, सुरमा, गेरू, राख, खड़िया, पेवड़ी, रौली, मुर्दाशंख, मौढ़र और बने हुए चेहरे मोहरे और पन्नियों के चमकते हुए मुकुट, लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र, नकली दाढ़ी-मूंछ, गेरुआ कपड़े, कमण्डल, शरीर के अंगरखे तथा धनुष बाण आदि रूपसज्जा की उपयोगी सामग्रियाँ हैं । इनके द्वारा उपर्युक्त पात्रों का भेद स्पष्ट किया जाता है । लोक मान्यता के आधार पर ही पात्रों की वेशभूषा सजायी जाती है ।

माच

मालवा के पठार और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में मंच पर अभिनीत किया जाने वाला लोक नाट्य'माच' कहलाता है । माच के मंच की व्यवस्था अपने ही प्रकार की होती है । मंच के दोनों ओर दो-दो पाट और सामने वेदी के चार खम्भे गाड़े जाते हैं । चार खम्भों के निकट १६ युवक, १ जमादार, १ थानेदार बैठते हैं । इसके पास एक पाट अवश्य रहता है जिसपर अभिनेताओं के बोल कहनेवाले लोग बैठते हैं जो अभिनेताओं के बोल दुहराते रहते हैं । इससे गाने वाले अभिनेता को कुछ विश्राम का अवसर मिल जाता है । माच के प्रणेता गुरु का आसन भी मंच पर ही रहता है । माच के मंच पर एक ओर कुछ लोग मूल सुधार के लिए बैठते हैं ।

माच के मंच का ब्यौरा इस प्रकार होता है --

प्रकाश व्यवस्था

मशालची अपनी मशालों को तान खम्भों पर लगाता है। चारों ओर से खुला रहने के कारण माच के मंच को नेपथ्य की जरूरत नहीं होती । सम्बन्धित पात्र कहीं भी अपने वस्त्रों को बदल सकता है । मंच खुला रहने के कारण यह भी सुविधा रहती है कि दर्शक कहीं भी बैठकर आनन्द ले सकता है । मशालची मशालों पर तेल आदि चिकने ज्वलनशील पदार्थों को डालकर प्रकाश को अक्षुण्ण बनाये रखता है ।

पात्र-योजना

माच के पात्रों में स्त्री-पुरुष दोनों होते हैं । माच में कम से कम पांच स्त्री पात्रों का होना अपेक्षित है किन्तु कभी-कभी स्त्री पात्रों की संख्या पुरुष पात्रों से भी अधिक हो जाती है । पात्र के प्रवेश की सूचना पूर्व पात्र के द्वारा ही दे दी जाती है और अभिनय समाप्त हो जाने पर पात्र मंच पर ही एक तरफ बैठ जाता है ।

सम्वाद योजना

माच के सम्वादों को बोल कहा जाता है । ये गेय होते हैं । प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही पद्य-बद्ध होते हैं । इनका योग गठाव-चरित्र व तथा कलात्मक रूप से कथावस्तु के विकास में नहीं रहता । संगीतात्मक परिवेश में दर्शक(जिसे श्रोता अधिक कहा जाय) कौउत्सुक्य रखना ही प्रमुख दृष्टिकोण है ।

दृश्य योजना

श्रोता एवं पात्र दोनों ही कल्पना का सहारा लेकर चलते हैं । पर्दों के अभाव में दृश्याभास बोलों के माध्यम से ही दिया जाता है । कल्पना के द्वारा दृश्य की मानसिक उद्भावना की जाती है ।

माच और रास

रास एक ऐसा दृश्यकाव्य है जिसमें पद्यात्मक संवाद अधिक रहते हैं । कथावस्तु पौराणिक ही होगी तथा मंच किसी मंदिर के चबूतरे इत्यादि धार्मिक स्थल पर ही बनाया जायगा । उद्घोषक जो रास के नाट्य मंच को संचालित करता है,प्रारम्भ से अन्त तक मंच पर ही विराजमान रहता है । माच में दृश्य-योजना पर ही अधिक बल दिया जाता है । कथावस्तु लौकिक प्रेम-कथाओं पर आधारित होती है । माच के मंच के लिए खुला स्थान अवश्य होना चाहिए । पर अन्य किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता है । अपने संवादों की समाप्ति पर पहला पात्र हट जाता है और दूसरे पात्र के लिए स्थान छोड़ देता है । दोनों के संवादों का रूप इस प्रकार है --

रास के सम्वाद

राधा -- नन्दकिशोर मोहन कुंज बिहारी ।

कृष्ण -- चलिये सघन बन को और को मन प्राण पियारी ।
बोलत चातक मोर फूली अति फुलवारी ।।

राधा -- मैं न चलूं बन और तू नटखट गिरधारी ।
(दर्शक- श्रीकृष्ण भगवान की जय)
तुम प्रीतम चित चोर उल्टी रीति तुम्हारी ।।

भाव के सम्वाद (बोल) अंश राजा हरिश्चन्द्र से

रंगत चौबन

अजी सत का राजा सत की रानी सत को बांधी आसमान में तानी
अजी सत के काम चढ़के बने के, सत के नाम के जगत उबारी
(बोल राजा हरिश्चन्द्र को)
(बोल तारा लोचनी की) सतवादी हरिश्चन्द्र राजा आए
सतवादी हरिश्चन्द्र (टेक)
(बोल दूत की) हूं री म्हारे तारा लोचनी नार

नौटंकी, स्वांग अथवा भगत मंच

नौटंकी स्वांग अथवा भगत तीनों प्राय: समान हैं । इनका मंच काफी ऊंचे स्थान पर होता है । ऊंची-ऊंची बल्लियों पर शामियानों के ढंग का ढांचा खड़ा किया जाता है । मंच के एक कोने में दर्शकों को दिखते हुए नगाड़े व हारमोनियम वाले बैठते हैं । नगाड़े की ध्वनि विशेष प्रकार की होती है, जो रात्रि में दूर-दूर तक जाती है ।नौटंकी का अभिनय देर रात्रि तक शुरू किया जाता है और सुबह तक होता रहता है । रूप-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था और दृश्य सज्जा उपर्युक्त अन्य लोक-नाटकों की भांति ही रहती हैं । नत्थाराम हाथरस वाले ने बीसों नौटंकियां लिखी हैं । इसी प्रकार फर्रुखाबाद के त्रिमोहन, कानपुर

के श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक, बांस बरेली और लम्बरदार आदि नौटंकी लेखक प्रसिद्ध हैं । इनकी नौटंकी मण्डलियां काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं । शीरीं फरहाद, सुल्ताना डाकू, लैला मजनू, आदि प्रेम की तथा अमरसिंह राठौर वीर रस की नौटंकियां हैं ।

यात्रा-नाटक

ढोल और मृदंग के ऊपर गायकों का सामूहिक गान चलता है । सभी पात्र चोंगा नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मंच पर आते हैं । यात्रा का मंच भी खुली उन्नत भूमि या मन्दिर के चबूतरे पर बनाया जाता है । प्रारम्भ में गौर चन्द्रिका का गायन किया जाता है, जिसका सम्बन्ध प्रभु चैतन्य से है । जिस प्रकार उत्तरी भारत के नाटकों में देवा-देवताओं का पूजन किया जाता है, उसी प्रकार यहां गौर चन्द्रिका का गायन पूजन है । तबला तथा हारमोनियम दोनों पर स्त्री और पुरुष गाते हैं । गांवों का यही यात्रा नाटक शहरों में व्यापार के लिए 'अपेरा' बन गया । गम्भीरा तथा कीर्तनियां भी यात्रा की भांति ही लोक नाट्य हैं ।

महाराष्ट्र के लोक नाट्य

महाराष्ट्र में पांच प्रकार के लोक-नाट्य प्राप्त होते हैं । तमाशा, ललित गोंधल, बहुरूपिया तथा दशावतार । तमाशा को संचालित करने वाली मण्डली को फड़ कहते हैं । तमाशा का मंच साधारण भूमि पर ही तत्काल बन जाता है, उसके लिए किसी ऊंचाई-विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती । उसके लिए अधिक स्थान भी अपेक्षित नहीं होता है । बिना किसी लम्बी-चौड़ी योजना के ही तमाशा प्रारम्भ हो जाता है । प्रारम्भ में डफ तथा तुनतुना बजते हैं और सुरतिये अवतरित होकर श्रोताओं का मुजरा करते हैं । इसके बाद फड़ के अन्य सदस्य नर्तकी के

साथ प्रवेश करते हैं । अन्य पात्र विशेष रूप सज्जा पर ध्यान नहीं देते ; पर नर्तकी सोलह श्रृंगार बनाती है । वह सोलह हाथ की साड़ी पहन कर उसपर चांदी की करधनी लगाती है । नाक में नथ तथा वेणी को विशेष प्रकार से गूंथती है । पैरों में घुंघरू बांधता है । तमाशा के पात्र तथा दर्शक पास-पास हो रहते हैं कि उनके शरीर की ऊष्मा का एक-दूसरे को आभास होता रहता है । प्रायः छोटे-छोटे पद्यात्मक सम्वादों द्वारा अनेक छोटे-छोटे कथानक एक साथ चलते हैं ।

इसी प्रकार दक्षिण भारत में यक्ष गान कथाकली वीथि नाट्यम् ,तोलबोम्मुल,कामन कोट्टु आदि लोक नाट्य पद्धतियां प्रचलित हैं । बिहार में बिदेसिया,जट्ट-जट्टिनो मिथिला में उत्तर बिहार तथा भोजपुरी में । मेरठ लखनऊ दिल्ली कन्नौज आदि में भाण्डों का व्यवसाय है ।

इसप्रकार लोक-नाट्य की धारा भारत में फैली हुई है जो विभिन्न नामों से जानी जाती है । इसपर अपने विचार देते हुए डा० श्याम परमार कहते हैं--

"लोक नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो ।"

इनमें हृदयस्पर्शी शब्द व्यंजना,सम्वाद वैशिष्ट्य,बहु अभिनयत्व तथा पद्यात्मक सम्वाद योजना रहती है । इन्हें मिथिला में कीर्तनियां,राजस्थान में ख्याल,महाराष्ट्र में तमाशा,उत्तरप्रदेश में नौटंकी, गुजरात में भवाई,ब्रज में रास कहते हैं।[१]

---

१ (लोक नाटकों पर अनेक पुस्तकें रची गयी हैं । श्री अगरचन्द जी नाहटा के प्रयास से कुछ प्रकाशकों के नाम इस प्रकार हैं,जहां से लोक नाट्य पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं ।
जयलाल गुप्ता बीकानेर में कंठीति,श्री भीकमचन्द जोधपुर पंडित बंशीधर डोलजान भिवानी द्वारा लिखित तथा श्रीधर शिवलाल ज्ञान सागर छापाखाना किशनगढ़ द्वारा प्रकाशित खेमराज श्रीकृष्णदास श्री वेंकटेश्वर स्टीम
(शेष पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि इनमें व्यवस्थित रंगमंच के निर्माण की योजना नहीं है, तथापि जनता की रागात्मक भावनाओं को उत्तेजित करने तथा उनमें धार्मिक एवं नैतिक विश्वास पैदा करने के लिए यह तरल रंगमंच प्रत्येक भाषा तथा प्रान्त में है । संस्कृति के उन्नयन में इससे सहायता मिलती है, क्योंकि लोक रंगमंच जनता का विश्वास अर्जित किये हैं । धन के अभाव में भी इन लोक मंचों का निर्माण हुआ है । ये स्वाभाविक तथा आडम्बरहीन हैं । इतने कम साधन से जनता के बीच मनोरंजन एवं शिक्षा का प्रभाव डालने वाले लोक नाट्य संभवत: इस देश में कभी समाप्त नहीं होंगे ।

--o--

(पिछले पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)

प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित चयनैव-सुन्दर मठ प्राचीन पुस्तकालय गोपालवाड़ी बम्बई, श्री पूरन चन्द सिलपाल द्वारा लिखित । बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक पुस्तकालय दिल्ली मथुरा आदि अनेक प्रकाशकों द्वारा लोक नाटकों का प्रकाशन किया गया है ।)

३- रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों का विशेषतायें

१- तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति

रंगमंचीय नाटकों की परम्परा अमानत की इन्दरसभा से आरम्भ होती है । पारसी कम्पनियाँ इस दिशा में व्यापारिक उद्देश्य लेकर एक लम्बे समय तक सक्रिय रही हैं । पारसी रंगमंच से हिन्दी रंगमंच का इतिहास कला की दृष्टि से सम्बद्ध नहीं है । पर दर्शकों में नाटकों के प्रति अभिरुचि बनाये रखने में इनका योगदान सराहनीय है । पारसियों के नाटक हिन्दी के लिए अनुकरणीय नहीं हुए ,इसका कारण उनका नाट्य-शिल्प था । प्रत्येक कम्पनी अपने वेतनिक नाटककार रखती थी और रुचि के अनुसार उनसे नाटक लिखवाती थी । उनका ध्यान चमत्कार की ओर विशेष रहता था ताकि अन्य कम्पनियों की अपेक्षा जनता से धन प्राप्ति अधिकाधिक हो सके । ये कम्पनियाँ दृश्य-दृश्यान्तरों,रंगमंच की ऊपरी चटक-मटक तथा वेशभूषा में चमत्कार उत्पन्न करती थीं । वे साधारण पर्दों के साथ कटे हुए तथा टूटने वाले पर्दों का प्रयोग करती थीं । स्थान,काल तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि से उनका ताल-मेल बनाये रखने की चिन्ता उन्हें नहीं थी । वे हिन्दू राजदरबारों में अंग्रेजी वेशभूषा से सज्जित अभिनेताओं से अभिनय कराती थीं । जनता की रुचि एवं कलात्मक संगठन की अपेक्षा उनका ध्यान अपने ग्राहकों की थैली पर रहता था[१] ।

पारसियों की व्यापारिक प्रवृत्ति से हिन्दी नाट्यमंच तथा सामाजिक कला-बोध दोनों हीनावस्था को प्राप्त हो रहे थे । सुरुचि-सम्पन्न समाज विवेकी साहित्यिक प्रवृत्तियों के व्यक्तियों द्वारा यह देखा

---

१ श्रीकृष्णदास : 'हिन्दी रंगमंच की परम्परा,पृ०६०८ ।

नहीं गया । उन्होंने अव्यवसायी रूप से स्वस्थ कलात्मक नाटक लिखने प्रारम्भ किये तथा उनका मंचन कराया । जनता ने इन साहित्यिक प्रवृत्ति के लेखकों का स्वागत किया और उन्हें प्रोत्साहित किया । प्रारम्भिक स्थिति के इन नाटकों में शुद्ध साहित्यिक गुण प्राप्त नहीं थे । पर विचार-स्वस्थता की दृष्टि से उनका विशेष महत्व है । हिन्दी नाट्य साहित्य के प्रारम्भिक स्थिति के ये प्रयास ऐतिहासिक महत्व रखते हैं । इन नाटकों का प्रस्तुतीकरण पक्ष प्रायः पारसी कम्पनी वालों के रंगमंच से ही प्रभावित था । पारसियों की भौंड़ी अभिव्यक्ति के स्थान पर इनमें कुछ स्वस्थता थी ,असम्बद्धता के स्थान पर एक सम्बद्धता थी,उथले हास्य के स्थान पर स्वस्थ हास्य उत्पन्न किया गया था, व्यापारिक दृष्टिकोण के स्थान पर साहित्यिक सुरुचि का विकास था तथा कलात्मक विकास के साथ ही एक सुनिश्चित विचार की अभिव्यक्ति थी । बाह्य प्रदर्शन की अपेक्षा इनमें आन्तरिक शुद्धता पर विशेष बल दिया गया था । मानव अपने विचारों से शुद्ध रहकर समाज के स्वास्थ्य को सुधार सकता है । अतः इन लेखकों ने अपनी कथावस्तु में विचार-स्वस्थता पर विशेष ध्यान दिया ।

कलापक्ष के स्थान पर उनका भावपक्ष ही अधिक सम्पन्न था । अपने शिल्प में ये नाटक संस्कृत साहित्य के नाटकों के अधिक निकट थे । शैली में ये नाटक संस्कृत नाटक से भिन्न थे । इनमें पद्य का प्रयोग जो यदा-कदा होता था, वह पारसी रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव का ही फल था । उनमें भाषा तथा कला की दृष्टि से फिर भी कमी थी , पर उनमें भारतीय संस्कृति पर गर्व था, राष्ट्रीयता तथा नैतिकता की भावना निहित थी । वे अपने आदर्श एवं सन्देश की दृष्टि से सर्वथा प्रशंसनीय रहे । ये नाटक जन-जीवन को जागृत करने में एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन उभारने में पूर्ण सफल थे ।

२- पारसी नाटकों के विपरीत साहित्यिक रुचि के परिष्कार की योजना

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि साहित्यिक नाटकों की भाषा, भाव एवं सम्वाद सभी में शक्ति थी । इनमें प्रेरणा एवं धारावाहिकता थी । यद्यपि पारसी नाटकों की तरह इनमें भी पद्य की प्रधानता रहती थी, परन्तु उन पद्यों में प्रौढ़ता थी और उनकी भाषा बड़ी मँजी हुई रहती थी । चमत्कार की प्रवृत्ति तो यदा-कदा रहती है, परन्तु वस्तु-गठन सुन्दर होने से उनमें महापन नहीं आने पाता था । साहित्यिक नाटकों में जन-रुचि का ध्यान विशेषतया रखा जाता था । क्षात्र धर्म, शरणागत की रक्षा, वचन की पूर्ति, आत्म-विश्वास तथा धार्मिक आस्था की शिक्षा इन नाटकों में दी जाती थी ।

रंगमंचीय साहित्यिक नाटककारों में एक और यदि पं० माधव शुक्ल राधेश्याम कथावाचक जैसे क्रान्तिकारी लेखक थे, तो दूसरी और पं०माखनलाल चतुर्वेदी प्रभृत कलाभिरुचि सम्पन्न नाटककार भी थे । पारसियों की नाटक-कंपनियों के अत्यधिक आकर्षक रंगमंच के समक्ष अपना प्रभाव उत्पन्न करने का इन लेखकों तथा अभिनेताओं का प्रयास सर्वथा सराहनीय था । रंगमंचीय नाटकों की शैली पर साहित्यिक नाटक लिखने और अभिनीत करने की दृष्टि से पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' नाटक पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन' नाटक विशेष उल्लेखनीय है । इन दोनों लेखकों के नाटकों के विवेचन से रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों का अध्ययन स्पष्ट हो जायेगा ।

३- रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों का शिल्प विधान

इन नाटकों का आरम्भ और अन्त संस्कृत प्रणाली पर हुआ है । सूत्रधार और नट-नटी के परिसम्वाद द्वारा नाटक का परिचय दिया गया है तथा भरतवाक्य अथवा शुभकामना के रूप में इनका अन्त हुआ

है । दृश्यों का क्रम रंगमंच की सुविधा के अनुसार है । पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान, दृश्य(पर्दा) उठना या गिरना इस प्रकार रक्खा गया है कि मंच कुछ देर के लिए भी खाली नहीं रहता । कथावस्तु का विकास तथा चरित्र-चित्रण स्वाभाविक स्तर पर है । सम्वादों में शक्ति है तथा संगीत का यथास्थान प्रयोग हुआ है[१] ।

क- प्रमुख नाटककार

(क) पं० माधव शुक्ल -- पं० माधव शुक्ल देशभक्त, क्रान्तिकारी, उत्साही समाज-सुधारक थे । इनके बारे में अत्यधिक ज्ञान उपलब्ध नहीं है, पर जितना भी ज्ञात है, उससे इनकी सेवाओं के लिए हिन्दी नाट्य संसार इनका ऋणी रहेगा ।

१- कार्य क्षेत्र

पं० माधव शुक्ल का साहित्यिक एवं समाज-सेवी जीवन प्रयाग से आरम्भ होता है । इन्होंने "रामलीला नाटक मण्डली" की स्थापना प्रयाग में की तथा १८९८ ई० में अपने द्वारा लिखा हुआ नाटक "सीय स्वयंवर" अभिनीत कराया । पं० मदनमोहन मालवीय भी इस नाटक का मंचन देखने उपस्थित थे । धनुष उठाने में असमर्थ राजाओं पर जनक की जो व्यंग्य कसा वो भारतीय कांग्रेसी नेताओं पर था । मालवीय जी रुष्ट हो गये । माधव शुक्ल के कतिपय सहयोगी इस घटना से उनके विरोधी हो गए । रामलीला नाटक मण्डली टूट गयी । इसके बाद शुक्ल जी ने हिन्दी अभिनी संस्था की स्थापना भी प्रयाग में की, पर दुर्भाग्य वश वह संस्था प्रगति नहीं कर सकी । शुक्ल जी लखनऊ, जौनपुर इत्यादि शहरों में नाटकमण्डलियाँ स्थापित करते हुए कलकत्ते पहुंच गये । कलकत्ते में "नाट्य परिषद्" की स्थापना द्वारा शुक्ल जी ने अहिन्दी प्रान्तों में भी

१- हिन्दी रंगमंच की परम्परा, पृ० ६३७ ।

हिन्दी का प्रचार किया । बंगाल में इन्हें नाटक तथा हिन्दी रंगमंच के विकास में बहुत सफलता प्राप्त हुई ।

शुक्ल जी देश, जाति और धर्म के लिए अपना जीवन अर्पण करने वाले राष्ट्रकर्मी थे । कविता और नाटक इ दोनों विधाओं पर लिखने के अतिरिक्त उनका कार्यक्षेत्र समाज-सेवा भी था । इनके गानों तथा पद्यों का प्रकाशन `भारत गीतांजलि` नाम से हुआ है । इसी का दूसरा भाग `जागृत भारत` नाम से प्रकाशित हुआ है । संघर्षपूर्ण जीवन में आपने कुछ पद्य गीत भी लिखे । इनकी कर्मयोगी प्रवृत्ति के कारण ही देश में इनकी रचनाओं का सम्मान हुआ । इनके पद्य `गीता भारती` , `स्वदेश, `कुल जीव`, `कर्म की वन्दना`, `बलिदान`, `वतन्य भारत` , `सत्याग्रही भारत`, `धिक दासत्व`, `तिलक वन्दना` तथा `हमारी आकांक्षा` आदि हैं । इनकी रचना `मिट्टी मुबारक जेलखाने की` से देखिये --

हमें प्राणों से है प्यारी मुसीबत जेलखाने की ।
खुदा बख्शे सभी के दिल में कूवत जेलखाने की ।।
हमें तो कृष्ण के दर्शन यहाँ पर जन्म को होते हैं ।
बताता है हमें भी कहाँ की मत जेलखाने की ।।

२- हिन्दी नाटक-साहित्य में योगदान

पं० माधव शुक्ल ने केवल `सीय स्वयम्बर` (१९९८ई०) तथा `महाभारत पूर्वार्द्ध ` दो नाटक लिखे हैं । `सीय स्वयम्बर` अप्रकाशित है, पर महाभारत पूर्वार्द्ध से ही इनकी अधिक ख्याति हुई । हिन्दी नाटक - साहित्य में कला की दृष्टि से शुक्ल जी का योगदान अधिक न हो, पर हिन्दी नाट्य रंगमंच के विकास में अवश्य उनकी साधना सराहनीय है । हिन्दी रंगमंच जो पारसी रंगमंच की बाढ़ में बहा जा रहा था, उसे

स्वस्थ परम्परा के किनारे लगाने का श्रेय शुक्ल जी को है ।

नाटक-लेखक की अपेक्षा उनकी प्रतिभा एक अभिनेता की ही थी । अपने नाटकों का अभिनय कराने में शुक्ल जी ने निर्देशक,प्रस्तुतकर्ता और अन्य रंगकर्मों का दायित्व तो निभाया ही साथ ही अन्य लेखकों के नाटकों को भी अपनी नाट्य -संस्थाओं द्वारा अभिनीत कराया । १९०७ई० में जब आपसी मनमुटाव के कारण 'रामलीला नाटक मंडली' टूट जाने के कारण उन्होंने १९०८ ई० में हिन्दी नाट्य समिति की स्थापना की और स्व० पं०बालकृष्ण भट्ट तथा बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन का भी सहयोग प्राप्त किया । इस संस्था की ओर से शुक्ल जी ने बा० राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' अभिनीत कराया और स्वयं महाराणा प्रताप की भूमिका का निर्वाह किया । १९१५ ई० में डा० श्यामसुन्दरदास की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर शुक्ल जी कृत 'महाभारत पूर्वार्द्ध' अभिनीत हुआ[1] । इस बार शुक्ल जी ने 'भीम' के रूप में कुशल अभिनय किया ।

स्वयं नाटक लिखकर तथा उन्हें स्वस्थ रूप में मंचित करके शुक्ल जी ने हिन्दी नाटक साहित्य के लड़खड़ाते पगों में जो बल प्रदान किया, उसके लिए हिन्दी नाट्य-जगत् उनका सदैव आभारी रहेगा ।

§ ३- उपलब्धियां

पं० माधव शुक्ला का प्रयास सर्वथा निरर्थक नहीं गया । उससे तीन उपलब्धियां स्पष्ट होती हैं । प्रथम तो इनके प्रयास से पारसी रंगमंचीय पद्धति पर चमत्कारपूर्ण शैली में लिखे जाने वाले नाटकों पर

---

१ श्रीकृष्णदास : 'हिन्दी रंगमंच की परम्परा',पृ०४२६ ।

रोमांचली और लेखकों का ध्यान शुद्ध कलापूर्ण नाटक लिखने की ओर गया । यद्यपि आगे चलकर यह विशुद्धता की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि नाटक रंगमंच से दूर छूट गया ।

दूसरी उपलब्धि उनकी हिन्दी रंगमंच को बल प्रदान करने में है । अस्वाभाविकता एवं चमत्कार की बाढ़ में भारतीय मंच की स्वाभाविकता एवं स्वस्थता की दीवारें ढही जा रही थीं । इतस्ततः नाट्यकला के विदेशी जहाज इस बाढ़ पर विचरण कर रहे थे, जिनपर चढ़कर भारतीय दर्शक अपनी ही दीवारों को तोड़ने में सहयोग दे रहे थे । अपने हाथों अपना घर नष्ट करके भी हम प्रसन्न थे । पं० शुक्ल ने इस ओर से भारतीय जनता को चेतावनी देकर मोड़ा । यह कार्य शुक्ल जी ने अभिनय की छोटी, किन्तु सुदृढ़ नौका आगे बढ़ा कर किया । इनकी नौका की गति, शोभा एवं पुष्टता देखकर अंग्रेजी जहाजों पर सवार भारतीय लज्जित हो गये और पाश्चात्य नाटक कला के जहाजों से उतर कर भारतीय हिन्दी रंगमंच की सुन्दर अभिनय-नौकाओं पर सवार होने लगे । "महाभारत पूर्वार्द्ध" नाटक का मंचन देखकर हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बा० शिवपूजनसहाय ने लिखा था --"प्रत्यक्षदर्शी के नाते मैं जोर देकर कह सकता हूं कि आज तक मैंने किसी हिन्दी रंगमंच पर ऐसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा ।

अभिनेताओं के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा --" यदि मैं बल पूर्वक इतना कह सकता हूं कि पं० माधव शुक्ल जैसा "भीम" और पं० महादेव भट्ट जैसा "धृतराष्ट्र" आजतक मैंने किसी रंगमंच पर नहीं देखा तो यह भी जोर देकर कहना चाहता हूं कि पं० रासबिहारी शुक्ल जैसा "दुर्योधन" भी मैंने कहीं नहीं देखा है[1]।" अभिनय के द्वारा रंगमंच को

---

१ माधुरी, वर्ष ८, खण्ड १, पृ० ८५१ ।

स्वाभाविकता की ओर मोड़ देने में शुक्ल जी का विशेष हाथ है। शुक्ल जी की यह दूसरी प्रमुख उपलब्धि है।

पं० माधव शुक्ल की तीसरी उपलब्धि जन-जागरण सम्बन्धी है। पराधीन राष्ट्र में अपनी भाषा तथा जाति की अवहेलना हो रही थी। इस हीनावस्था को दूर करने के लिए शुक्ल जी का नाट्य कौशल अग्रसर हुआ। अपने कर्म की ज्योति जलाकर समाज में स्वस्थ तथा स्वतन्त्र चेतना भरने का प्रयास उन्होंने किया। `सीय स्वयम्बर` में जनक के मुख से यह सम्वाद कहलाना उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचायक है --

"ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके-- यह अत्यन्त दु:ख का विषय है हाय![1]"

वह पौराणिक प्रसंगों में भी युग-चेतना की झलक उत्पन्न करते थे। उनके अन्दर वास्तविक लगन एवं हिन्दी रंग-मंच के प्रति सच्ची आस्था थी। इसलिए प्रयाग, लखनऊ, जौनपुर होते हुए ये कलकत्ते तक आये गये, पर वहां पर उन्होंने अपना रंग-कर्म की वैजयन्ती फहराई।

ख- <u>पं० माखनलाल चतुर्वेदी</u>

१- <u>कार्यक्षेत्र</u>

चतुर्वेदी जी का कार्य साहित्य-सेवा से ही आरम्भ हुआ। ये प्रथम अध्यापक थे, बाद में पत्रकार बनकर `प्रभा` के सम्पादक बने। जब १६१६ ई० में `प्रभा` बन्द हो गई तो १६१७ में गणेशशंकर विद्यार्थी इन्हें

----

१ सोमनाथ गुप्त, :`हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास`, पृ० १६३।-

कानपुर `प्रताप` पत्र में सहयोगी के रूप में ले गये ।

२- हिन्दी-नाटक `कृष्णार्जुन युद्ध`

सन् १९१८ ई० में इस नाटक की सृष्टि कर पं०माखनलाल चतुर्वेदी युग-सन्धि के नाटककार सिद्ध हुए । पारसी नाटकों की रंगमंचीय सफलता तथा साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से भी यह नाटक अत्यधिक सफल है । साहित्यिक अभिनेय नाटकों के लिए स्पष्ट दिशा-निर्देशन इस नाटक में है । इस नाटक के अतिरिक्त अन्य कोई नाटक चतुर्वेदी जी ने नहीं लिखा ।[1] "साप्ताहिक `स्वराज्य` में अनेक वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था । कई अंकों तक यह बात इस पत्र में उठायी गई थी । उस समय `स्वराज्य` के सम्पादक श्री विजयमोहन शर्मा जी थे[2]।"

यह बात भी विचारणीय है कि इतना सफल नाटक लिखने वाले लेखक ने कोई दूसरा नाटक नहीं लिखा । जो भी सत्य हो, पर `कृष्णार्जुन युद्ध` नाटक एक सफल नाटक है । उसकी कथावस्तु पौराणिक है , परन्तु उसमें वर्तमान राजनीति का पुट भी विद्यमान है । इस नाटक की सफलता अभिनय तथा भावों की गहराइयों में है । नाटक की भाषा की निर्मलता एवं ओज ने सभी को प्रभावित किया है ।

---

१ यह नाटक गंगाराम मिश्र का लिखा हुआ है । वे सरकारी स्कूल में आर्ट मास्टर थे । मंचन के समय वे उपस्थित थे । नाटक की सफलता पर दर्शकों ने लेखक को मंच पर बुलाने का आग्रह किया । मास्टर साहब अपनी नौकरी के डर से प्रकट होने में डरते थे । बहुत आग्रह पर मिश्र जी ने चतुर्वेदी जी को जो मंचन के समय उपस्थित थे, मंच पर भेज दिया । सारा सम्मान माखनलाल जी को मिला । साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रदत्त स्वर्णपदक भी चतुर्वेदी जी ने लिया ।

२ `स्वराज्य` खण्डवा से प्रकाशित ।

3- शिल्प

नाटक में चार अंक हैं तथा उनमें अनेक दृश्य। दृश्यों की अवतारणा पारसी रंगमंच के अनुसार की है। प्रथम अंक में देवालय, ऋषि, आश्रम, गंगातट, वन तथा राजभवन का एक प्रान्तर भाग दृश्य है। दूसरे अंक में मार्ग, शयन गृह, ऋषि आश्रम, इन्द्रसभा तथा इन्द्रपुरी पांच दृश्य हैं। तृतीय अंक में द्रौपदी महल, मार्ग तपोवन, सुभद्रा महल तथा गंगा तट। इसी प्रकार अवशेष चतुर्थ अंक में जंगल, राजसभा, कैलाश, ब्रह्मलोक आश्रम तथा युद्धस्थल आदि दृश्य हैं।

इस प्रकार का दृश्य-विधान पर्दों पर अथवा प्रतीक अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। रंगमंचीय नाटकों के दृश्य-विधान की भांति ही इस नाटक का दृश्य-विधान भी अधिक आभासित कराया जायगा। पारसी नाटकों की अपेक्षा यह नाटक साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट है। रंगमंच तथा साहित्य दोनों आवश्यकताओं का इसमें अच्छा समन्वय किया गया है। दृश्य-विधान में चमत्कारपूर्ण स्थितियों का संयोजन वहां है, जहां आकाशमार्ग में चित्रसेन पत्नी के साथ विहार करता है।

नाटक में प्रस्तावना नट-नटी की स्थिति आदि को देखकर इसे संस्कृत नाटक की कोटि में रखा जा सकता है। साहित्यिक भाषा तथा नाटकीय सम्वादों से नाटक की सुरुचि का पता चलता है। भाषा विशुद्ध, सरल तथा स्वाभाविक है। सम्वादों में कथा तथा चरित्रों के उद्घाटन की क्षमता है। द्वितीय अंक में यम तथा इन्द्र का सम्वाद देखिये —

इन्द्र — और तुम कुछ भाग्य पराजित देशों को किस प्रकार बनाते हो ?

यम -- उन देशों में जो देश-द्रोही और झूठी राजपूजा के मिथ्याक होते हैं उन्हें मृत्यु के बाद कुम्भीपाक में डालता हूं ....

सम्वादों में पद्य या गीत भी उच्चकोटि के हैं। गीतों में भाषा तथा भाव सभी समृद्ध हैं। द्वितीय अंक में चित्रसेन --

विश्व में शनैः शनैः बढ़ी दासता तेरा नाश
इन मदान्ध कठपुतलों में हो स्वाभिमान का कोमल वास।
धन्य वीर देखते हैं जो, अपना जीवन सादा स्वतन्त्र
फूंका नहीं किसी ने मुझमें जीवन का यह प्यारा मंत्र ।।

देश-प्रेम तथा कर्त्तव्यपरायणता का इससे सुन्दर मन्त्र क्या हो सकता है। कृष्ण और अर्जुन मित्र ही नहीं, भगवान तथा भक्त के सम्बन्ध वाले थे। पर कर्त्तव्य के आगे ये सम्बन्ध गौण हो गये हैं। दोनों का युद्ध-धर्म पालन की दृष्टि से ही हुआ है। पारसी नाटकों में स्त्रियों का चित्रण हास्यास्पद और अशोभन रखा था। इस नाटक में इस प्रकार का भद्दापन नहीं आ पाया। सुभद्रा की सरलता का लाभ उठाकर नारद चित्रसेन की रक्षा का भार अर्जुन के कन्धे पर रख देते हैं और इस प्रकार चित्रसेन के प्राणों की रक्षा हो जाती है।

नाटक में गालव ऋषि तथा उनके शिष्यों -- शशि तथा हंस के प्रसंग रोचक हैं, इससे उनके नाटक के शिल्प में दोष उत्पन्न नहीं होता। संस्कृत नाटकों के विदूषक की पूर्ति करके मुख्य कथा को आगे बढ़ाने में ये पात्र सहायक हैं। पारसी रंगमंचीय नाटकों से भिन्न यह नाटक अपनी निजी विशेषताएं रखता है।

स्वगत--

यद्यपि अस्वाभाविक होने के कारण स्वगत नाटकों में आधुनिक आलोचकों में मान्य नहीं है, फिर भी इस नाटक में स्वगत का प्रयोग संस्कृत नाटकों की भांति ही खुलकर किया गया है। इससे पात्रों के मनोविश्लेषण की झलक मिलती है।

संकेत --

नाटक में अभिनय-संकेत पर्याप्त हैं यथा-- "गिरते ही", "उठते हुए", दोनों दौड़कर गले मिलते हैं तथा "रथ से उतर कर " आदि संकेत आंगिक अभिनय स्पष्ट करते हैं। सात्विक अभिनय नाटक में कई स्थानों पर हैं।

सब मिलाकर यह नाटक हिन्दी की ठोस एवं अमूल्य निधि है। यदि माखनलाल जी ने ऐसे दो-चार- नाटक और इसी तरह लिख दिये होते तो हिन्दी तो हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्रीवृद्धि करते।
न-

अन्य प्रमुख रंगमंचीय साहित्यिक नाटककारों में श्री जमनादास मेहरा, आनन्द प्रसाद खत्री, हरिदास माणिक, तुलसीदास गुप्त तथा शिवराम दास गुप्त हैं। इन सभी का रचना-काल सन् १९१०ई० से लेकर १९५०ई० के मध्य पड़ता है। इनकी रचनाएं पौराणिक तथा सामाजिक सन्दर्भों को लेकर प्रस्तुत की गयी हैं। पूर्व वर्णित नाटकों के अनुसार ही इन नाटकों में रंगमंच तथा साहित्यिक गुण भरे हैं। ये सभी नाटककार मुख्यतः से अभिनेता भी थे। इसीलिए इनके नाटकों में रंगमंच अधिक सफलता से उभरा है। अ इन लेखकों के कुछ नाटक व्यवसायी नाटक मण्डलियों द्वारा भी अभिनीत हुए हैं, तथा कुछ अव्यवसायी नाटक मण्डलियों द्वारा भी मंच पर प्रस्तुत हुए हैं।

साहित्यिक रंगमंचीय नाटकों से हिन्दी नाटक साहित्य का भण्डार भरता गया। किन्तु इससे ये नाटक किसी सीमातक लोक-रुचि के प्रतिकूल पड़ते गये। यह स्थिति इतनी बढ़ गयी कि नाटक रंगमंच से दूर होते गये। रंगमंच से दूरी का कारण सिद्धान्त प्रचार तथा रंगमंच से अनभिज्ञता ही थी। रंगमंचीय नाटकों में संस्कृत नाट्य शिल्प का प्रभाव दूर नहीं किया जा सका। पाश्चात्य अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष तथा मनोविज्ञान का प्रयोग इन नाटकों में उभर नहीं सका है। फिर भी हिन्दी के नाट्य साहित्य-प्रासाद में नाटक नींव के पत्थर हैं।

अध्याय ५

-o-

हिन्दी नाटकों का अध्ययन(१९३९६०-१९५०)

अध्याय ४

-0-

हिन्दी नाटकों का अध्ययन(१९३१ई०–१९६०ई०)

पृष्ठभूमि

हिन्दी नाट्य साहित्य में इस काल को स्वर्ण युग कहा जा सकता है । इस काल में नाटक की समस्त विधाओं— गीति नाटक, स्वीकित रूपक, प्रहसन, एकांकी, रेडियो नाटक आदि पर कुशल नाटककारों द्वारा रचनायें प्रस्तुत की गयीं । इस काल में नाट्य शिल्प में अनेक प्रयोग किए गए । भारतीय नाट्य शिल्प के साथ पाश्चात्य नाट्य शिल्प का समन्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही किया जाने लगा था । इस काल में इन दोनों नाट्य शिल्पों के समन्वय से एक स्वतन्त्र नाट्य शिल्पका विकास हुआ । इसके द्वारा सभी प्रकार केनाटकों की रचना सम्भव हो सकी । भारतीय नाट्य शिल्प द्वारा अधिकतर सांस्कृतिक कथानकों को लेकर नाटक लिखे जाते थे, अब ऐतिहासिक, सामाजिक और अन्यान्य प्रकार के कथानकों क पर भी नाट्य रचनाएं की जाने लगीं ।

इस काल में सबसे बड़ी क्रान्ति यह हुई कि घटना प्रधान नाटकों के स्थान पर चरित्र प्रधान तथा वातावरण प्रधान नाटक लिखे जाने लगे । पात्रों के चरित्र -चित्रण के लिए मनोविज्ञान की प्रमुखता प्रदान की गयी । मनोविज्ञान के आधार पर चरित्र-चित्रण करने से नाटक में संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की सम्भावनायें उत्पन्न हुईं । इससे नाटक की अभिनेयता में स्वाभाविकता आ गई ।

रंगमंच की नवीन सम्भावनाएँ इसी काल में प्रत्यक्ष हुईं। संस्कृत के प्रतीकवादी रंगमंच के स्थान पर यथार्थवादी रंगमंच को प्रश्रय दिया गया जो क्रमशः मनोवैज्ञानिक होता गया। उसकी अभिनय मुद्राएँ और भाव-भंगिमाएँ प्रतीक से स्थूल और स्थूल से स्वाभाविक हुईं। इस प्रकार कथानक, पात्र, भाषा, रंगमंच और प्रस्तुतीकरण सभी दृष्टियों से इस काल के नाटकों में परिवर्तन हुए। भारतीय नाटक के सुखान्त के साथ-साथ दुखान्त नाटक लिखे जाने लगे जो यथार्थ तथा स्वाभाविकता के वाहक बने। इस प्रकार इस काल में हिन्दी नाट्य साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि हुई। इस काल के नाटकों को दो कोटियों में रखा जा सकता है :

अ-- श्रव्य नाटक

आ-- दृश्य नाटक

अ- श्रव्य नाटक

हिन्दी में श्रव्य कोटि के नाटक पारसी रंगमंचीय नाटकों की असाहित्यिक प्रतिक्रिया में लिखे गये। पारसी नाटकों में सामाजिक शील, स्वस्थ नाट्यकला तथा भाषा के परिमार्जित रूप की उपेक्षा थी। उनमें विशुद्ध नाटकीयता के स्थान पर चमत्कार प्रदर्शन को प्रश्रय दिया गया था। ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक कथावृत्तों को देश,काल और पात्र की स्वाभाविकता से हीन कर ही प्रकार के मंच पर रखा जाता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तत्पश्चात् जयशंकरप्रसाद के हृदय में इन अस्वाभाविकताओं को दूर कर विशुद्ध रूप में नाटक लिखने की प्रेरणा उत्पन्न हुई। साहित्यिक श्रव्य नाटक इसी प्रतिक्रिया के परिणाम हैं। इनकी कुछ शिल्पगत विशिष्टताएं हैं,जिनके कारण इनकी एक स्वतन्त्र कोटि बन गई है। उन विशिष्टताओं पर विचार करना आवश्यक है।

शिल्पगत विशिष्टताएं

श्रव्य नाटकों के अन्तर्गत दृश्य विधान, पात्रयोजना, सम्वाद-विधान संकलनत्रय, संघर्ष और अन्तर्मन समी नाटकीय तत्वों में अपनी विशिष्टता है ।

दृश्य विधान

श्रव्य नाटकों का दृश्यविधान विस्तृत है । उसे रंगमंच पर सजा पाना तो दूर रहा, दृश्यपटों के माध्यम से प्रदर्शित कर पाना भी कठिन है । इन नाटकों में वन, प्रकोष्ठ, मार्ग, बीथी, महल, पर्वत, राजमहल के भीतरी भाग में एक कक्ष इस प्रकार के दृश्य कथा के अनुसार स्वतन्त्र रूप से रखे जाते हैं । दो विरोधी स्वभाववाले अचल दृश्यों के बीच में कोई चल दृश्य न रखने के कारण उन्हें मंच पर सजा पाना एक समस्या है । इन नाटकों में बहुधा पांच अंक तथा पैंतीस चालीस दृश्य रहते हैं । इतने दृश्यों की व्यवस्था कर मंच पर सजाने में पांच-सात घण्टों का समय अपेक्षित है ।

उपर्युक्त अवरोधों के कारण श्रव्य नाटकों का दृश्यविधान तरल माना गया । इसीलिए ये नाटक श्रव्य मात्र कहे जाते हैं । इनका पात्र-विधान भी असंयत और स्वतन्त्र है ।

पात्र योजना

श्रव्य नाटकों में पात्रों की संख्या तीस से पचास तक रहती है । सभी नाटक की कथावस्तु से सम्बद्ध हों, ऐसा भी नहीं होता । सहायक पात्रों को असम्बद्ध रूप से रखा जाता है । अस्वाभाविक रूप के कारण ही नाटक में पात्रों का आपसी सम्बन्ध भी बहुत अव्यवस्थित हो जाता है । मंच प्रस्तुति में सभी पात्रों से दर्शकों का परिचय भी नहीं हो पाता । स्पष्ट है

कि क्रिया, मनोविज्ञान और उनकी कथावस्तु में असम्बद्धता के कारण इन नाटकों की योजना नाट्य मंचन में बाधक है । इसलिए इस प्रकार की पात्र योजना वाले नाटकों को श्रव्य नाटक कहा गया ।

सम्वाद योजना

श्रव्य नाटकों के सम्वाद लम्बी वक्तृता के रूप में क्रिया-हीन हैं । सिद्धान्त की व्याख्या करते समय ये विस्तृत हैं तो साधारण बातचीत के स्तर पर सांकेतिक मात्र रह गये हैं । दोनों ऐसे सम्वादों में चरित्रोद्घाटन की क्षमता नहीं रह जाती । साथ ही कथावस्तु के नाटकीय विकास में भी पात्रों की उपयोगिता का कोई महत्व नहीं रह जाता ।

इन नाटकों की भाषा-शैली पात्रानुकूल नहीं होती । या तो सभी पात्र एक ही स्तर की विशुद्ध साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते हैं या इतनी सामान्य भाषा बोलते हैं जो मंचगुण से हीन है । इन नाटकों की भाषा शैली दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं करती । यदि इसमें आकर्षण आता भी है तो वह बोझिल हो जाती है । इस प्रकार इन नाटकों की भाषा-शैली और सम्वाद योजना दृश्य नाटकों की सीमा में प्रवेश करने में असमर्थ है ।

संकलनत्रय

देश, काल और क्रिया की एकता का इन नाटकों में पूर्ण अभाव होता है । इनका कथानक अनेक स्थानों पर अनेक वर्षों के समय में फैला रहता है । इसी कारण इनमें विस्तार अधिक है । विस्तार के कारण इनकी गम्भीरता भी समाप्त हो जाती है । अभिनेयता के बाधक तत्वों में संकलनत्रय प्रमुख है । इसके अभाव में इन नाटकों को श्रव्य कोटि में रखना आवश्यक हो जाता है ।

संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व

श्रव्य नाटकों में संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व का अभाव तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इनका परिपाक नाटकीय रूप में नहीं होता। नाटकों में स्थितियां ऐसी आ जाती हैं कि इनकी तीव्रता स्पष्ट नहीं हो पाती। अधिकतर पात्र समझौता कर लेते हैं और संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति समाप्त हो जाती है। शील गुण, धार्मिकता, परोपकार तथा सहनशीलता आदि गुणों की व्याख्या पात्रों की भावना में रख देने से संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण इन नाटकों का मंचन असंभव बन जाता है। इस प्रकार के नाटकों में साहित्यिक सौन्दर्य अधिक रहता है, मंचीय सुविधा नहीं, अतः इन नाटकों को श्रव्य कोटि में रखना युक्तियुक्त है। श्रव्य नाटकों पर डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है --"पाठ्य नाटक कथावस्तु के विन्यास में किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करते। वे उपन्यास के समान एक घटना को चाहे वह बड़ी से बड़ी हो या छोटी से छोटी, पात्रों के सहारे स्पष्ट करते चलते हैं। दृश्यों की व्यवहारिकता और क्रम में उनका विश्वास नहीं है। पात्रों की संख्या मनमाने ढंग पर घटती-बढ़ती है और चरित्र-चित्रण में उचित अनुपात का ध्यान नहीं रह जाता है। कोई पात्र दो दृश्यों में आकर आंखों से ओझल हो जाता है और कोई पात्र बार-बार आकर अनुचित रूप से प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। भाषा सर्वत्र एक-सी रह जाती है। पात्रों के स्वभाव और जीवन की स्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाठ्य नाटक अभिनय शैली में उपन्यास ही हैं। कथा का वर्णन स्वयं लेखक न कर पात्रों द्वारा करा देता है[1]।"

१- डा० रामकुमार वर्मा : "शिवाजी", पृ०१३

स्पष्ट है कि श्रव्य नाटक यद्यपि नाटकीय शैली में लिखे गये हैं तथापि उनका मंचीय प्रस्तुतीकरण सुविधापूर्वक नहीं हो सकता । वैसे श्रव्य नाटकों को चार रूपों में बांटा जा सकता है :

१- गीति नाटक

२- स्वगतकथन

३- श्रव्य प्रहसन

४- नाटक

श्रव्य नाटकों के शिल्प एवं प्रमुख नाटककारों के नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व प्रथम तीन प्रकार के नाटकों का परिचय दिया जा रहा है :

१- गीतिनाटक

शिल्पविधान : गीति नाटक में सूचनात्मक अभिव्यंजना की गम्भीरता अधिक रहती है । काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कारण इसमें भाव प्रवणता होती है । डा० दशरथ ओझा ने गीतिनाटक के विषय में अपना मत इस प्रकार दिया है --" गीतिनाट्य में बाहरी क्रियाशीलता और संघर्ष के स्थान पर मानसिक भावों का एक-दूसरे के साथ संघर्ष दिखाया जाता है । नाटक में भौतिक युद्ध, आन्तरिक संघर्ष को उद्दीप्त करने के लिए रखा जाता है । गीतिनाटक का सम्पूर्ण कथानक गेय होता है और इसका अभिनय संगीतमय होता है । गीतिनाट्य में अन्य प्रभावों की अपेक्षा कविता का प्रभाव अधिक प्रभावशाली रहता है ।"[१]

डा० ओझा के मत का अभिप्राय गीति नाटक में संगीत तथा गीत का प्रभाव ही सर्वोपरि मानने से है । गेयता से नाटक की अभिनेयता का ह्रास होता है । इसी से गीतिनाटक के अभिनय का प्रभाव विस्तार की अपेक्षा गहराई में अधिक है । जिससे वह प्रभावशाली, संवेदनशील

तथा सम्प्रेषणशील हो जाता है । बौद्धिक नाटककार[1] गीति नाटक की रचना में सफल नहीं हो सकता । "माडर्न पोइटिक ड्रामा" में भी यही स्पष्ट किया गया है कि गीति नाटक में लेखक अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है । वह समाज तथा वर्ग की बात नहीं करता । अपने जीवन की अनुभूति ही इस विधा के नाटकों में कथावस्तु बनती है । गीतिनाटक में उसका पात्र समाज के किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता और न वह समाज को कोई उद्देश्य देना चाहता है । उसका पात्र तथा विषय काल्पनिक होता है । इस प्रकार गीतिनाटक जीवन की व्यक्तिगत भावात्मक अभिव्यक्ति है । जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं, हृदय से है ।

विकास

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से इसका प्रारम्भ होता है । उनका "नीलदेवी" गीतिरूपक है । देश की दीनता से दुःखी होकर उन्होंने इसकी रचना की है । इसमें पण्डित तथा बसन्तक के सम्वादों द्वारा यह स्पष्ट कराया गया है कि धर्मात्मा राजा छलपूर्वक मारा गया है । नीलदेवी के समक्ष अब दो ही रास्ते हैं । वह या तो शत्रु को आत्म समर्पण करे या उससे लोहा ले । रानी संघर्ष करना पसन्द करती है । वह छद्मरूप

१- "Poetic drama in which the dramatist is trying to pluck his individual from the mass and set him against the back ground of life itself. The individualism is not controlled by the necessities of his environment but by some onward law of being. It is the wish of the poetic dramatist not to bring his character near to us not to impress upon his

नर्तकी बनकर अमीर अब्दुल शरीफ के दरबार में नृत्य करती है । अमीर रानी को शराब पिलाना चाहता है । रानी उसी समय उसके असावधान क्षणों में उसका वध कर देती है । रानी द्वारा नृत्य करना जितना अमर्यादित था । अमीर के वध से वह उतना ही राजनीति का कौशल बन जाता है ।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी गीतिनाटकों के लेखकों में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, डा० रामकुमार वर्मा, सियारामशरण गुप्त, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, भगवती चरण वर्मा, आरसी प्रसाद सिंह तथा गिरिजाकुमार माथुर हैं । इन नाटककारों में से कुछ के गीति नाट्यों का अध्ययन विषय की स्पष्टता के लिए किया जा रहा है--

प्रसाद कृत "करुणालय"

जयशंकर प्रसाद ने इस गीति नाट्य की रचना पौराणिक कथानक के आधार पर की है । हिन्दी में शिल्प की दृष्टि से गीतिनाटकों का समुचित विकास इसी नाटक से होता है । इसके कथानक में आन्तरिक संघर्ष उभारने के लिए पर्याप्त सम्भावनाएं हैं । कथानक मानसिक द्वन्द्व से भरपूर है ।

कथानक

आकाशवाणी सुनकर सत्य हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहिताश्व का बलिदान करना चाहते हैं । रोहिताश्व इसका प्रतिवाद करता है और घर से भाग जाता है । वह अजीगर्त तथा तारुणी से मिलता है जो बहुत भूखे हैं । रोहिताश्व उन्हें सौ गाएं देने का वचन देता है, बदले में उनके पुत्र शुनःशेप की बलिदानार्थ माँग लेता है । शुनःशेप माँ-बाप की क्षुधा शान्त करने के लिए बलिदान के लिए प्रस्तुत होता है । इसी समय विश्वामित्र प्रकट होते हैं और बलिदान रोक दिया जाता है । बाद में यह स्पष्ट होता है कि शुनःशेप विश्वामित्र का ही पुत्र है ।

शिल्प

इस नाटक में हरिश्चन्द्र का मानसिक संघर्ष, रोहिताश्व का विरोध, अजीगर्त का दरिद्रता के कारण बलिहेतु पुत्र को बेचना और शुनःशेप का बलि के लिए प्रस्तुत होना आदि स्थल मानसिक हलचल के सुन्दर नमूने उपस्थित करते हैं। शुनःशेप को ज्ञात है कि रोहिताश्व प्राणरक्षा के भय से बलिकार्य से विमुख है। उसके पास सौ गायें देकर दूसरे का जीवन लेने की सामर्थ्य है। शुनःशेप के पास गायों का अभाव है। अतः उसे अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार होना पड़ता है। शुनःशेप का आन्तरिक द्वन्द्व नाटक में कारुणिक दृश्य उपस्थित करता है। प्रसाद जी ने उपर्युक्त सभी स्थलों पर संघर्ष को नाटकीय रूप में विकसित किया है। करुणालय गीतिनाट्य पद्धति की आदर्श कृति है।

मैथिलीशरण गुप्त कृत 'अनघ'

श्री मैथिलीशरण गुप्त मूलतः एक प्रबन्धकाव्य के प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। उन्होंने अनेक काव्य कृतियाँ रची हैं, जिनमें 'अनघ' एक गीतिनाट्य है।

कथानक

इस गीतिनाट्य का नायक मघ है। वह एक समाजसेवी व्यक्ति है। समाज के निम्नवर्ग के व्यक्तियों को संगठित कर वह राज्य के अत्याचार समाप्त करना चाहता है। उसके पिता अनोध और माँ दोनों उसके मार्ग में अवरोध उपस्थित नहीं करते हैं। वह मालती की लड़की सुरभि से प्रेम करता है और बाद में उसी लड़की से शादी करता है। ग्राम के सभी नवयुवक मघ के साथ संगठित हो जाते हैं। मुखिया और ग्रामभोजक उन्हें विद्रोही सिद्ध करते हैं। वे राज्यपद का लालच देकर सुमुख

को अपने पक्ष में मिला लेते हैं । मगधराज के समक्ष न्याय होता है । बन्दी मघ लाया जाता है । विद्रोही नेता के रूप में मगधराज उसे शूली की सजा देते हैं । सुरभि इसका विरोध करती है । मगध की महारानी सुरभि की बात मानती है और मघ को राज्य की ओर से मुक्त किया जाता है, उसकी सभी जयजयकार करते हैं ।

शिल्प

'अनघ' में दृश्यों का विभाजन गुप्त जी ने स्थानों के आधार पर किया है । इसमें अरण्य, चौपाल, मघ का घर, उद्यान, वट छाया, चबूतरा, ग्राम भोजक का घर, मधुवन, श्मशान, दण्डगृह, कारागार, राजभवन और न्यायसभा के दृश्य हैं । पात्रों की मानसिक अन्तर्वेदना का चित्रण इस नाटक में गहराई से हुआ है । मगधराज की राजसभा लगी है । राजा मघ से पूछते हैं :

'द्रोही--- तुम पर गये मत्त हाथी भी छूटे
तुम्हें मारना क्यों कर्मा है कैसे छूटे
क्या तुम कोई मन्त्र जानते हो, बतलाओ ?
मारण के भी विविध मन्त्र हैं छूट न जाओ ?

मघ

मम काठ गति महा कहाँ परलम्ब रही है,
इसमें किसी से द्रोह नहीं मद मन्त्र यही है[1],

मघ के कथन से स्पष्ट है कि इस गीति नाट्य के कर्मविपाक का स्पष्ट चित्रण किया गया है । डा० दशरथ ओझा भी इसमें गीति नाट्य

१- मैथिलीशरण गुप्त : 'अनघ', पृ०१२४ ।

की विशिष्टताओं का समावेश मानते हैं --" अन्त में घटनाओं का स्पष्टीकरण इतनी शीघ्रता से हुआ है कि नाटकीय अन्विति में क्रियाशीलता आ गयी है । सम्वादों विधान मन की आन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है ।"[1]

इस छन्दबद्ध रचना में प्रत्येक दृश्य में छन्द बदलता रहा है । स्पष्ट है कि मय का जीवन विभिन्न अवरोधों के मध्य स्पष्ट किया गया है । इस गीति नाट्य में काव्य और नाट्यकला का सुन्दर समन्वय है ।

उदयशंकर भट्ट कृत "मत्स्यगन्धा"

'मत्स्यगन्धा' श्री उदयशंकर भट्ट की मौलिक गीतिनाट्य कृति है । इसमें गीतिकाव्य तथा नाट्यकला दोनों का उचित परिपाक हुआ है ।

कथानक

मत्स्यगन्धा धीवर कन्या है । उसने यौवन के प्रथम चरण में ही अनंग द्वारा संसार भर का सौन्दर्य प्राप्त किया है । किन्तु संसार भर का सौन्दर्य और यौवन पाकर भी वह दुःखी है । उसे पाराशर ऋषि से चिर यौवन प्राप्त हुआ है । अपने धीवर जीवन से भाग्यवश वह मुक्ति पाती है और कौरववंश की राजमाता सत्यवती बनती है । विधवा होकर वह बहुत दुःखी होती है । अन्त में अनंग से पुनः वह विषादमग्न स्थिति में मिलती है जहाँ यौवन का वरदान अभिशाप सिद्ध होता है ।

1- डा० ओझा : 'हि०ना०उ० और वि०',पृ० ४३६ ।

शिल्प

यह गीतिनाट्य पांच दृश्यों में विभाजित है । प्रथम दृश्य में यौवन के मद से उन्मत्त मत्स्यगन्धा के समक्ष अनंग अपना परिचय इसप्रकार देता है :

> यौवन में दुस्सह तृष्णा,प्रौढ़ होना
> बैकुंठी वसन्त हास
> शत-शत उद्गार,शत-शत हाहाकार !

दूसरे दृश्य में मुनि पाराशर मत्स्यगन्धा के साथ नाव पर नदी पार करते हैं । दोनों की भावनाओं का मेल होता है । पाराशर उसे चिरयौवन का वरदान देते हैं । यहां समर्पण का चित्र अच्छा खींचा गया है ।

पांचवें दृश्य में वह कौरव वंश की विधवा रानी सत्यवती है । उसका हृदय दुःख से फूट पड़ता है । अपने अतीत पर विचार कर उसके हृदय की भाव-भंगिमा राशि-राशि बिखर पड़ी हैं । वह अन्त में अनंग से कहती है :

> तुम मेरे अभिशाप जीवन में अभताप
> हे हो वो दिया जो है हो अविलम्ब हे अनंग
> है असह्य भार यह जीवन पुष्पहार
> दण्ड लघुतायें कर अधिक है महान है [१] ।

गीतिनाट्य कला की दृष्टि से इस नाटक में यह स्थल बहुत कलात्मक है । भाव पक्ष के साथ ही यहां नाटककार का कलापक्ष भी निखर उठा है ।

१- उदयशंकर भट्ट : मत्स्यगन्धा,पृ०४३ ।

और संस्कृति के निर्माण का उदय लेकर ज्योत्स्ना स्वर्ग से मृत्युलोक को आती है। मध्यरात्रि की नीरवता में सृष्टि के सुप्त मानव-मानस में उसका यह उद्देश्य सफल होता है। रात्रि के तृतीय प्रहर में प्रलय का रूप दिखाया गया है। इससे प्राचीन जीर्ण शीर्ण संस्कृति तथा रूढ़ियों पर कुठाराघात होता है। प्रातःकालीन नवीन बेला में नवीन समाज और संस्कृति की ऊषा फूटती है।

<u>शिल्प</u> -- कथावस्तु को संगठित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इससे इस रूपक में बिखराव है। इसी कारण इसका मंचन सम्भव नहीं है। डा० श्रीपति त्रिपाठी का भी मत इसी पक्ष में है -- 'विस्तृतता के कारण उसकी नाटकीयता शिथिल हो गई है। रंगमंच की दृष्टि से उसकी सफलता संदिग्ध है[1]।'

मंचन में असफल यह रूपक सोद्देश्य लिखा गया है। इसके उद्देश्य पर डा० सोमनाथ गुप्त लिखते हैं -- 'विषमता में समता की स्थापना करना ही प्रत्येक कलाकार का उद्देश्य होता है। पन्त जी ने अपने इस रूपक में इसी उद्देश्य की पूर्ति की है[2]।'

उद्देश्यपूर्ति के लिए लिखे जाने से बौद्धिक होने पर भी इसका काव्यपक्ष पुष्ट है और यह पाठक को आनन्द प्रदान करने में सक्षम है।

<u>स्वोक्तिरूपक</u>

स्वोक्ति रूपक की कथावस्तु का विकास संस्कृत की भाण पद्धति पर होता है। इसमें एक ही पात्र सम्पूर्ण कथावस्तु का उद्घाटन करता है। एक पात्र के कथोद्घाटन में भी नाटककार जितनी सफलता से

१- डा० श्रीपति त्रिपाठी : 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' पृ०३५५

२- डा० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ०२५४

मोड़ उत्पन्न कर देता है, वह उतना ही सफल स्वीचितरूपक लिख सकता है । इसमें बहुधा अनेक स्थितियाँ अथवा घटनाओं का समीकरण किया जाता है, जिनके माध्यम से कथानक विस्तार पाता है ।

स्वोक्तिरूपक के कथानक का विकास पार्श्व प्रभावों के द्वारा भी किया जाता है । दृश्य-पट के भीतर घटित प्रभाव मंच पर अभिनय करने वाले अभिनेता के कार्य व्यापारों में मोड़ उत्पन्न करते हैं । इसप्रकार का कथोद्घाटन अधिक कलात्मक होता है । इससे पात्र का मानस अधिक सजग रहता है, जिससे स्मृति के अवरोह से कथानक का विकास किया जा सकता है । स्वोक्तिरूपक की इस विधा से आन्तरिक संघर्ष प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त होता है ।

विकास

हिन्दी में स्वोक्तिरूपक का प्रभाव संस्कृत तथा अँग्रेजी से आया है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'विषस्य विषमौषधम्' स्वोक्तिरूपक है । पाश्चात्य विधा पर इस प्रकार के नाटक लिखने वालों में सेठ गोविन्ददास तथा रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम उल्लेखनीय है । सेठ जी ने स्वोक्तिरूपकों की रचना संस्कृत के एकपात्रीय नाटकों की शैली पर की है । इनके एकपात्रीय नाटकों का संग्रह 'चतुष्पथ' है ।

'चतुष्पथ'

'चतुष्पथ' में चार एकांकी नाटक संगृहीत हैं—'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप-वर' तथा सच्चा जीवन' ।

एकपात्रीय नाटक में एक समय में एक ही पात्र एक स्थान पर विभिन्न प्रभावों द्वारा भाव-प्रदर्शन करता है । एक पात्र विभिन्न स्थानों पर भी भाव प्रदर्शन कर सकता है, पर इस प्रकार के स्वोक्तिपरक का मंचन असाध्य है । इस प्रकार के स्वोक्तिपरक का उदाहरण बेनीपुरी का 'सीता की माँ' है।

उपर्युक्त प्रकार के एकपात्रीय नाटक का मंचन सरल है । मंच सामग्री द्वारा बाह्य वस्तुएं देखकर अथवा पूर्व घटनाओं के स्मरण द्वारा अभिनेता अपने भाव प्रदर्शित करता है । उदाहरणार्थ 'चतुष्पथ' से एक नाटक 'प्रलय और सृष्टि' को लिया जा सकता है ।

'प्रलय और सृष्टि' में पात्र अधेड़ आयु का व्यक्ति है । वह अपने विविध वर्षों के चश्मों, नोटबुक, कलम, लाइटहाउस, टावर घंटा, सिनेमा, बादल तथा धरती को लक्ष्य कर भाव प्रदर्शित करता है । नेपथ्य में बार-बार ध्वनि सुनकर उसकी विचार-शृंखला एक से हटकर दूसरे पक्ष पर जाती है । कभी वह एक कमरे में बैठकर वातायन से प्रकृति का सौन्दर्य झांकता है और भाव प्रकट करता है । इसी प्रकार अन्य माध्यमों से भी वह अपने विविध भाव प्रकट करता है ।

'चतुष्पथ' के अन्य नाटकों का शिल्प भी इसी प्रकार है । सेठ जी इस विधा के प्रारम्भिक लेखक हैं । अभी हिन्दी नाट्य साहित्य में इस विधा का विकास नहीं हुआ है । बेनीपुरी जी के 'स्वगतिपरक 'सीता की माँ' के शिल्प में 'चतुष्पथ' के नाटकों के शिल्प से अन्तर है ।

'सीता की माँ'

इस स्वगितरूपक को पांच दृश्यों में बांटा गया है । सीता के जन्म से लेकर धरती-प्रवेश तक की कथा इस नाटक में है । रामायण के ख्यात स्थलों को ही इस नाटक में वर्ण्य विषय बनाया गया है । 'सीता की माँ ' सीता के साथ-साथ छाया रूप में लगी है और सीता के जीवन का वर्णन करती हैं ।

'सीता की माँ' में माँ अपने विचारों के साथ-साथ दूसरों के विचारों को भी प्रकट करती हैं । बेनीपुरी ने दो पात्रों के

कथोपकथनों को भी माँ द्वारा ही स्पष्ट कराया है । शैली का यह अच्छा प्रयोग है :

' यों न कहिए नाथ' सीता ने कहा - फिर माँ अपनी दशा का वर्णन करती है--' ऐसे मौके पर माँ को देखना नहीं चाहिए,मेरी आँखें मुंद गयीं और कानों ने सुना --' मामी इसमें मेरा' भी हिस्सा होना चाहिए मामी ।'[1]

सेठ गोविन्ददास ने एक पात्र से एक ही स्थान पर अभिव्यक्ति करायी है,जब कि बेनीपुरी का एक पात्र अनेक स्थानों पर अनेक व्यक्तियों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है ।

यह नाटक पश्चिमी स्वोक्ति रूपक की विधा पर लिखा गया है । डा० दशरथ ओझा इसे संस्कृत की भाणनाट्यशैली पर लिखा मानते हैं । वे अपने मत की पुष्टि हेतु 'निहालदे' नाटक का उदाहरण देते हैं[2]। इस शैली पर बेनीपुरी को और अधिक रूपकों की रचना करनी चाहिए थी । अन्तर्पक्ष के उद्घाटन की यह विधा अच्छी है ।

अन्य प्रहसन

शिल्प --

अन्य प्रहसन लोक में प्रचलित साधारण स्तरीय हास्य प्रधान रूपक है । इसका दृश्यरूप भी होता है,जिसका उल्लेख दृश्य-नाटकों पर विचार करते समय किया जायगा । यहाँ उन ग्रामीण प्रहसनों के

१- रामवृक्ष बेनीपुरी : 'सीता की माँ'

२- डा०दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' ,पृ०४६३

उदाहरण दिये जा रहे हैं, जो अधम प्रकृति के पात्रों द्वारा अथवा स्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । फांफ,मृदंग,ढोलक आदि वाद्यों के साथ इनके रूप-परिवर्तन द्वारा उसका श्रवण दर्शकों को कराया जाता है । इसका कोई विशिष्ट मंच नहीं होता है । इसी से इसे भव्यकोटि में रखा जा रहा है ।

विकास--

इन प्रहसनों का निश्चित • उल्लेख नहीं मिलता है । परम्परागत जनता में इनका प्रदर्शन होता रहता है । अत: लोक धारणा ही इनका विकास है । यहां शादी के अवसर पर गांव की स्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रहसन "नकटौरा" का स्वरूप देखिये ।

नकटौरा--

गांव की पांच-सात अभिनय-प्रिय स्त्रियां इसमें भाग लेती हैं । शादी के अवसर पर गांव के लगभग सभी लोग बारात में चले जाते हैं । गांव की रक्षा का दायित्व स्त्रियों पर ही रहता है । गांव की सुरक्षा के लिए दरोगा प्रमुख व्यक्ति समझा जाता है । अत: ये स्त्रियां इस प्रहसन में दरोगा से सम्बन्धित प्रहसन ही प्रस्तुत करती हैं :

एक स्त्री दरोगा का वेश बनाकर कुछ सिपाहियों का वेश धारण करनेवाली स्त्रियों के साथ गांव का चक्कर लगाता है । सोते पुरुषों को कोड़े मारकर जगाती है तथा घोड़े के लिए घास छीलकर लाने का आदेश देती है । निद्रा में सोये व्यक्ति की जब पिटाई होती है तो बहुधा वह इन स्त्रियों को पुलिस विभाग का ही समझ लेता है । इस प्रकार अन्य स्त्रियों का मनोरंजन होता है,गांव की सुरक्षा रहती है तथा दरोगा की बेगार लेने की प्रवृत्ति का पता चल जाता है ।

गांव में धोबियों का, चमारों का तथा कहारों के प्रहसन भी उपर्युक्त कोटि के ही हैं । इन्हें आंचलिक भाषा में धोबियाराग, चमरवा, तथा कहरवा कहते हैं । पं०सुमित्रानन्दन पन्त ने अपना काव्य पुस्तक 'ग्राम्या' में चमारों के नृत्य का उल्लेख किया है । उपर्युक्त प्रहसनों का आभास इस नृत्यगीत के अध्ययन से हो जायगा ।

'चमारों का नाच' श्री सुमित्रानन्दन पन्त

इस नृत्य गीत को श्रव्य प्रहसन के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।इसमें भी उपर्युक्त स्वांग की तरह ही समाज के उच्चवर्ग पर व्यंग्य किया गया है । कुछ चमार अभिनेता एक डफावर बजाकर गाते हैं और चमारिन नृत्य करती है । उक्त अभिनेताओं में से एक अपने शरीर को बेढंगेरूप से सजाकर युद्ध में जाने का स्वांग भरता है और अपनी भूलों द्वारा मनोरंजन करता है । वक्रोक्ति तथा काकु के सस्ते प्रयोगों द्वारा वह उच्चवर्ग के व्यक्तियों पर छींटाकशी करता है । कपड़े का गदका बनाकर एक अभिनेता इन वक्रोक्ति पूर्ण बातों को काटता है और भूल सुधारने के बहाने पूर्व अभिनेता को गदके से मारता है । उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

'काका' उसका है साथी नट,
गदके उसपर जमा फटाफट,
उसे टोकता- 'गोली खाकर
बोल जायगी क्यों वे मटक्कट ?
कुछ न चायगा झुके खा कट
'गोली खाई ही है !' चल हट !
कहो--मांग को धा:, मेरे भट !
उफ़फ़ाफ़ा ! भगवान राम

वह भी फौरन वहीं कसकर
काका को देता प्रत्युत्तर
खेत रह गये जब सब रण में
वह तब निधड़क गुस्से में भर,
लड़ने को निकला था बाहर ।"[1]

इस प्रकार वीररसपूर्ण कथानक की नकल प्रस्तुत कर सस्ते रूप का हास्य उत्पन्न किया गया है ।

समाज के निम्न स्तर के लोग उच्च वर्ग के प्रति ईर्ष्या से भरे होते हैं । अपनी कसक और कुढ़न को वे इस प्रकार के प्रहसनों द्वारा प्रकट करते हैं । अपने लिए दुर्लभ कृत्यों की नकल करके वे अपना सन्तोष तथा दूसरों का मनोरंजन करते हैं । स्वयं 'पन्त' जी ने इसका उद्देश्य चमारों का हृदयगत कसक का प्रकाशन बताया है —

ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन
वर्णों के पद-दलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ कुढ़न
कर उच्छृंखलता उद्धतपन ।"[2]

इस प्रकार ग्रामीण प्रहसन, जिनकी रंगमंचीय परम्परा अक्षुण्ण है । गांव के ही किसी वर्ग, जाति अथवा व्यक्ति विशेष पर तीखा व्यंग्य करते हैं । मनोरंजन करना भी इनका उद्देश्य रहता है । धोबियों का नृत्य, कहारों का नृत्य और भंगियों का नृत्य भी इसी कोटि में आता है । ये निम्न वर्ग गांव में अपने प्रहसनों के लिए प्रसिद्ध हैं ।

१- सुमित्रानन्दन पन्त : 'ग्राम्या', पृ०४५ ।
२- ,, : ,, पृ०४६ ।

४- नाटक

अध्य नाटकों के शिल्प तथा अन्य विशिष्टताओं पर विचार करते हुए हिन्दी के कुछ प्रमुख नाटककारों की विशिष्ट नाट्य-कृतियों का उल्लेख किया जा रहा है । इस दिशा में प्रथम जयशंकरप्रसाद की कृतियों पर विचार करना उपयुक्त है ।

१- श्री जयशंकर प्रसाद

हिन्दी में व्यावसायिक नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में लिखे गये नाटकों में इनके नाटक प्रमुख हैं । मनोविज्ञान और संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व से युक्त पात्र इनके नाटकों के द्वारा प्रकाश में लाये गये हैं । घटनाएं पात्रों का ही जीवन स्पष्ट करने के लिए नियोजित हुई हैं ।

प्रसाद जी के नाटकों में कार्य-व्यापार की तीव्रता और सुगठित कथावस्तु रहती है । उनके नाटकों में नाटकीय घटनाओं को नाटकीय कौशल से संयोजित किया गया है । ऐतिहासिक वातावरण निर्माण करने की क्षमता उनके नाटकों में है । भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय करने में प्रसाद जी कुशल हैं । सामान्यत: उनके नाटक दु:खान्त हैं,जिनमें दार्शनिक सुखान्त भी दर्शनीय है । नाटक का विस्तार,कथानक की जटिलता, विरोधी दृश्यविधान,युद्धादि के दृश्य, स्वगत कथन तथा अनावश्यक प्रसंग उनके नाटकों में देखे जा सकते हैं । उनके गीत रहस्यवादी होने से सहज बोधगम्य नहीं हैं । उनकी भाषा लक्षणा, व्यंजना तथा कल्पना से युक्त होती है । इन्हीं कारणों से उनके नाटक सामान्यत: अभिनेय नहीं होते हैं ।

प्रसाद जी के नाटकों में पात्रों की बेबसी,व्याकुलता शक्ति और सहनता है । वे दीक्षित तथा आस्थावान् हैं । उनमें सामाजिक

भी कम नहीं है । दृश्यविधान की अनुपयुक्तता तथा भाषा की अस्वाभाविकता के कारण उनके नाटक मंच की दृष्टि से दूषित हैं । डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है :

'अब पाठ्य नाटकों को लीजिये । इधर कुछ वर्षों से काशी के बाबू जयशंकर प्रसाद ने साहित्य के इस अंग की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में सफलता भी मिली है, किन्तु उनके नाटकों में सबसे बड़ा दोष यह माना जाता है कि वे रंगमंच के योग्य नहीं होते उनकी भाषा कठिन साहित्यिक होती है।[१]'

डा० श्यामसुन्दरदास का यह मत पूर्ण सत्य नहीं है । प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त है। उसका मंचन प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा सफलतापूर्वक हुआ है ।

प्रसाद जी की अन्य नाट्य कृतियाँ

प्रसाद जी की अन्य नाट्यकृतियाँ --'सज्जन', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'एक घूंट' और 'चन्द्रगुप्त' हैं । ये सभी उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार श्रव्य नाटकों की कोटि की रचनाएं हैं । यहाँ 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' नाटकों का अध्ययन किया जा रहा है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का अध्ययन दृश्य नाटकों के साथ किया जायगा ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक

दृश्यविधान

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चार अंक और तैंतालिस दृश्य हैं । प्रसाद जी के दृश्यविधान का यह दोष है कि वे दो अवल दृश्यों के बीच में कोई

---

१ - श्यामसुन्दरदास : 'रूपक रहस्य', पृ० ४० ।

का दृश्य नहीं रखते हैं । इस नाटक में प्रथम दृश्य तक्षशिला विश्वविद्यालय के एक मठ में खुलता है -- दूसरा मगध के सम्राट नन्द के विलास कानन में और तीसरा चाणक्य की जन्म-स्थली के टूटे-फूटे घरों-स्थान की दूरी पर ध्यान न भी दें तो ये तीनों दृश्य क्रमशः दिखा पाना सम्भव नहीं प्रतीत होता । चौथा दृश्य पथ है -- सरस्वती मन्दिर के पथ का है । यदि दूसरा दृश्य प्रासाद भी रखते तो दो अचल दृश्य बाद को सजाये जा सकते थे । आगे के दृश्य मगध की राजसभा, सिन्धुतट तथा मगध के बन्दीगृह के हैं । आगे गान्धार नरेश का प्रकोष्ठ तथा पर्वतेश्वर की राजसभा के दृश्य हैं । इन दृश्यों के पश्चात् आगे के दो दृश्य काननपथ तथा सिन्धुनदी पर दाण्ड्यायन के आश्रम के हैं। चलदृश्यों को इस अंक में रखा अवश्य गया है, पर उनका क्रम दो अचल दृश्यों के मध्य नहीं है ।

दूसरे अंक में ग्रीकशिविर, फेलम नदी के तट का वनप्रदेश, युद्धक्षेत्र, उद्यान, बन्दीगृह, युद्ध परिषद्, महत्व, रावीतट तथा शिविर के समीप के स्थान के दृश्य हैं । तृतीय अंक में शिविर, पथ, बीहड़ा, पथ, रंगशाला, प्रान्तभाग, राजमन्दिर का प्रकोष्ठ, पथ तथा रंगशाला के दृश्य हैं । चौथे अंक के दृश्यों का क्रम इस प्रकार रखा गया है -- उपवन, पथ, परिषद्, प्रकोष्ठ, वनप्रान्त, पर्णकुटीर, मन्दिर, पथ ग्रीकशिविर, युद्धक्षेत्र का समीप, पथ, तपोवन, राजसभा आदि । इन दृश्यों को देखने से स्पष्ट है कि पथ, प्रकोष्ठ, राजसभा, वनप्रान्तों आदि के दृश्यों को ही बार-बार रखा गया है । सभी दृश्यों को सजाने के लिए पाँच, छः घण्टों का समय अपेक्षित है । इन दृश्यों के अतिरिक्त कुछ असम्भव दृश्य भी हैं । व्याघ्र के मंच पर प्रवेश होने पर संभवतः रंगशाला में एक भी व्यक्ति नहीं रहेगा ।

प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में नन्दकुमारी कल्याणी अपनी सखियों सहित के साथ शिविर पर चढ़कर सरस्वती मन्दिर के पास विहार

करने जाती है । यहां एक चीता मंच पर आता है, जिसे चन्द्रगुप्त तीर से मारता है । छठें दृश्य में मालविका नाव में बैठती है और नाव चल पड़ती है । सातवें दृश्य में व्याघ्र आता है जिसे सिल्युकस तीर से मारता है । द्वितीय अंक के आठवें दृश्य में अनेक नावें हैं, जो सिंहरण के इंगित से चलने लगती हैं । एक नाव सेवा से आती है और अलका उतरती है ।

दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में चाणक्य अलका, सिंहरण तथा चन्द्रगुप्त को नट-नटी और सपेरा बनने को कहता है । स्वयं ब्रह्मचारी वेश में वह सभी के साथ कल्याणी के सैनिक गुल्म में जाना चाहता है । इसी अंक में वे सब निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच भी जाते हैं । रूप-सज्जा का परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हो पाना सम्भव नहीं है । अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दृश्यों को क्रमशः सजा पाना सम्भव कार्य नहीं है । इस नाटक का दृश्यक्रम भावना मंच पर ही सुसज्जित किया जा सकता है ।

पात्र विधान

'चन्द्रगुप्त' नाटक में इक्कीस पुरुषपात्र तो मुख्य हैं । सहायक पात्रों को निर्धारित करने के लिए प्रत्येक अंक का पृथक् पृथक अध्ययन करना आवश्यक है । प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में एक युवक एक युवती तथा चार नागरिक वृन्द हैं । नन्द तथा चक्रनाश के कुल की जय-जयकार करने वाले यदि चार व्यक्ति भी माने जायें तो इस दृश्य में छः पात्र सहायक हैं । तृतीय दृश्य में एक प्रतिवेशी है । चतुर्थ में दो ब्रह्मचारी नन्द को मनमाना सुनाते हैं । इसी दृश्य में कल्याणी के साथ शिविकाधारी तथा रक्षक मंच पर आते हैं । इन पात्रों को मुख्य रूप में रखा जा सकता था । ब्रह्मचारियों की भूमिका में पूर्व दृश्य के नागरिक वृन्दों को रखा जा सकता है । दृश्य पांच में चर तथा स्नातक प्रवेश करते हैं । मगध के नागरिक होने से इनकी व्यवस्था भी पूर्वागत सहायक पात्रों से ही पूरी की जा सकती है । अगले अंक में चार यवन सैनिक

आते हैं । ये भिन्न संस्कृति के पात्र हैं,इन्हें अलग से ही रखना संगत है । इस प्रकार इस अंक में अतिरिक्त पात्र संख्या ग्यारह तक पहुंचता है ।

द्वितीय अंक में प्रारम्भ में ही सिकन्दर सैनिकों के साथ प्रवेश करता है । ये सैनिक पूर्वांक के ही सैनिक हो सकते हैं । तृतीय दृश्य में पर्वतेश्वर ससैन्य आता है । यदि सैनिक संख्या चार भी मान लें तो सहायक पात्रों की संख्या पन्द्रह पहुंचती है । यहां मगध तथा पंचनद के सैनिकों को स्पष्टतया प्रदर्शित करना अपेक्षित है । मालवों की युद्ध परिषद् में भी पूर्व पात्रों से कार्य सम्पन्न हो सकता है । तृतीय दृश्य में एक साथ नौ भारतीय सैनिक उपस्थित होते हैं । ये पात्र राक्षस को बन्दी बनाने वाले तथा रक्षा करने वाले हैं । इस अंक तक सहायक पात्रों की संख्या बीस पहुंच जाती है । चतुर्थ अंक में दो सहायक स्त्री पात्रों की आवश्यकता होती है । इस प्रकार कुल इक्कीस और बीस--इकतालिस पुरुष पात्र तथा नौ और दो--ग्यारह स्त्री पात्र हैं ,जिनकी कुल संख्या बावन होती है । इसप्रकार का पात्रविधान अभिनेय नाटक के लिए अनुपयुक्त है ।

नाटक का विस्तार दृश्यविधान तथा पात्र संख्या दोनों दृष्टियों से असंगत है । दृश्यों को सजाने तथा मंचित करने में छः घण्टे का समय अपेक्षित है । अस्थिरचित्त के अभिनेता तथा दर्शक दोनों के लिए यह समय असह्य है ।

भाषा

नाटक एक ही समय में विभिन्न स्तर के दर्शकों द्वारा 'चाक्षुष' होता है । इसी कारण उसकी भाषा उपन्यास की भांति एक ही नहीं होनी चाहिए । विभिन्न स्वभाव तथा स्तर के पात्रों की भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक है । 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा का स्तर

सर्वत्र समान है--वह साहित्यिक तथा कठिन भी है । भाव-सौन्दर्य के लिए कठिन भाषा में उपमा तथा रूपक का सहारा लिया गया है । इस नाटक में और स्थल ऐसे हैं, जहां भाषा क्लिष्ट हो गयी है । प्रथम दृश्य में ही सिंहरण की भाषा देखिये :

सिंहरण

'हां,हां रहस्य है । यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्यावर्त का कुल रजनी की शान्ति निद्रा में उत्तरा पथ की अर्गला धीरे-धीरे खोल देने का रहस्य है ।'[1]

यहां सिंहरण आम्भीक को ताना दे रहा है । आम्भीक ने स्वर्ण लेकर यवनों के लिए उत्तरापथ का द्वार खोल दिया है । यह कार्य चुपचाप किया गया है,यही रहस्य है । एक अन्य स्थल पर--

सिंहरण

'एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा । चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुन्दर नील लोहित प्रलय जलधि में विहरण करेगी और वीर हृदय मयूर से नाचेंगे । तब आओ देवि स्वागत: ।'[2]

इस साहित्यिक भाषा के भाव साधारण और मध्यम स्तर के दर्शकों के लिए सहज ग्राह्य नहीं हैं ।कार्नेलिया तथा चन्द्रगुप्त के सम्वाद अधिक सरस तथा हृदयग्राही हैं । उनमें प्रभावित करने की क्षमता है । किसी भी भाषा के साहित्य में उन सम्वादों को रखा जा सकता है,

---

१- चन्द्रगुप्त नाटक,अंक १,दृश्य १

२- ,, ,, ,,

पर मंचीय विधा के लिए इन्हें निर्दोष नहीं माना जा सकता ।

स्वगत

मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न करने की क्षमता से युक्त होने पर भी इस नाटक में स्वगत कथन स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता ।

द्वितीय अंक में कल्याणी पर्वतेश्वर की सहायता उस समय करना चाहती है, जब वह चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हो । इस प्रकार अपने अपमान का बदला वह चाहती है । वह सेनापति से सलाह लेती है, जो कल्याणी को घायलों की शुश्रूषा करने का परामर्श देता है । कल्याणी सेनापति को कायर कहती है । इस स्थल पर सेनापति अपनी मानसिक प्रतिक्रिया प्रकट करता है --

सेनापति

"जब जैसी आज्ञा हो । (स्वगत) स्त्री की अधीनता वैसे ही बुरी होती है । तिसपर युद्ध-क्षेत्र में भगवान् ही बचावे ।"

इसी प्रकार तृतीय अंक के छठें दृश्य में चाणक्य मालविका को नर्तकी बनाकर राक्षस की झूठी चिट्ठी, जिसे चाणक्य ने राक्षस की ओर से सुवासिनी के लिए लिखा है, नन्द के पास भिजवाता है । वह झूठ बात कहने में झिझकती है, पर चन्द्रगुप्त के लिए यह कार्य स्वीकार करती है । चाणक्य द्वारा यदि मालविका का स्वगत सुना हुआ माना जाता तो चाणक्य उसे कभी अपने कार्य के लिए नहीं भेजता । इस नाटक में इसप्रकार के स्वगत अनेक स्थलों पर रखे गये हैं ।

अकेला पात्र यदि किसी स्थल पर अपनी मानसिक प्रतिक्रिया प्रकट करता है तो उसे उचित माना जा सकता है, पर मंच पर स्थित अन्य पात्रों के समक्ष बोला गया स्वगत अब नाटकों में अनुचित माना

जाता है । प्रसाद जी ने इसका प्रयोग संस्कृत नाटकों के आधार पर ही किया है ।

गीत योजना

'चन्द्रगुप्त' नाटक के गीत अत्यन्त मधुर और साहित्यिक हैं । प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में नन्द के विलास कानन में राक्षस तथा सुवासिनी साथ-साथ गाते हैं । एक के गाने पर दूसरा मूक अभिनय करता है । दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में कार्नेलिया गाती है तथा इसी दृश्य में अलका गाती है । अलका के गीत भाव प्रवणता की दृष्टि से अच्छे हैं--

'प्रथम यौवन मदिरा से मत्त,
प्रेम करने की थी परवाह'

सातवें दृश्य में पर्वतेश्वर को रोकने की दृष्टि से वह पुनः गाती है --

'बिखरी किरन अलक व्याकुल हो विरस वदन पर चिन्ता लेख ।
रूप निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान ।।'

तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में कल्याणी चौथे दृश्य में मालविका, छठें दृश्य में अलका के साथ नागरिक सामूहिक रूप में और नवें दृश्य में कार्नेलिया की आज्ञा से सुवासिनी गाती है ।

चन्द्रगुप्त नाटक के इन गीतों में नाटककार का हृदय ही झलकता है । ये गीत अभिनय के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर सकने में आवश्यक है, किन्तु उनसे कथावस्तु का प्रवाह अवरुद्ध होता है ।

अभिनेय गुण

नाटक का कथानक अनेक स्थानों पर फैला हुआ है । इसमें पच्चीस वर्षों की कथा वर्णित है । इस विस्तृत परिवेश में भी कथावस्तु सामान्यतः संगठित है । रंगनिर्देश, पात्रबहुलता, तथा सम्वादों की गति

देखकर नाटककार की शिल्प कुशलता की सराहना करनी पड़ती है । संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्वों का प्रयोग ही नहीं, नाटक में आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक सभी प्रकार के अभिनयों के लिए पर्याप्त अवकाश रखा गया है । नाटक का प्रारम्भ तथा अन्त भी नाटकीय है ।

नाटक पढ़ने पर रसौद्रेक में कमी नहीं आती । घटनाओं का संयोजन आकर्षक है, पर घटनाक्रम उपन्यास की भांति है । यही दोष नाटक को अभिनेय नहीं होने देता । साहित्यिक तथा नाटकीय गुणों से सम्पन्न 'चन्द्रगुप्त' नाटक सुपाठ्य है ।

'अजातशत्रु' नाटक

दृश्य-विधान

'अजातशत्रु' नाटक में तीन अंक हैं । प्रत्येक अंक में रखे गये दृश्यों को क्रमशः[१] दिखापाना सहज नहीं है । तीनों अंकों में लगभग सत्ताइस दृश्य हैं । दृश्यपटों के सहयोग से ही इन्हें प्रस्तुत किया जाना सम्भव है । प्रसाद जी के नाटकों के दृश्यक्रम में प्रकोष्ठ, पथ, राजभवन तथा उद्यानादि के दृश्य ही अधिक रखे जाते हैं । इस नाटक का दृश्य-विधान भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भांति ही पारसी नाटकों के दृश्यक्रम के आधार पर रखा गया है । मंच सीमाओं की दृष्टि से इसे उचित नहीं माना जा सकता ।

पात्र-विधान

इस नाटक में सात पुरुष तथा चौदह स्त्री-कुल मिलाकर

१- प्रथम अंक का दृश्यक्रम-- प्रकोष्ठ, बिम्बसार एकाकी, पथ, उपवन, कौशाम्बी में मागन्धी का मन्दिर, कौशाम्बी पथ, कोशल में श्रावस्ती की राजसभा, प्रकोष्ठ, पद्मावती का प्रकोष्ठ ।
२- द्वितीय अंक का दृश्यक्रम-मगध, पथ, मल्लिका का उपवन, काशी में श्यामा का गृह, बन्धुल का गृह, महाराजपथ, कोशल की सीमा, श्रावस्ती उपवन, कौशाम्बी पथ, मगध में छलना का प्रकोष्ठ ।
३- तृतीय अंक का दृश्यक्रम- मगध में राजकीय भवन, कोशल में राजमहल से लगा हुआ बन्दी गृह, कानन का प्रान्त, प्रकोष्ठ, कोशल की राजसभा, आम्रकानन, प्रकोष्ठ, विरुद्धक का कुटीर।

पात्रों को रखा गया है । इनके अतिरिक्त अभिनय के लिए मंच व्यवस्थापकों को भी रखने पर यह संख्या पचास के आस पास पहुंचती है । किसी अव्यवसायी नाट्य मण्डली द्वारा यह नाटक अभिनीत होना असम्भव है ।

सम्वाद-कौशल

'अजातशत्रु' नाटक में सम्वादों की योजना उपयुक्त है । चुभते हुए सम्वाद न केवल चरित्रोद्घाटन करते हैं,वरन् कथा को अग्रगामी भी करते हैं । वाक्पटुता में प्रसाद जी सिद्धहस्त हैं । भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल नहीं है, पर शैली उन्होंने पात्रानुकूल रखी है । उनके सौम्य,सज्जनपात्र सदैव सन्तोष देने वाली वाक्यावली प्रयोग करते हैं, जब कि उद्धत पात्र दूसरों को जलाने या कष्ट पहुंचाने वाली शैली का प्रयोग करते हैं । इससे पात्रों के स्वभाव का पता चलता है, उनका चरित्र दूसरे पात्रों से भिन्न हो जाता है । किसी भी स्थान के सम्वाद पढ़कर विशेष पात्र का अनुमान लगाया जा सकता है ।

इस नाटक में अनेक स्थानों पर एक अकेला पात्र बोलता है । इन स्वगतों में वाक्य तथा वक्तृता अपेक्षाकृत लम्बी हो गयी है । अभिनेय नाटक में इस प्रकार लम्बी वक्तृताएं सुविधाजनक नहीं हैं । दर्शक अत्यधिक स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होता है । वह मनोरंजन के साथ ही सीधे रस सम्प्रेषण की स्थिति चाहता है । उसे नाटक का परिणाम जानने की उत्सुकता रहती है । अनेक दृश्यों में स्वगत भाषण लम्बे हो गये हैं[1] । इसके साथ ही अनेक स्थलों पर प्रयुक्त होने के कारण आकर्षण हीन भी हैं ।

संकलनत्रय

नाटक के कथानक में ब्राह्मण तथा बौद्ध संस्कृति का आपसी संघर्ष है । कथावस्तु का विस्तार कौशल,काशी,प्रयाग(कौशाम्बी) तथा मगध

१- अंक१,दृश्य१ बिंबसार,दृश्य पांच में मागन्धी और चौथे दृश्य में विरुद्धक । अंक २,दृश्य१ बन्धुल,दृश्य४ श्यामा,दृश्य५ मल्लिका,अंक३

तक फैला हुआ है । इस प्रकार अभिनेय की दृष्टि से नाटक का कथानक अजातशत्रु के सिंहासनासीन होने तक का है । कोशलनरेश से उसने दो-युद्ध किये तथा कोशलकन्या से विवाह किया । समय का अन्तराल अधिक खलता नहीं है । बौद्ध धर्म का विरोध और अन्त में उसी की विजय नाटक में संघर्ष तथा आन्तरिक द्वन्द्व उत्पन्न करता है । क्रिया की एकता नाटक में रखी गयी है । अतः इस नाटक में केवल कार्य संकलन ही देखा जा सकता है ।

संघर्ष, द्वन्द्व तथा आकस्मिकता

संघर्ष की छाया तो सम्पूर्ण नाटक पर छायी हुई है । दुर्णीक, छलना तथा समुद्रदत्त नाटक में विरोधी पात्र हैं । ये वासवी, पद्मा आदि पात्रों का कार्यविरोध करते हैं । सम्पूर्ण पांचवां दृश्य संघर्ष की तैयारी में ही जाता है । मागधी अपनी चाल द्वारा उदयन की पद्मावती के विरुद्ध खड़ा करती है । उदयन पद्मावती का वध करने को तलवार उठाते हैं, उसी समय वासवदत्ता आ जाती है षड्यन्त्र स्पष्ट हो जाता है । वासवदत्ता का आगमन दर्शकों को शान्ति प्रदान करता है[1] । अजातशत्रु तथा छलना कुमन्त्रणा करते हैं । उसी समय विरुद्धक प्रवेश करता है । विरुद्धक का प्रवेश आकस्मिक है, जो नाटक में दर्शकों को प्रसन्न करता है[2] । वाजिरा कुमारी तथा अजातशत्रु प्रेमालाप करते हैं, उसी समय वाजिरा का दूसरा प्रशंसक प्रेमी कारायण प्रवेश करता है[3] । इस प्रकार नाटक में संघर्ष, द्वन्द्व तथा आकस्मिकता की स्थितियां नाटकीय हैं ।

रंगनिर्देश

वातावरण तथा अभिनय स्थितियां उभारने में रंग निर्देशों का विशेष महत्व हो जाता है । आंगिक अभिनय के उदाहरण अजातशत्रु

१- अंक १, दृश्य ६ ।

२- अंक २, दृश्य १० ।

नाटक में बिखरे पड़े हैं जो नाटक में तेजस्विता एवं गति भरते हैं । सम्वादों का स्वाभाविकता प्रकट करने में आंगिक चेष्टाओं से सहयोग मिलता है । अजातशत्रु नाटक के आंगिक निर्देश सामान्य हैं[1]।किसी भी नाटक में गम्भीरता और नाटकीयता उभारने के लिए सात्विक अभिनय आवश्यक होता है । इससे पात्रों की आन्तरिक स्थिति उभरती है । अपनी आन्तरिक भावना की अनुभूति दर्शकों को कराने में सात्विक अभिनय पूर्णरूपेण सहायक होता है । इस नाटक में प्रयुक्त सात्विक अभिनय सम्बन्धी रंग निर्देश सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक हैं[2] । इससे यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि अजातशत्रु नाटक में अभिनेयता में सहायता पहुंचाने के हेतु उपयुक्त रंगनिर्देश रखे गये हैं ।

नाटकीयता

'अजातशत्रु' नाटक में दो पात्र दुहरी भूमिकाएं निभाते हैं । नाटकीयता के लिए ये पात्र उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं । वासवदत्ता उदयन की रानी है । उसे अपने सौन्दर्य का गर्व है । वह गौतम को अपने रूप पर मोहित करना चाहती है । गौतम पद्मावती के महल में आते हैं । उदयन वहाँ गौतम की वाणी सुनते हैं । मागन्धी इससे विरोध करने पर उद्यत होती है । वह षड्यन्त्र से महाराज को अपनी ओर मिलाती है । उदयन पद्मावती को मारने के लिए तलवार उठाते हैं, पर उनका हाथ उठा ही रह जाता है । इसी समय मागन्धी के महल में आग लग जाती है और मागन्धी उसी में विनष्ट हुई मान ली जाती है । वह किसी प्रकार निकल जाती है तथा काशी में वार विलासिनी का जीवन व्यतीत करती है ।

१- क्रीड़ा करके देना,अजातशत्रु के सिर पर हाथ फेरती है,क्रोध से उठकर खड़ा हो जाता है,पद्मावती के सामने घुटने टेकता है, पैर पकड़ता है तथा अंगूठी पहनाता है ।

२- आंख बन्द किए हुए ,चौंककर कुछ सनते हुए,मुग्ध होकर,प्रेमोन्मत्त होकर, मुंह फिराकर आदि ।

दुहरी भूमिका निभाने वाला दूसरा पात्र विरुद्धक है। वह अपने पिता से अपमानित होने पर शैलेन्द्र नाम का डाकू बन जाता है। इसी छद्मवेश में वह बन्धुल का वध करता है। श्यामा से उसका सम्बन्ध शैलेन्द्र के रूप में ही है। शैलेन्द्र ही विरुद्धक है यह भेद सहज स्पष्ट नहीं होता। स्पष्ट होने पर नाटकीय स्थिति उत्पन्न होती है।

आरम्भ तथा अन्त भी नाटकीय है। सम्पूर्ण नाटक का वातावरण 'चन्द्रगुप्त' की अपेक्षा 'अजातशत्रु' में अधिक अभिनेय है। अपने दृश्यविधान तथा पात्रों की दृष्टि से यदि नाटक उपयुक्त होता तो अभिनय का अच्छा उदाहरण उपस्थित करने में ऐसा दूसरा नाटक हिन्दी साहित्य में न होता। परिणामतः प्रसाद जी हिन्दी नाट्य जगत् के भास्वर सूर्य हैं। उनकी नाट्यकला रूपी रश्मियों से विश्व साहित्य जगत् में आलोक फैल गया। हमारे पास इतना विकसित नीलाकाश रूपी मंच नहीं है कि इस नाट्यकला के सूर्य को प्रकट कर सके। उनके नाटक अपने विशेष प्रकार के रंगमंच की अपेक्षा रखते हैं।

इनकी नाट्यकला भव्य,दृश्य तथा गीति रूपों में प्रकट हुई है। ऊपर भव्य रूप में 'चन्द्रगुप्त' तथा 'अजातशत्रु' नाटक का तथा गीति नाट्य के लिए उनके 'करुणालय' का अध्ययन किया गया है। दृश्य नाटकों में उनका 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक प्रमुख है। इस प्रकार उनके इन तीनों प्रकार के नाटक मानवता,देशप्रेम,भारतीय संस्कृति तथा जीवन के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रसाद जी के नाटकों पर गर्व है।

२- सेठ गोविन्ददास

प्रतिपाद्य

सेठ जी के नाटक उपदेशात्मक पद्धति पर विकसित हुए हैं। वे नाटक में विचार की महत्ता पर अधिक बल देते हैं। उनका मत है कि जिस कृति में जितना महान विचार होगा, वह कृति उतनी ही प्रभावशालिनी

होगा । शैली की अपेक्षा नाटकीय कथानक पर उनके नाटक अधिक बल देते हैं । फलत: कथानक का विस्तार अधिक है तथा सम्वाद लम्बे-लम्बे सम्भाषण के रूप में हैं । यही कारण है कि उनके नाटक कार्य-व्यापार ,भाषा, स्वगत कथन आदि की दृष्टि से स्वाभाविक होते हुए भी गतिहीन-से हो गये हैं । सेठजी के नाटक मंच की अपेक्षा सिनेमा मंच के अधिक निकट हैं । उनके नाटकों के दृश्यविधान पर नगेन्द्र जी ने लिखा है -- ' यहां तक का दृश्य सिनेमा में ही दिखलाया जा सकता है । अभिनय की दृष्टि से कथी सबसे कमजोर है ।'[1] इससे यह स्पष्ट है कि सामान्यत: उनके नाटक सफलतापूर्वक मंच पर अभिनीत नहीं किये जा सकते ।

नाट्य कृतियां

सेठ गोविन्ददास की प्रमुख नाट्यकृतियां हैं: 'विक्रमादित्य' 'दाहर' ,'अम्बा' ,'सगर विजय' ,'मत्स्यगन्धा' ,'कमला' ,'राधा','अन्तहीन अन्त' 'मुक्तिपथ' ,'शकविजय' ,'कालिदास' ,'मेघदूत' एवं विक्रमोर्वशीय' ।

इन नाट्यकृतियों में कथा का संयोजन प्रभावपूर्ण है ।समाज में नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए उनका दृष्टिकोण सही दिशा में अग्रसर हुआ है । किन्तु पौराणिक,ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों में उनके विचारों में एकरूपता है । सेठ जी के नाटकों में गीत भी रखे गये हैं, पर उनमें कथानक को चारुता प्रदान करने की क्षमता का अभाव है । इन्हीं अभावों के कारण उनके नाटकों में नाटकीय गुण नहीं उभर पाया ।

सेठ जी की नाट्यकला उपन्यास कला से मेल खाती है । विस्तृत कथन,पात्रों की विपुलता और अनेकरूपता शैली की भांति ही दृष्टिगत होती है । उद्देश्य की प्रमुखता के कारण उनके नाटकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति है । वे पाठ्य हैं किन्तु कथ्यसूत्रों की उलझन के कारण उनके पढ़ने में रस नहीं मिलता । हिन्दी के प्रारम्भिक काल के नाटक होने के कारण इन नाटकों का ऐतिहासिक मूल्य अवश्य है । इसी ऐतिहासिक महत्व के कारण

१- जयनाथ नलिन : 'हिन्दी नाटककार' ,पृ०२०१-२०२ ।

उनके नाटकों में 'शेरशाह' और 'प्रकाश' का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'शेरशाह' नाटक

परिचय

यह सेठ जी का ऐतिहासिक नाटक है । नाटक में शेरशाह के चरित्र पर ही दृष्टि केन्द्रीभूत की गई है । शेरशाह उदार तथा सबों समान व्यवहार करने वाला सच्चा समाजसेवी है । वह अपने कार्यों से प्रजा का दिल जीतकर शेरखां से शेरशाह की उपाधि धारण करता है और हिन्दोस्तान की सल्तनत का मालिक बन जाता है । ऐतिहासिकता के साथ ही नाटक का ध्येय मनोबल बढ़ाकर शिक्षा देना भी है । नाटक की कथावस्तु प्रेरणावर्द्धक तथा जीवन्त है ।

दृश्य विधान

नाटक में पांच अंक तथा छब्बीस दृश्य हैं । ये दृश्य अनेक स्थानों पर घटित होते हैं । अत: मंच पर इनका संयोजन कष्टसाध्य हो जाता है । यह नाटक यदि दृश्यविधान की दृष्टि से किसी प्रकार उचित भी बनाया जाय तो इसका अभिनय छ: घण्टे से कम में नहीं हो सकता । अनेक दृश्य तीस वर्षों की कथावस्तु समेटे हुए सहसरां, बैसिपुर, आगरा, बिहार शरीफ, चुनार, रोहतासगढ़, सहवा, चौसा, गौड़, कन्नौज तथा दिल्ली में घटित होते हैं । इस नाटक में १५११ ई० से १५४१ ई० तक का इतिहास वर्णित है । दृश्यविधान की दृष्टि से नाटक दोषपूर्ण है तथा मंच पर इसे सफल पाना बहुत कठिन है ।

पात्र-योजना

इस नाटक में आठ पुरुष पात्र तथा एक स्त्री पात्र प्रधान है । कर्मा, सैनिक आदि मध्यम पात्र हैं । पात्रों की महत्ता, उपयोगिता एवं सजीवता पर उंगली नहीं उठाया जा सकता । प्रत्येक पात्र अपना चारित्रिक महत्त्व रखता है । नाटकीय चरित्रों के विकास में यह गुण अवश्य सराहनीय है ।

निजाम तथा लाड़बानू की मुहब्बत की कसक बहुत प्रभावोत्पादक है । गीत, संगीतादि का जो संयोजन नाटक में रखा गया है, वह अपना सम्पूर्ण प्रभाव उत्पन्न नहीं करता । पात्रों को अपना प्रदर्शन करने के लिए फिल्मी मंच की आवश्यकता है । निजाम की प्रार्थना पर बानू का गाना तथा आस पास घूमना एकदम फिल्मी स्तर का है । दर्शकों के धैर्य तथा उनकी मानसिक क्षमताओं को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इस नाटक का मंचन यथावत् नहीं किया जा सकता ।

सम्वाद योजना

इस नाटक के सम्वाद ऐतिहासिक वातावरण उत्पन्न करने की क्षमता अवश्य रखते हैं, किन्तु उनमें तीव्रता, कसक तथा हृदय पर सीधे चोट करने की क्षमता का अभाव है । उनमें पाठकों को आन्दोलित करने की सामर्थ्य भी नहीं है । शेर खां और कुलादित्य में वार्ता चल रहा है---

शेरखां -- कैसा रदोबदल ?

कुलादित्य-- याद कीजिए, उससमय को जब आपने अपनी जागीर छोड़ी थी ?

शेरखां -- (कुछ याद करते हुए) अच्छा ।

कुलादित्य-- जिस प्रकार की चर्चाओं ने आपसे अपना पुश्तैनी जागीर छुड़वादा उसी प्रकार की चर्चाएं अब आपके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं डाल रही हैं ।

शेरखां -- (गम्भीरता से होकर) हां यह तो है ।

कुमारादित्य -- अब आपको इन क्षणिक बुराइयों की परवाह न होकर उद्देश्य पूर्ण करने की ही चिन्ता है। यह भविष्य है ~~जिस~~ अच्छे से अच्छे उदाहरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

(दरबान का प्रवेश)

दरबान -- (झुककर) हुजूर बादशाह हुमायूं के एक सरदार सरकार से मुलाकात करने के लिए तशरीफ लाये हैं।

शेरखां -- अच्छा (कुछ सोचकर) उन्हें इज्जत के साथ अन्दर ले आओ।

स्पष्ट है कि नाटक के संवाद छोटे और सरल हैं, पर उनमें नाटकीयता का अभाव है।

शैली

गीत, संगीत तथा प्रकाश व्यवस्था से प्रभावों की सृष्टि कर पाना इस नाटक में असाध्य है। अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं द्वारा इस नाटक का मंचन सम्भव नहीं है। व्यवसायी कम्पनियां व्यापारिक दृष्टिकोण से सफल न होने से इस नाटक का चयन नहीं करेंगी। फिल्म के लिए यह नाटक अधिक उपयुक्त हो सकता है। यद्यपि वहां शेरशाह के चरित्र में संशोधन करना आवश्यक होगा। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक को मुख्य पाठ्यगत ही कहा जा सकता है।

प्रकाश नाटक

इस नाटक की कथावस्तु सामाजिक है। समाज में ऊंच, नीच, धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित का जो भेद है, उसी का विरोध इस नाटक में किया गया है।

दृश्यविधान

प्रस्तुत नाटक में तीन अंक तथा पच्चीस दृश्य हैं। ये दृश्य उद्यान, मैदान, शयनकक्ष, सड़क तथा घुड़दौड़ के मैदान में घटित होते हैं।

प्रारम्भ में एक सांड़ आता है जो अन्त में रस्सियों से बांधा जाता है । उसने उपक्रम में गुजां चाना मिट्टी के बर्तनों का दुकान को उपसंहार में तोड़कर भुरकुस बना दिया है । ये दृश्य प्रकाश के चरित्र का प्रतीक रूप से उद्घाटन करते हैं । प्रभाव की दृष्टि से ये दृश्य अच्छे हैं, पर इन्हें मंच पर दिखा पाना कष्टसाध्य है । विस्तृत होने से नाटक का दृश्य विधान मंच के अनुपयुक्त है ।

पात्र योजना

इस नाटक में नौ पुरुष तथा सात स्त्री पात्र हैं । दास-दासियां आदि माध्यम पात्र हैं । सभी पात्रों का चरित्र स्पष्ट नहीं किया गया है । मुख्य पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए ही माध्यम पात्र रखे गये हैं । नाटक में प्रयुक्त उच्चवर्गीय पात्रों का चरित्र-चित्रण निम्नवर्गीय पात्रों की अपेक्षा अधिक कुशलता से उभरा है । मनोविज्ञान के सहारे चित्रण न होने से पात्र योजनाकर्षक है । अभिनेय नाटक के लिए इस प्रकार के पात्र अच्छा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते ।

सम्वाद

'प्रकाश' नाटक के सम्वाद संक्षिप्त हैं । उनका विकास मनोविज्ञान के आधार पर नहीं है । नाटक के उच्चवर्गीय पात्र राजा, बैरिस्टर, डाक्टर तथा लाट साहब सभी की शान झूठी है । ये पात्र मानवता से परे हैं । इनके सम्वाद भी इसी मनोवृत्ति का उद्घाटन करते हैं ।

सम्वादों की भाषा में सादगी है, साहित्यिकता का अभाव है । नाटक में सर भगवानदास तुतलाते हैं तथा उनकी पत्नी लक्ष्मी ग्रामीण भाषा बोलती हैं । यही पात्र अपने कथोपकथनों में मनोरंजन उत्पन्न करते हैं ।

भगवान -- तुम दुनियां तो समझतो हो नहीं । ववरदस्ता छाल-छाल पीली-गाढी आर्थ लिए घूमता हो ।

लक्ष्मी -- तोहिका और तेरी दुनियां का दुन्धन का समफलान (मुंह सिकोड़कर) कितना धूल उड़ावत हई ? (मुंह पोंछकर) फिर यह पूजा पाठ कैर गठरी कहीं बांधि के धरियै और तोहू किरिस्तान होइजा ।

भगवान -- दक्खत होदो तो यही करता, पर असली दक्खत त्या है?

रंग संकेत

इस नाटक में रंग सूचनाएं बहुत विस्तृत हैं । पात्रों का स्वभाव, रंग, कद इत्यादि का विस्तृत वर्णन है । नाटक में संघर्ष-द्वन्द्व तथा अतिरंजना का अभाव है । मनोरमा प्रकाश से प्रेम करती है, पर उसका कथक नाटक में उभरती नहीं है । तारा राजा अजय की पत्नी है उसे प्रकाश पुत्रवत् दिखता है । रुक्मिणी में संघर्ष की सम्भावनाएं हैं, पर वह जीवन्त नहीं हो पाता है । आंगिक तथा सात्विक अभिनयों को प्रकट करने वाले संकेत नाटक में निम्न प्रकार हैं :

और से धुआं खींच छोड़ते हुए, लम्बी सांस लेकर खांसते हुए कुछ ठहर कर जाते-जाते, मुंह सिकोड़ कर जाते-जाते, हाथ मलते हुए, चारों ओर देखते हुए, गम्भीरता से, मिठाई खाते हुए, डर से कांपते हुए तथा अत्यन्त घबड़ाकर आदि संकेत नाटक में क्रियाशीलता का संकेत करते हैं ।

इस प्रकार नाटक में रंगमंच सम्बन्धी विशेषताएं होते हुए भी दृश्यविधान की कमी से यह नाटक मंचन के उपयुक्त नहीं है । इसे पाठ्य शैली के नाटकों में रखना ही उपयुक्त है । अतः सेठ जी के नाटकों को एक मालगाड़ी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । उनका दृश्यविधान मालगाड़ी के डिब्बों की भांति है बहुत लम्बा है, जिसमें शक्तिहीन पात्रों का इंजिन जुड़ा है । इसी से चालकरूपी प्रस्तुतकर्ता चाहते हुए भी पटरी इसी मंच पर उन्हें गतिमान नहीं दे पाता । दर्शक रूपी सवारियां समय के

अपव्यय से कम। उसका आनन्द नहीं लेना चाहता । दृश्य-पी छिब्बों में कुछ उपयोगी माल अवश्य भरा रहता है, जिसे पाठक अपनी क्षुधा शान्त कर सकें ।

इस प्रकार श्रव्य नाटकों की श्रेणी में ही सेठ गोविन्ददास के नाटक रखे जा सकते हैं ।

उदयशंकर भट्ट

हिन्दी नाटककारों में भट्ट जी का नाम उल्लेखनीय है । इन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों पर नाटक लिखे हैं । इनके पौराणिक नाटकों का नाटकीय वातावरण ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा शान्त रहता है । कार्य संकलन के अभाव में इनके नाटकों में विस्तार अधिक हो जाता है । दृश्य विधान अनेक स्थानों पर संयोजित हो जाता है, इसी से इनके नाटकों का शिल्प रंगमंच की दृष्टि से अधिक ग्राह्य नहीं रहता । इनके ऐतिहासिक नाटकों में बहुधा रंगमंचीय सम्भावनाएं अधिक रहती हैं । जिनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण नाटकीय वातावरण में होता है और घटनाओं का चित्रण स्वाभाविक रहता है । अभिनेय नाटकों के विशिष्ट गुण संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, आकस्मिकता तथा कुतूहल के अभाव में इनके नाटक रंगमंच पर उतने सफल नहीं हैं, जितने श्रव्य रूप में । इसी से इनके नाटकों में अभिनेयता शिथिल हो जाती है ।

पण्डित उदयशंकर भट्ट की प्रतिभा उनके गीति नाट्यों में मुखरित हुई है । 'मत्स्यगन्धा' गीति नाट्य का उदाहरण दिया जा चुका है । इनके इस गीति नाट्य में जितनी काव्यात्मकता है, उतनी ही कलात्मकता भी है । इनके नाटकों पर जयनाथ 'नलिन' लिखते हैं :

"भट्ट जी के नाटकों में जहां टैकनीक के अन्य दोष हैं, वहां अभिनय की दृष्टि से भी वे सर्वथा ही असफल हैं ।"

स्पष्ट है कि नाट्यकला, सुसम्बद्ध कथानक, संक्षिप्त नाटकीय

कथोपकथन, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, संघर्ष-अन्तर्द्वन्द्व और आकस्मिकता की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति उनके नाटकों में नहीं होती।

नाट्य-कृतियाँ

श्री उदयशंकर भट्ट ने 'दाहर', 'मुक्तिपथ', 'विक्रमादित्य' और 'शकविजय' नाटकों की रचना की है। 'दाहर' नाटक पर वातावरण प्रधान नाटकों के सन्दर्भ में विचार किया जायगा। यहाँ 'मुक्तिपथ' पर विचार किया जा रहा है।

'मुक्तिपथ' नाटक

इस नाटक की कथावस्तु कुमार सिद्धार्थ के जीवन पर आधारित है। कुमार सिद्धार्थ धीरे-धीरे किस प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हीं घटनाओं को नाटकीय वातावरण में प्रस्तुत करने का उपक्रम प्रस्तुत नाटक में है।

दृश्यक्रम

'मुक्तिपथ' नाटक में तीन अंक हैं और पन्द्रह दृश्य हैं। ये दृश्य पथ, उद्यान, सिंहासन, वनस्थली के हैं। दृश्यों के बीच-बीच में उपदृश्य भी रखे गये हैं। नाटक में सज्जा की दृष्टि से सूतिका गृह, नगर निरीक्षण, सरितातट एवं पीपल के वृक्ष कठिन हैं[१]। नगर निरीक्षण का दृश्य दो भागों में विभाजित है। भीतरी भाग में रथ चलता हुआ दिखाया गया है तथा बाहर दो फुट की ऊँचाई पर दुकान सजी है। इस स्थान पर घूमते हुए नागरिक दिखलायी पड़ते हैं। पीपल के वृक्ष के पास के दृश्य में गौतम समाधि से जागते हैं, वहाँ अनेक जंगली जीव, पशु-पक्षी अपना पैर झुकाकर बैठे हैं, तथा अपनी जीवन्तता प्रकट करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटक के दृश्यों की सज्जा बहुत कठिन है। उन्हें

१- अंक २, दृश्य ४
अंक ३, दृश्य ५

यथार्थवत् सजा पाना नाट्य मंच के सीमित परिवेश में सम्भव नहीं प्रतीत होता है ।

पात्र

नाटक में पच्चास-साठ पात्र रखे गये हैं । घटनाप्रधान नाटक होने से पात्रों का विकास उनके मनोविज्ञान के आधार पर नहीं हो सका । पात्र घटनाओं को स्पष्ट करने के हेतु रखे गये प्रतीत होते हैं । अभिनेय नाटक में जिस प्रकार के चरित्र प्रधान पात्र अपेक्षित रहते हैं,वे इस नाटक में नहीं हैं । उनमें स्वाभाविकता का अभाव है । उनमें संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व प्रकट करने की क्षमता नहीं है । नाटकीय कार्य व्यापार के लिए पात्र परिचालित किये जाते हैं । इस भाँति कार्य व्यापार के माध्यम से उनके चरित्रों का विकास नहीं होता । स्पष्ट है कि अभिनेय नाटक की दृष्टि से मुक्तिपथ असफल है ।

सम्वाद

भट्ट जी के नाटक 'बाहर' की अपेक्षा इस नाटक के कथोपकथन अधिक स्पष्ट तथा सरल हैं । वे कथावस्तु का उद्घाटन इसप्रकार करते हैं कि उसमें नाटकीयता नहीं उभरती । हां, इस नाटक में भट्ट जी ने स्वगत कथन का प्रयोग नहीं किया है । कथोपकथन भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं ।

नाटक की भाषा सरल है ।अभिव्यंजक भाषा के अभाव के कारण ही कथोपकथनों में नाटकीयता नहीं उभरती । इस नाटक में सात गीत रखे गये हैं । गीत कथावस्तु से सम्बद्ध हैं,पर उनमें नाटकीय वातावरण निर्माण की क्षमता नहीं है । गीत इसी से अभिनय में सहायक नहीं हो पाये।इस नाटक में मंच-प्रयोग की दृष्टि से कुछ विशिष्टताएं रखी गयी हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है ।

आकस्मिकताएं

गोपा अपनी सखियों के साथ उद्यान में मनोविनोद करती है। उस समय वहां गौतम के चित्र की चर्चा चल रही है। इसी समय पथ भूल कर गौतम वहां पहुंच जाते हैं। ये नाटकीय सम्भावनाएं रहते हुए भी नाटक अपने विस्तार के कारण और वर्णनात्मक शैली के कारण नाट्य मंच के लिए उपयुक्त नहीं है। नाटक में अभिनय सम्बन्धी रंगसूचनाएं भी रखी गयी हैं।

रंग संकेत

नाटक में निम्न प्रकार की रंग सूचनाएं रखी गयी हैं : हंसकर, उसे ध्यान से देखकर, ध्यानस्थ हो जाता है, ठहरकर, उठते हुए, झुककर, निष्प्रभ होकर और भौंहों को उठाकर देखते हुए आदि आंगिक तथा सात्विक अभिनयों को उभारने वाली रंगसूचनाएं नाटक में हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भट्ट जी के नाटक एक ऐसे व्यक्ति की भांति हैं, जो चरित्र का महान है, पर समाज में अपने मूल गुणों को ठीक से प्रकट नहीं कर पाता। उसके अन्दर विचारों की गम्भीरता तो है, पर भाषा के माध्यम से वह उन्हें बांध नहीं पाता। उसका जीवन साधारण है, आकर्षणहीन है। वह संगीत का ज्ञाता है, पर मंच पर अधिक सफल नहीं हो पाता है।

हरिकृष्ण प्रेमी

परिचय

हरिकृष्ण "प्रेमी" के नाटकों को पारसी रंगमंचीय नाटकों की परम्परा की कड़ी के रूप में माना जा सकता है। इनके नाटकों का दृश्य-विधान पारसी नाटकों के अनुरूप ही है। पात्र योजना मनोवैज्ञानिक आधार पर न होकर घटनाओं के आधार पर है। नाटकों की कथावस्तु मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर आधारित होने से उनके नाटक किसी-न-किसी चरित्र

नायक का जीवन उद्घाटित करते हैं । यहां पात्र उभरता नहीं है, क्योंकि नाटक में घटनाओं पर अधिक बल दिया जाता है । इसी से 'प्रेमी' जी के नाटकों को ऐतिहासिक वातावरण प्रधान नाटकों की श्रेणी में रखा जाना उपयुक्त प्रतीत होता है । वे पाठक के मस्तिष्क पर चरित्र की छाप न डालकर वातावरण का प्रभाव छोड़ते हैं ।

प्रेमी जी के नाटकों में बहुधा तीन अंक तथा अनेक दृश्य रहते हैं । विस्तृत दृश्य विधान के कारण उनके नाटक नाट्य संस्थाओं द्वारा अभिनीत कम हो पाते हैं । कतिपय व्यवसायी नाट्य-मण्डलियों द्वारा उनके नाटकों का मंचन दृश्यपटों की सहायता से हुआ है । 'प्रेमी' जी द्विअर्थक शब्दों का प्रयोग कर नाटक में चमत्कार उत्पन्न करते हैं और घटनाओं में मोड़ भी उपस्थित करते हैं । इसी प्रकार वक्रोक्ति द्वारा वे बाह्य संघर्ष की सृष्टि करते हैं । इसी कारण उनके नाटकों में आन्तरिक द्वन्द्व के लिए सम्भावनाएं कम रह जाती हैं । प्रेमी जी के नाटक सोद्देश्य लिखे गये हैं । उनमें कोई-न-कोई आदर्श उपस्थित किया जाता है ।

इन नाटकों की भाषा साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण रहती है । उसमें भावों के व्यक्त करने की क्षमता रहती है । भाषा की सम्पन्नता के कारण ही उनके नाटकों में कथोपकथन अधिक सशक्त और नाटकीय रहते हैं । उनमें संक्षिप्तता और तीव्रता रहती है । सम्वादों की शक्ति ही प्रेमी जी के नाटकों की सफलता है-- यह कहना उचित है ।

प्रेमी जी ने अनेक नाटकों की सृष्टि कर हिन्दी नाट्य साहित्य का भण्डार भरा है । उनकी नाट्यकृतियों का उल्लेख इस प्रकार है

नाट्य कृतियां

प्रेमी जी ने निम्नलिखित नाटक लिखे हैं :

'स्वर्ण विहान', 'पाताल विजय', 'रक्षाबन्धन', 'शिवासाधना' 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'आहुति', 'स्वप्नभंग', 'छाया', 'बन्धन', 'उद्धार'

'विषपान' । यहां प्रेमी जी के 'प्रतिशोध' नाटक पर विचार किया जा रहा है ।

'प्रतिशोध' नाटक

नाटक की कथावस्तु बुन्देलाधिपति चम्पतराय के पुत्र छत्रसाल की वीरता पर आधारित है । चम्पतराय के जन्म से लेकर राज्यारोहण तक की कथा नाटक में वर्णित है । छत्रसाल की बहादुरी के आगे औरंगजेब को भी झुकना पड़ा । नाटक में आपसी विग्रह,युद्ध तथा शक्तिहीनता की घटनाओं का चित्रण किया गया है । अन्त में सभी शक्तियाँ जो बिखरी हुई थीं, एक बुन्देले के झण्डे के नीचे एकत्रित हो जाती हैं ।

दृश्यविधान

नाटक में तीन अंक और पच्चीस दृश्य हैं । ये दृश्य अनेक स्थानों पर उद्घाटित होते हैं । दो विरोधी दृश्यों के बीच में कोई चल दृश्य भी नहीं रखा गया है । प्रेमी जी के समक्ष रंगमंच की वह कसौटी नहीं थी,जिस पर आज नाटकों को कसा जाता है । उनके नाटकों में इसी से दृश्यपटों की सहायता से दृश्य प्रस्तुत करने की पारसी नाटकों की पद्धति है ।

इस नाटक में मंच सम्बन्धी दृश्यों की योजना नहीं है । कोई दृश्य अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता । अतः दृश्यविधान की दृष्टि से नाटक आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त है ।

पात्र योजना

पच्चीस पात्रों की सहायता से नाटकीय वस्तु सम्पन्न होती है । उन्नीस पात्र पुरुष तथा छः स्त्री हैं । नाटक में उन पात्रों

के लिए स्थान नहीं होता, जो कथावस्तु के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते । इस नाटक में इस प्रकार के अनुपयोगी पात्र हैं, जिनका सम्बन्ध कथावस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं होता । अमरकुंवरि तारा देवी की प्रतिकृति है । दर्शकों को उसके कथोपकथन से यह सूचना पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं हो पाती और वह कथावस्तु से अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेती है । शिवाजी का व्यक्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि से छत्रसाल से महान है, पर इस नाटक में वे छत्रसाल का नेतृत्व स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार भीमसिंह, इन्द्रमणि, तहव्वर खां और गम्भीर सिंह आदि पात्रों के चरित्र भी नहीं उभरते हैं ।

चरित्र घटनाओं के कारण दब गये हैं । मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनका विकास नहीं हुआ है । एक सफल अभिनेय नाटक की दृष्टि से यह पात्र योजना सुसम्बद्ध नहीं मानी जा सकती ।

सम्वाद योजना

नाटक के सम्वाद संक्षिप्त तथा मनोरंजक होने से नाटकीय हैं । उनमें साहित्यिकता के साथ ही जातीय गुणों को उभारने की सामर्थ्य है । लालकुंवरि और चम्पतराय की भावनाओं की चरम सीमा पर उनके कथोपकथन इस प्रकार हैं:

लाल कुंवरि — महाराज !

चम्पतराय — शत्रु हमारे निकट आ गये हैं अब देर न करो ।

लाल० — (तलवार खींचती है) मैंने कुमारी अवस्था में जो बात कही थी वह सत्य होकर ही रहेगी, यह कौन जानता था । पति की आन रखने के लिए आज मुझे उनके प्राण लेने पड़ रहे हैं । स्वामी मुझे एक बार अपने चरण छू लेने दीजिए । (चरण छूती है आंखों में आंसू आ जाते हैं।)

चम्पत — प्रिये ! यह दुर्बलता क्यों ? क्षत्राणियों का हृदय तो वज्र होता है । उठाओ तलवार ।

छत्र -- (चम्पतराय पर तलवार का वार करता है) बुन्देलखण्ड की स्वाधीनता का एक अध्याय यहां समाप्त होता है । मैं भी अब इस जगत् से विदा लेता हूं (पेट में तलवार भोंककर गिर पड़ता है)[1]

छत्रसाल में मां-बाप की मृत्यु से निराशा उत्पन्न होती है । उन्हें गुरु प्राणनाथ समझाते हैं --

प्राणनाथ -- यह कायरता तो है हां कुंवर । मूर्खता भी है । मां चली गयी तो क्या हुआ जननी जन्मभूमि तो है । वह तो मां की मां है और तुम्हारी भी मां है ...[2] चम्पतराय के पुत्र का रक्त इतना शीतल हो गया है क्या ?

इसी प्रकार प्रेरणावर्द्धक सम्वाद छत्रसाल के चरित्र में दृढ़ता उत्पन्न करते हैं । इस नाटक में सम्वाद निश्चित रूप से अभिनेय गुणों से युक्त है । नाटक का दृश्य विधान यदि विस्तृत एवं अनुपयुक्त न होता तो नाटक अच्छे अभिनेय नाटकों की कोटि में रखा जा सकता था । दृश्यविधान की असम्बद्धता से सम्वादों की गतिशीलता पंगु हो गयी है ।

गीत

'प्रतिशोध' नाटक में विजया और जैबुन्निसा दो पात्र गीत गाते हैं । गीतों से कथावस्तु का विकास अथवा चरित्रों का अंतरंग रूप स्पष्ट नहीं होता - वे जातीय स्वाभिमान को उभारते हैं । उनमें देश का गौरव बढ़ाने की क्षमता व्यक्त हुई है । गीत हिन्दू-मुसलमान का भेद

१- हरिकृष्ण प्रेमी : 'प्रतिशोध' , पृ०५३

२- ,, ,, पृ०५६

भाव समाप्त कर इन्सानियत के मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं । इसप्रकार सौद्देश्य गीतों की अवतारणा की गया है । यही कारण है कि उनमें स्वाभाविकता का अभाव है ।

नाटकीय घटनायें

हीरा देवी का बलिदान नाटक में प्राण फूंकता है । इसी के कारण लाल कुंवरि तथा चम्पतराय के चरित्रों में चमक आयी है । हीरा देवी का संघर्ष जो उसकी देशाग्नि का प्रेरक है, नाटक में तीव्रता उत्पन्न करता है ।

विजया तथा जेबुन्निसा दोनों नाटक में पिंजरबद्ध पक्षी की भांति छटपटाती हैं । उनका हृदयगत भाव स्वगत भाषणों द्वारा स्पष्ट हुआ है । विजया बलदिवान से प्रेम करती है, पर देश की स्वतन्त्रता के आगे वह अपना प्रेम प्रकट नहीं करती । जेबुन्निसा अपनी फूफी को देखकर यह जानती है कि उसके खानदान में प्रेम-विवाह नहीं हो सकता । अपने अब्बा हुजूर औरंगजेब का विचार आते ही उसके प्रेम का अंकुर मुरझा जाता है । वह इसी कारण अपने अब्बा हुजूर का विरोध करना चाहती है । इस प्रकार इन दो प्रेमी हृदयों में आन्तरिक द्वन्द्व उभारा गया है । नाटक में वीररस का परिपाक हुआ है । यह नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' के बाद उसी परम्परा में अगली कड़ी है । नाटक में दृश्यविधान तथा पात्र-योजना के विस्तार के कारण रंगमंच के आधुनिक गुणों का अभाव है, अन्यथा अन्य दृष्टियों से नाटक अभिनेय श्रेणी में रखा जा सकता है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

परिचय

हिन्दी में बुद्धि प्रधान यथार्थपरक नाटक लिखने वालों में श्री मिश्र का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है । इनके सामाजिक नाटकों का कथावस्तु विश्लेषणीय पात्रों से सम्बन्धित रहती है, पर वे पात्र समुचितरूपेण

विकसित नहीं हो पाते । मिश्र जी के इन सामाजिक बुद्धिप्रधान नाटकों का दृश्य विधान भी दुरूह रहता है । दृश्य के भीतर ही एक उपदृश्य उपस्थित कर दिया जाता है । इस प्रकार इनके इन नाटकों का रंगमंच कठिन है । समस्या नाटकों का वातावरण भी ये विदेशी चित्रित करते हैं । इसीलिए इन नाटकों में शील निरूपण नहीं रहता । मिश्र जी का पश्चिमी भोगवाद भारतीय समाज के गले नहीं उतरता है ।

समस्या नाटकों में पात्रों का चरित्र-चित्रण मिश्र जी के ने विचित्र रूप से किया है, उनके पात्र इस धरती के जीव नहीं प्रतीत होते । वे अर्ध चेतनावस्था में व्यवहार करते से लगते हैं । वे घटना का पूर्ण निरूपण नहीं करते, उसका बहुत कुछ भाग दर्शकों पर छोड़ देते हैं । मिश्र जी के समस्या नाटकों की भाषा भावों को वहन करने में समर्थ नहीं है । उनकी भाषा पर शिखरचन्द्र जैन ने अपने विचार इस प्रकार दिये हैं---

'उनके तीव्र भाव, अद्भुत मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, उनकी नाटकीय भाषा के आँचल में बंध नहीं पाते हैं, निकल पड़ते हैं और बिखर जाते हैं । अपने हृदयगत भावों को वह गूंथ नहीं पाते, व्यवस्थित नहीं कर पाते । उनके भाव ही उनके वश में न होकर भाषा की सीमा का ख्याल न कर छूट-छूट कर भाग जाते हैं[१] ।'

स्पष्ट है कि समस्या नाटकों में मिश्र जी की नाट्य-कला अस्वाभाविक है । इन नाटकों की रचना उन्होंने पाश्चात्य समस्या नाटकों के अनुकरण पर की है । अतः उस विधा के साथ उनका व्यक्तित्व वैसा सम्बद्ध नहीं हो पाया जैसा कि उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों के साथ सम्बद्ध है । उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कथानकों पर नाटक लिखे हैं ।

१- शिखरचन्द्र जैन : 'हिन्दी नाट्य चिन्तन', पृ०५०

नाट्य कृतियां

'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य', मिश्र जी के समस्या प्रधान नाटक हैं। ऐतिहासिक नाटकों में 'अशोक', 'गरुडध्वज' और 'वत्सराज' हैं और सांस्कृतिक नाटकों में 'नारद की वीणा', 'अपराजित' और 'चित्रकूट' हैं।

यहां मिश्र जी के सामाजिक नाटक 'मुक्ति का रहस्य' का अध्ययन किया जा रहा है --

'मुक्ति का रहस्य'

मिश्र जी का यह समस्या-नाटक तीन चार पात्रों की समस्याओं पर आधारित है। नाटक यथार्थ के निकट पहुंचने के प्रयास में भावनात्मक हो गया है। उसके पात्र इस धरती के जीव नहीं रह गये हैं। नाटक के दृश्यविधान में भी दुरूहता है।

दृश्यविधान

'मुक्ति का रहस्य' नाटक में तीन दृश्यांक हैं। प्रथम दो दृश्य सरल है, पर तृतीय दृश्य अनावश्यक रूप से दुरूह कर दिया गया है--

'सड़क के किनारे दो मंजिला बंगला, बंगले से सड़क तक छोटी-सी ज़मीन, उसमें छोटा-सा बगीचा। सड़क से बंगले तक पतली सड़क, उसपर उभरे हुए कंकड़ और घास। बंगले की सड़क के दोनों ओर फूलों के पौधे। फूलों का क्या कहना, पौधों की पत्तियां तक सूख रही हैं। बंगले के सामने जो ज़मीन है, उसमें चारों ओर छोटी-सी चहार दीवारी है। चहार दीवारी से लगाकर बेले के पेड़ लगाये गये हैं--सामने की सड़क पर कभी-कभी मोटर-तांगे या इक्के की आवाज़ होती है। बंगले के नीचे एक कोने का दरवाजा खुलता है और एक व्यक्ति बाहर निकलता है ...

इतने ही में ऊपर आवाज़ होता है और एक युवती स्त्री बाहर छत पर आकर खड़ी हो जाती है ... उसके सामने कमरे के बीच में एक छोटी-सी मेज़ और उसके अगल-बगल में तीन चार कुर्सियां रखी हुई हैं । उसमें सामने की दीवाल में एक दरवाजा है, जिसकी दूसरी ओर उमाशंकर का कमरा है ।"

यह वर्णन उपन्यास के समान वातावरण की सृष्टि करता है । मंचन में यह दृश्य सजा पाना कठिन है । इसका कथावस्तु से विशिष्ट सम्बन्ध भी परिलक्षित नहीं होता । इस दृश्य को साधारण रूप में रखने पर भी नाटक की सम्वेदना में अन्तर नहीं पड़ता ।

<u>पात्र योजना</u>

नाटक में पात्र योजना स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और समस्या से सम्बद्ध रखी जाती है । इस नाटक में सभी पात्र उचितरूप से विकसित नहीं हो पाते । नाटक के मुख्य पात्र उमाशंकर, त्रिभुवन, मनोहर, बेनीप्रसाद, काशीनाथ, जगई और आशा हैं । मध्यम पात्रों में देवकानन्दन और मुरारी सिंह हैं । उमाशंकर ही प्रमुख पात्र है । उमाशंकर की चारित्रिक विशिष्टता उभारने के लिए ही उनके चाचा काशीनाथ तथा उनके साथ तीन व्यक्ति और नाटक में रखे गये हैं । ये पात्र असम्बद्ध हैं । सभी माध्यम पात्र समस्या से सम्बद्ध नहीं हैं । उपर्युक्त पांचों पात्रों से ही नाटक का कार्य सम्पन्न हो जाता है ।

उमाशंकर एक समाजसेवी व्यक्ति हैं । उनकी पत्नी मर चुकी है । मनोहर उनका जवान लड़का है । आशा उन्हीं के घर में रहती है । वे आशा को हृदय से चाहते हैं । आशा ने ही उमाशंकर की पत्नी को ज़हर देकर मार डाला है । उमाशंकर यह भी जानते हैं । वे आशा से न तो अपना प्रेम प्रकट करते हैं और न ही उसे घर से बाहर करते हैं । आशा

अपने को उमाशंकर की पत्नी बनाना चाहती है, पर उमाशंकर कुछ भी स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते । वे चुपचाप एक अस्पष्ट जीवन जीते हैं । मनोहर के साथ उनकी बातें उनका असन्तोष व्यक्त करती हैं, पर इसका आभास उनके व्यवहार में नहीं प्रकट होता । उमाशंकर नाटक के प्रमुख पात्र हैं । उनके व्यक्तित्व में अन्तर्द्वन्द्व की सम्भावनाएं हैं, पर वे टाइप पात्र की तरह एक निर्दिष्ट जीवन जीते हैं । उमाशंकर की समस्या क्या है, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हो पाता ।

आशा के पूर्व जीवन की कमियाँ डाक्टर जानता है । वह आशा को दबाकर उसके साथ गलत सम्बन्ध स्थापित करता है । आशा उमाशंकर के हृदय की बात नहीं समझती है । डाक्टर के साथ अपनी इज्जत बेचकर वह अपने को उमाशंकर के योग्य नहीं मानती । आशा के चरित्र में भी अन्तर्द्वन्द्व के लिए पर्याप्त अवसर है, पर वह उभर नहीं सका है । वह विवश नारी है, पर उसके चरित्र में बेबसी उभरती नहीं है ।

अन्य सभी पात्रों का कोई चारित्रिक रूप खड़ा नहीं हो पाता । पात्र योजना परिस्थितिजन्य है, पात्र परिस्थितियों में उलझे हैं, उनपर हावी नहीं हो पाते, इसी से वे अस्पष्ट हैं ।

सम्वाद

सम्वाद नाटकीय हैं । जैसे भाव हैं, उन्हीं के अनुरूप कथोपकथनों का स्वरूप है । वे छोटे भी हैं, बड़े भी हैं । उनमें गम्भीरता है, सरलता है, वे मुख्य पात्र का स्वभाव प्रकट करने में सहायक होते हैं । उमाशंकर के कथन जहाँ उसकी मनःस्थिति के परिचायक हैं, मनोहर की बातों के संलाप उसकी बाल सुलभ स्वाभाविकता लिए हुए हैं--

मनोहर — जा रही हो माँ के यहाँ ?

आशा — हाँ ।

मनोहर — कब ?

आशा — आज,अभी,

मनोहर — तुम बीमार तो नहीं हो ?

मनोहर की माँ बीमार थी और इसीलिए भगवान् के घर चली गयी । अतः वह आशा से भी बीमार होने का प्रश्न करता है ।

उमाशंकर के मानसिक तनाव का स्पष्टीकरण नाटक में नहीं हुआ है,पर बातचीत के माध्यम से उसके अन्तर्द्वन्द्व का संकेत मिलता है --

उमाशंकर — नहीं ।

आशा — हत्या करोगे ?

उमाशंकर — हाँ ।

मिश्र जी साधारण बातचीत के द्वारा ही पात्रों का चरित्र स्पष्ट करते हैं । इस शैली से पात्रों का चरित्र तो स्पष्ट होता है पर नाटकीय वातावरण की सृष्टि नहीं हो पाती ।

उद्देश्य

नाटक का उद्देश्य स्पष्ट नहीं है । उमाशंकर की समस्या आशा की समस्या और डाक्टर की समस्या इन सभी पात्रों की समस्याएं एक हैं । स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध होता है, उसके लिए सभी प्रयत्नशील हैं । मनोहर बालक है उसकी समस्या अपनी माँ की स्मृति ही है । इस प्रकार नाटक अपना कोई ठोस उद्देश्य प्रकट नहीं करता । कुछ पात्रों का अवसाद ही नाटक में प्रकट हुआ है । नाटक पाठ्यरूप में ही अपना महत्व रखता है ।

स्पष्ट है कि पं० लक्ष्मीनारायण के सामाजिक नाटक विसंगतियों से भरे हुए हैं । अपनी विसंगतियों के कारण ही उन्हें पाठ्य कोटि में रखा गया है । मिश्र जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक रंगमंच की दृष्टि से अपेक्षाकृत सफल हैं । विभिन्न स्थितियों के नाटक लिखने के कारण मिश्र जी ने हिन्दी नाट्य साहित्य को विविध पात्र प्रदान किये हैं । उनका नाम हिन्दी नाटककारों में आदर के साथ लिया जायगा ।

रामवृक्ष बेनीपुरी

परिचय

बेनीपुरी जी मूलतः एक पत्रकार हैं । इन्होंने हिन्दी गद्य साहित्य की सम्पूर्ण विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है । शब्द-चित्र, उपन्यास,कहानियां,नाटक ,झांकी,संस्मरण, निबन्ध,भाषण ,बाल साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओं के अग्रलेखों के रूप में इन्होंने प्रचुर साहित्य की रचना की है ।

इनकी प्रतिभा प्रबन्धात्मक है । उपन्यास तथा कहानियां लिखते रहने से इनकी रुचि कथावस्तु के सम्पूर्ण क्रम पर जाती है । विस्तृत कथानक के कारण इनका शिल्प बिखर जाता है । इसी कारण दृश्यों की अवतारणा भी इनको अधिक करनी पड़ती है । बेनीपुरी नाटकीय कथावस्तु में उन केन्द्रबिन्दुओं को नहीं चुन पाते हैं,जिनसे सम्पूर्ण कथावस्तु पर प्रकाश पड़ सके,इन्होंने निम्नलिखित नाट्य-कृतियों की रचना की है ।

नाट्य-कृतियां

"*अम्बपाली", "तथागत" और "पिंजरा" नाटक हैं। एकांकियों में "डुगडुगी", "संघमित्रा", "सिंहलविजय", "नेत्रदान" तथा "नया समाज" अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके स्त्रीविषयक "सीता की माँ" पर विचार किया जा चुका है, यहां उनके "अम्बपाली" ऐतिहासिक नाटक पर विचार किया जा रहा है --

"अम्बपाली"

यह नाटक अम्बपाली की कथा पर आधारित है। अपने विस्तृत दृश्यविधान के कारण यह नाटक आधुनिक रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित नहीं हो सकता।

दृश्यविधान

नाटक में चार अंक हैं — प्रथम अंक में पांच तथा अन्य अंकों में चार पांच और चार के क्रम से कुल अट्ठारह दृश्य हैं। दृश्य विरोधी स्वभाव के हैं। दो अलग दृश्यों के बीच एक दृश्य की व्यवस्था न रहने से यह नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल है। दृश्यों की संख्या उनके सभी नाटकों में अधिक रहती है। इसका कारण यह है कि इनकी कथावस्तु विवरणात्मक है। वे बहुत बार विषयान्तर कर जाते हैं। इसी से पात्रों की स्थिति भी मनोविज्ञान सम्मत नहीं रह पाती।

पात्र योजना

इनके नाटकों में शैली की प्रधानता रहती है। अतः पात्रों की संयोजना मनोवैज्ञानिक नहीं हो पाती है। नाटक में संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व भी इसी कारण नहीं उभर पाते। पुरुषों की अपेक्षा

स्त्रियाँ अधिक मनोविज्ञान सम्मत हैं । उनमें संस्कृति की मर्यादा का भय है । इनके स्त्री पात्र अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हुए भी वर्तमान विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । बेनीपुरी के पात्र अपना स्थायी प्रभाव बिम्ब रूप में नहीं, मूर्त रूप में छोड़ते हैं । अम्बपाली के पात्रों में उक्त विशेषताएं हैं ।

अम्बपाली में नौ पुरुष तथा पांच स्त्री पात्र हैं । परिचारिकाएं आदि अन्य माध्यम पात्र हैं । पात्रों का चारित्रिक विकास मंचोपयोगी नहीं रह पाया है ।

<u>सम्वाद योजना</u>

बेनीपुरी के सम्वाद चुस्त नहीं हैं । वे परिस्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं, पर नाटकीयकौशल (भावगांभीर्य एवं चुटीलापन) उनमें नहीं है । इसका कारण यह है कि उनके सम्वाद अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं । वे उदाहरण प्रस्तुत कर मत पुष्टि करते हैं जिससे नाटकीय कौशल समाप्त हो जाता है । अजातशत्रु और अम्बपाली के कथोपकथन निम्न प्रकार के हैं --

अम्बपाली — अम्बपाली साधारण नारी नहीं है ।

अजात — तुम क्या बोल रही हो सुन्दरी ?

अम्बपाली — आप क्या चाह रहे हैं मगधपति ।

अजात० — मैं क्या अब चाहता हूं । सब चाहने की कुदरत रह गयी ।
तो सुनो--(रुक के) अम्बपाली-वैशाली विजेता की राज-महिषी बनोगी उसे राजकुल वधू का निमन्त्रण देने आया हूं ।

अम्बपाली — और अगर वह नहीं जाय ?

अजात० — अजातशत्रु अस्वीकार नहीं जानता ।

अम्बपाली — उन्हें जानकर भी लाचार होना पड़ेगा ।

अजात० — (चकित हो) क्या कहा !

अम्बपाली -- (लापरवाही से) मैंने कहा मगधपति को सोचना पड़ेगा कि अम्बपाली यदि मगध जाने को राजी न हुई तो वह क्या करेंगे ?

* * *

अजात० -- कौन है, जिसने मुझपर विजय प्राप्त की थी । अजातशत्रु अजेय है, दुर्जय है, अजेय है राजनर्तकी ।

अम्बपाली -- ओह- आदमी अभिमान में अपने को कितना भूल जाता है ।

अजात० -- (आँखें गुरेरता है)

अम्बपाली -- मेरा मतलब भगवान् बुद्ध से था मगधपति ।[1]

स्पष्ट है कि सम्वाद संक्षिप्त और नाटकीय है ।

बेनीपुरी की भाषा मंजी हुई है । उसमें उनका निखार है । वे भाषा में आंचलिक तथा उर्दू के शब्दों का प्रयोग करते हैं । भाषा में रोचकता का अभाव है, यद्यपि वह भावाभिव्यक्ति में समर्थ है । वे अपने नाटकों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का रूप उभारते हैं । उनकी अभिव्यक्ति कहीं से शिष्टता का दामन नहीं छोड़ती । उनकी भाषा सौम्य एवं शिष्ट है ।

अम्बपाली नाटक में छः गीत हैं । इनके द्वारा नाटकीय परिस्थिति तथा पात्रों का चरित्र उभारा गया है । इस नाटक में आहार्य अभिनय द्वारा नाटककार ने ऐतिहासिक वातावरण भी बनाया है । अतः इस नाटक को पाठ्य नाटकों की कोटि में रखा जा सकता है । दृश्यविधान की अनुपयुक्तता के कारण नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो सकता ।

१- रामवृक्ष बेनीपुरी : 'अम्बपाली', पृ० ६०-६१ ।

'मुक्तियज्ञ नाटक'

प्रस्तुत नाटक का कथानक बुन्देलखण्ड की स्वतन्त्रता पर आधारित है । वीर पुंगव छत्रसाल पराक्रमरंजित बुन्देलखण्ड की कथा को नाटकीय साँचे में ढाला गया है । चम्पतराय की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र छत्रसाल ने औरंगजेब से लोहा लिया औरंगजेब छत्रसाल की वीरता के समक्ष परास्त हुआ उसने बुन्देलखण्ड स्वतन्त्र कर दिया।

दृश्यविधान

तीन अंकों के इस नाटक में तीस दृश्य हैं । प्रथम अंक के बारह दृश्य मन्दिर,रास्ता,तम्बू,सरोवर,सरोवर,महल,यमुनातट और दरबार आदि स्थानों के हैं । द्वितीय अंक में भी महल,दीवानखाना,मार्ग,चौतरा,कक्ष और रणभूमि आदि आठ स्थानों के दृश्य हैं । तीसरे अंक में मार्ग,पहाड़,मैदान आदि स्थानों के दस दृश्य हैं ।

आधुनिक रंगमंच स्वाभाविकता की माँग करता है । अतएव प्रस्तुत नाटक अभिनीत हो सकने में अधिक सफल नहीं होगा । दृश्यों में अधिकतर दृश्य चल हैं अतः उन्हें सजाने में अधिक सजावट एवं मंच सामग्री की आवश्यकता न होगी । नाटक थोड़ा परिवर्तित करके मंचित हो सकता है, पर स्वाभाविकता की माँग के कारण इसे पाठ्य नाटकों की कोटि में रखना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

पात्र योजना

प्रस्तुत नाटक में लगभग पच्चीस पात्र हैं । पुरुष पात्रों में सोलह प्रमुख हैं । सैनिक,नागरिक और गायक अतिरिक्त पात्र हैं । इसी प्रकार स्त्री पात्रों में सखियों और दासियों को छोड़कर आठ मुख्य पात्र हैं ।

मध्यम पात्रों को छोड़कर मुख्य पात्रों का चारित्रिक विकास हुआ है । पात्र अपने मनोविकास के आधार पर ही चारित्रिक गुण प्रकट करते हैं । उनके चारित्रिक गुण कथोपकथनों के माध्यम से प्रकट हुए हैं ।

कथोपकथन

प्रस्तुत नाटकों में कथोपकथन पद्य और गद्य दोनों रूपों में रखे गये हैं । साथ ही गीतों का भी भरपूर प्रयोग किया गयाहै । उनके व पद्यबद्ध कथनों का नमूना इस प्रकार है —

(आ) दृश्य नाटक

पृष्ठभूमि

नाटक साहित्य का सगुण रूप है । इस दृश्य काव्य में नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय की ललित सृष्टि को आकर्षक रूप प्रदान करते हैं । इस प्रकार नाटक के दो पार्श्व हैं-- एक पार्श्व हृदयगत भावनाओं को छूता चलता है तो दूसरा पार्श्व रंगमंच-वेशभूषा, नृत्य-संगीत के सहारे विकसित होता है । दोनों में से किसी एक के भी अभाव में नाटक अपने अभीष्ट उद्देश्य में असफल रहता है ।

रंगमंच के नाटकों की प्रमुख दृष्टि अभिनयात्मक साहित्य की सृष्टि है । रंगमंच के नियमों का पूर्ण पालन करते हुए साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि दृश्य नाटकों की विशेषता है । इस प्रकार रंगमंच की कला साहित्य-कला की सहयोगिनी बनकर जीवन का उद्घाटन करती है । अभिनय की कला जब साहित्यिक कला का पथ निर्देश कलात्मक परिवेश में करती है, तभी दृश्य नाटक की सर्जना सम्भव होती है । दृश्य नाटक का प्रथम और प्रमुख तत्व कथावस्तु है । दृश्य नाटक की कथावस्तु विशिष्टता लिए होती है, जिसपर विचार करना आवश्यक है ।

दृश्य नाटकों की कथावस्तु संवेदनापूर्ण परिस्थितियों से निर्मित होती है । नाटककार भावव्यंजक शैली का प्रयोग कर कथावस्तु में प्रखरता एवं संक्षिप्तता भरता है । वह छोटी-छोटी घटनाओं का चयन नहीं करता । वह कथावस्तु की सम्पूर्ण परिधि में भी नहीं जाता, वह तो ऐसे बिन्दुओं का चयन करता है, जिनमें सम्पूर्ण कथावस्तु सिमट सके । यह कथावस्तु दृश्यविधान के माध्यम से दृश्य रूप ग्रहण करती है ।

दृश्य-विधान

दृश्य नाटकों का आरम्भ सरल रंगमंच से होता है । धीरे-धीरे नाटककार का नाट्य-कौशल उसे सशक्त बना देता है । कम से कम अंक तथा उनके अन्तर्गत सीमित दृश्य जिनकी संख्या उत्तरोत्तर कम होती जाती है, दृश्य नाटक के लिए उपयुक्त होते हैं । दो बड़े दृश्यों के बीच एक छोटे दृश्य की व्यवस्था की जाती है । असम्भव दृश्यों को दृश्य नाटक में स्थान नहीं दिया जाता । दृश्यों के अन्दर ऐसे अभिनयात्मक स्थायी प्रभाववाले दृश्यों की व्यवस्था रहती है, जिनकी छाप दर्शक पर चिरकाल तक रहती है । स्पष्ट है कि दृश्य नाटकों का दृश्य-विधान रंगमंच के उपयुक्त रहता है । उसमें भावपूर्णता के साथ ही अभिनयात्मक स्थितियों का भी समावेश रहता है । भारतीय नाट्याचार्यों ने अभिनय सम्बन्धी अवरोधों को ध्यान में रखकर ही अनेक घटना-दृश्यों को रंगमंच के लिए वर्ज्य माना है । नाटककार दृश्य नाटक में सम्भव दृश्यों का ही सृजन करता है । रंगमंचीय नाटकों में चरित्र-चित्रण भी विशेष महत्व रखता है ।

चरित्र-चित्रण

नाटककार कथावस्तु के माध्यम से पात्रों को दर्शकों के समक्ष उपस्थित करता है । पात्रों की संख्या नाटक में सीमित रहती है, जिनका कथावस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । केवल मनोरंजनार्थ पात्रों की सृष्टि अपेक्षित नहीं । नाटक में प्रत्येक पात्र की स्थिति दीवाल की ईंट के समान महत्वपूर्ण है । नाटक में नायक, प्रतिनायक तथा सहयोगी नायक की व्यवस्था रहती है । पात्रों का सृजन नाटककार इसी लोक से करता है वे कल्पना विहारी कवि नहीं होते हैं । कभी-कभी भावनाओं के प्रतीक पात्र भी मंच पर लाये जाते हैं, जहां वातावरण ही प्रधान रहता है, वो सिमिट कर पात्र में केन्द्रित हो जाता है । नाटक के पात्रों में प्रभावित करने की क्षमता

चरित्र का सम्बन्ध व्यक्तित्व से होता है, इस दृष्टि से भी मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है । मनोविज्ञान प्रभाव तथा संस्कार दो पक्षों पर आधारित होता है । ये दोनों सुख तथा दुःखपूर्ण स्थितियों में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ते । संस्कार अथवा प्रभाव में से कोई एक शिथिल होता है, तो पात्र का चरित्र सीधी रेखा में विकसित होता है--इसके विपरीत यदि दोनों में से कोई कम नहीं होता तो पात्र दोनों के बीच उलझकर अनिर्णीत स्थिति में रहता है । यहां अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । यह अन्तर्द्वन्द्व पात्रों के मानसिक पार्श्वों को स्पष्ट करने में सहायक होता है । मनोविज्ञान में डूबा पात्र ही नाटक में स्वाभाविकता ला सकता है । इस प्रकार चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता नाटक में पूर्ण रूप से अपेक्षित है ।

सम्वाद

दृश्य नाटकों के लिए सम्वाद चुभते हुए और संक्षिप्त होते हैं । कम शब्दों में अधिकाधिक भाव स्पष्ट करने वाली भाव-व्यंजक शैली का प्रयोग नाटक में होता है जिससे हृदय पर पात्र की सम्पूर्ण छाप पड़ सके । सम्वादों का स्वाभाविक होना अपेक्षित है-- इसी स्वाभाविकता की मांग के कारण नाटकों से पद्य का निष्कासन हुआ । स्वगत कथन तथा आकाश-भाषित जैसे प्राचीन प्रयोगों का भी बहिष्कार इसीलिए कर दिया गया, क्योंकि उनसे स्वाभाविकता में बाधा उपस्थित होती थी ।

सम्वाद भावव्यंजक के साथ ही मनोरंजक भी रहते हैं । मनोरंजकता इसलिए रहे ताकि अस्वाभाविकता की सृष्टि न हो । संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' एक पात्र ही इसके लिए रखा जाता था । अब

विनोद व्यंग्यादि के लिए कथावस्तु से सम्बद्ध एक दो पात्रों को रखा जाता है । नाटकों में अनुरंजन की सामग्री प्रदान करने वाला कोई पात्र रखना ही चाहिए ।

सम्वादों की भाषा पात्रानुकूल रखनी चाहिए । भाषा की पात्रानुकूलता से अभिप्राय पात्रों के स्वभाव, शिक्षा तथा सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति से है । जाति, देश तथा काल का प्रभाव पात्र की भाषा पर रहता है । इनका अभिप्राय यह नहीं कि सभी पात्र अलग-अलग भाषा बोलते हैं । नाटक की सम्पूर्ण सम्वेदना का एक सा प्रभाव बने रहने के लिए नाटक की भाषा एक-सी होनी चाहिए, यह उसका स्तर पात्रों के अनुकूल होना चाहिए । एक शिक्षित पात्र और एक ग्रामीण पात्र की भाषा के शब्दप्रयोग तथा कथन में अन्तर रखना अपेक्षित है । इसी प्रकार गम्भीर तथा विनोदी पात्र के स्वभाव का भी प्रभाव उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा में रहता है । दृश्य नाटकों के लिए नाटकीय संकेत भी एक महत्वपूर्ण तत्व है ।

<u>नाटकीय संकेत</u>

नाटकों में संकेतों की अवतारणा एक निश्चित उद्देश्य से होती है, जो दृश्यनाटकों की सफलता के लिए अनिवार्य है । इनका मुख्य ध्येय अभिनेताओं तथा प्रस्तुतकर्ताओं की सुविधाओं को बढ़ाने का है । इनसे मंच सामग्री, पात्रों की वेशभूषा तथा अभिनय की गतियों का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है । कहना न होगा कि नाटकीय संकेतों से दिग्दर्शक का कार्य सहज हो जाता है तथा अभिनेताओं का परिश्रम आधा रह जाता है । रंगसंकेतों का दायित्व रंगभूमि की व्यवस्था से है । इनकी सहायता से रंगभूमि का स्पष्ट झलकता हुआ रूप ध्यान में आ जाता है । इनसे पात्र का जीवन स्तर तथा स्वभाव स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकार मंच व्यवस्था तथा पात्रविकास की दृष्टि से ही नाटकीय संकेतों को नाटक में रखा जाता है ।

रंग संकेतों का दायित्व अभिनय में सहायता करने से भी है । इनसे नाटककार नाच-गान में पात्रों के हाव-भाव, वेश-भूषा, उठने-बैठने चलने की रीति तथा उनकी भाव भंगिमा का स्पष्टीकरण करता है । यह अभिनयात्मक संकेत आंगिक तथा सात्विक अभिनय की सहायता प्रदान करने वाले होते हैं ।

आहार्य अभिनय के लिए भी संकेत रहते हैं । इनका संबंध रूप कल्पना से भी है । इससे पात्र की आयु तथा बाह्यरूपाकृति स्पष्ट होती है ।

संकेतों द्वारा कथावस्तु की सुश्रृंखलता भी स्पष्ट होती है । लम्बे स्थलों में, जहां वर्णन की आवश्यकता होती है, संकेतों द्वारा क्षिप्रता आ जाती है । दूसरे शब्दों में इनके द्वारा कथावस्तु में प्रवाह तथा सजीवता का संचार होता है । संकेतों का प्रयोग उन तमाम स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए भी होता है, जिनका स्पष्टीकरण कथोपकथनों अथवा अन्य नाटकीय प्रयत्नों द्वारा सम्भव नहीं होता ।

दृश्य नाटक जनप्रभावी होते हैं । व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा राष्ट्र के उत्थान की क्षमता होती है । यह कार्य नाटकों में उद्देश्य, स्वाभाविक चित्रण तथा नैतिक दृष्टिकोण का संकेत देकर ही पूरा होता है । नाटक के रंगमंच पर एक ओर संसार रहता है तो दूसरी ओर अपनी परिस्थितियां एवं समस्याएं रहती हैं । नाटक को अपना रूप स्पष्ट करने के लिए रंगमंच की नितान्त आवश्यकता है ।

आज रंगमंच पर स्वाभाविकता की मांग है । मंच सज्जा के चुनके दिन व्यतीत हो गये । आज का जीवन ही मंच पर खड़ा है । मंचसज्जा से जीवन की सम्बद्धता की अवज्ञा नहीं होनी चाहिए । स्वाभाविकता के साथ प्रभावोत्पादकता नाटकीय रंगमंच के लिए नितान्त अपेक्षित है । अभिनेय नाटक में रंगमंच की इस स्वाभाविकता के साथ ही वेश-भूषा का अध्ययन

संगीत,प्रकाश व्यवस्था तथा विविध भावों का प्रदर्शन भी रहता है ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक

दृश्य नाटकों की विधा के नाटकों में 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का प्रारम्भिक महत्व है । इसका दृश्य-विधान श्री जयशंकर प्रसाद ने रंगमंच की सीमाओं को ध्यान में रखकर किया है ।

दृश्य-विधान

'ध्रुवस्वामिनी' में तीन अंकीय दृश्य है । काश्मीर के पास रामगुप्त का शिविर ड पड़ा है । प्रथम दृश्य यहीं शिविर के पिछले भाग में घटित होता है । मंच सामग्री ,वितान,खम्भे,रेशमी डोरियां,कुंज, जलधारा,लता की डालियां आदि हैं । द्वितीय दृश्य शकराज के दुर्ग के दालान में घटित होता है । तिब्बती ढंग के दृश्यपटों में आंगन,दालान, क्यारियां,लताएं और पौधे बने होने का निर्देश है । तीसरा दृश्य भी शक दुर्ग के भीतरी प्रकोष्ठ में घटित होता है । स्पष्ट है कि कार्य ऐक्य की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का दृश्य विधान रंगमंच की सीमाओं के अन्तर्गत आता है ।

नाटक में कुछ दृश्य अनावश्यक-से प्रतीत होते हैं।जैसे नाटक के प्रथम दृश्य में कुबड़े,बौने और हिंजड़े की स्थिति बहुत कुतूहलपूर्ण नहीं है , वह दृश्य कथावस्तु से सम्बद्ध भी प्रतीत नहीं होता । इसमें केवल रामगुप्त की क्लीवता उभरती है । यों नाटकीय कथावस्तु इन कतिपय दृश्यों को छोड़कर संगठित है और दृश्य विधान की दृष्टि से तो अभिनेय है ।

पात्र विधान

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी और कोमा प्रधान स्त्री पात्र है । परिचारिकाओं और नर्तकियों को मिलाकर नाटक में स्त्री पात्रों की संख्या लगभग दस है । पुरुष पात्रों में रामगुप्त शिखर स्वामी चन्द्रगुप्त, शकराज और मिंगल प्रमुख हैं । सहायक सामन्त कुमार और खिड़की पकड़ने वाले आदि पात्रों को मिलाकर पुरुष पात्रों का संख्या लगभग दस है । इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में लगभग बीस पात्र हैं । दो राज्यों के संघर्ष को देखते हुए पात्र संख्या अधिक नहीं है ।

पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक है । पात्रों के मनोविज्ञान के विकास पर ही नाटककार का विशेष ध्यान है । कथावस्तु का उद्घाटन पात्रों के चरित्र-विकास के साथ ही होता है । स्पष्ट है कि पात्र विधान की दृष्टि से नाटक अभिनेय है ।

संवाद विधान

ध्रुवस्वामिनी की बेबसी इस नाटक के प्रारम्भ में स्पष्ट की जाती है । एक खड्गधारिणी स्त्री ध्रुवस्वामिनी की गतिविधि का निरीक्षण करते हुए उसके साथ है । ध्रुवस्वामिनी के निराश होने पर वह उसका मनोबल बढ़ाती है " देवि यह कल्लरी जो करते हैं समीप पहाड़ी पर चढ़ी है, उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जायेंगी कि वह काई की जाति की है । प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई जो बिछलन बनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों को ऊपर चढ़ाने का अवलम्ब बन गयी है ।"[1]

१- प्रथम अंक, पृ०१६

पात्रों को दो विरोधी परिस्थितियों में रखने पर, जहां वे अपने संस्कार तथा प्रभाव के बीच निर्णय नहीं कर पाते हैं, आन्तरिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। इस नाटक में सभी प्रधान पात्रों के साथ इस प्रकार की परिस्थितियां हैं, जिनका स्पष्टीकरण संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व पर विचार करते समय हो सकता है। इस नाटक का प्रत्येक पात्र सजग है तथा एक-दूसरे पात्र को व्यंग्यपूर्ण उत्तर देता है। प्रतिहारी द्वारा रामगुप्त के विषय में पूछे जाने पर ध्रुवस्वामिनी का उत्तर इस प्रकार है—

प्रतिहारी —"परम भट्टारक इधर आए हैं क्या ?"

ध्रुवस्वामिनी —"मेरे आंचल में तो छिपे नहीं हैं देखो किसी कुंज में ढूढ़ो।"

इस प्रकार के सम्वादों से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

"ध्रुवस्वामिनी" नाटक के पात्र अपने स्वभाव के अनुकूल ही कथोपकथन करते हैं। रामगुप्त के चरित्र के अनुरूप ही उसके कथन आत्मविश्वास से रहित कायरतापूर्ण हैं, जब कि चन्द्रगुप्त के कथन वीरता प्रकट करने वाले हैं। उनमें गौरव तथा नैतिकता है। "ध्रुवस्वामिनी" के सम्वाद स्वाभिमान से युक्त हैं। शकराज का दम्भी व्यक्तित्व है, अत: उसके सम्वादों से उसका दम्भ प्रकट होता है। शिखर स्वामी अत्यधिक स्वार्थी प्रकृति का चाटुक व्यक्ति है। रामगुप्त उसकी बुद्धि की सराहना करता है," वाह क्या कहा तुमने तभी तो लोग तुम्हें नीतिशास्त्र का बृहस्पति समझते हैं।" पुनः शिखर-स्वामी की प्रशंसा ध्रुवस्वामिनी के शब्दों में इस प्रकार है," आमात्य तुम बृहस्पति हो चाहे शुक्र, किन्तु धूर्त होने से ही क्या मनुष्य कुछ नहीं कर सकता ? आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहिचानने में तुमने भूल तो नहीं की ? सिंहासन पर भूल से किसी दूसरे को तो नहीं बिठा दिया।" इस उक्ति को सुनकर से रामगुप्त तिलमिला जाता है। इस प्रकार के तीव्र व व्यंग्यप्रधान वाग्वैदग्ध्य तथा पात्रानुकूल सम्वादों का प्रयोग "ध्रुवस्वामिनी" नाटक में किया

नाटक का सबसे निरीह स्त्री पात्र होता है, जो सहज ही दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेती है। शकराज अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उससे कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करता है। वह कोमा को पाषाणी कहता है। यहां कोमा का उत्तर कोमा के आन्तरिक द्वन्द्व पर प्रकाश डालता है, "पाषाणी! हां राजा पाषाणी के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं, उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति।"

इसी प्रकार तृतीय अंक में कोमा, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथन संक्षिप्त, चुस्त और प्रभावशाली हैं। स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक के कथोपकथन रंगमंचीय हैं।

संघर्ष तथा द्वन्द्व

सम्पूर्ण नाटक पर संघर्ष की कजरारी छाया फैली हुई है। यह संघर्ष राज्य तथा ध्रुवस्वामिनी को केन्द्र में रखकर है। चन्द्रगुप्त द्वारा प्रदत्त राज्याधिकार और अपनी वाग्दत्ता पत्नी को चन्द्रगुप्त गृहकलह की शान्ति के लिए रामगुप्त को प्रदान करता है। नाटक के अन्त में चन्द्रगुप्त को अपने इस त्याग में कायरता का भाव प्रतीत होता है। इसी स्थल पर उसका आन्तरिक द्वन्द्व उभरता है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है, उसने चन्द्रगुप्त को अपनी बाहुओं में कस लिया, वह इस क्षणिक आलिंगन की अनुभूति एकान्त में प्रकट करती है, "कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन। कितने सन्तोष से भरा था, नियति ने अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया है ..... ओह (हृदय पर उंगली रखकर) इस वक्षःस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग हां करना चाहता है तो ऊपरी मन ना क्यों कहला देता है[1]।"

१- अंक,१,पृ०३१

कोमा रामराज को चाहती है । रामराज ध्रुवस्वामिनी को पाकर कोमा का तिरस्कार करता है । कोमा का धर्म पिता मिहिरदेव उसे अपने साथ चलने को कहता है । पिता तथा प्रेमी में किसको प्रधानता दी जाय, उस अनिर्णीत स्थिति में कोमा का द्वन्द्व प्रकट होता है (प्रोक्ति)
"तोड़ डालूं पिता जी ? मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा वही दुलार भरा वल्लरी ।मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गया है वे हूं एक झटका उसकी हरी-हरी पत्तियां कुचल जायं और वह छिन्न होकर धूल में लौटने लगे ? न ऐसी कठोर आज्ञा न दो ।"[1]

नाटक का सम्पूर्ण तृतीय अंक संघर्ष पूर्ण है । मंदा, ध्रुवस्वामिनी,पुरोहित , सामंतकुमार सभी चन्द्रगुप्त का पक्ष ग्रहण करते हैं । इसी स्थल पर नाटक की चरम सीमा है जहाँ रामगुप्त का वध होता है और चन्द्रगुप्त राज्य तथा ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त करता है इस प्रकार संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियां नाटक की अभिनेयता उभारने में सहायक हैं ।

आकस्मिकता

नाटक में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए एवं अभिनेयता प्रसार के लिए आकस्मिक स्थितियों का विशेष महत्व है,इनसे नाटक में त्वरिता और प्रखरता उत्पन्न होती है । ध्रुवस्वामिनी नाटक में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं । उदाहरणार्थ कुछ स्थल नीचे दिये जाते हैं :

ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करना चाहती है,इससे भयभीत होकर रामगुप्त पलायन कर जाता है । इसी समय सहसा प्रकट होकर चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को बचाता है ।

१- अंक२,पृष्ठ पृष्ठ ४५

सिंगल के आगमन का शकराज की प्रतीक्षा है । वह इस प्रतीक्षित अन्तराल में कोमा से वार्तालाप करता है, इसी समय अचानक सिंगल प्रवेश करता है[1]।

मन्दाकिनी सहसा प्रवेश कर ध्रुवस्वामिनी को विजय की बधाई देती है[2]।

इस प्रकार अनेक आकस्मिक स्थितियों द्वारा नाटक की अभिनेयता में चार चांद लगाए गए हैं ।

रंग सूचनाएं

नाटक में रंग सूचनाएं मंचीय व्यवस्था और अभिनय मुद्राओं को निर्दिष्ट करने के हेतु रखी गयी है । इनसे नाटक में प्रयोक्ता और अभिनेयता दोनों को सहायता प्राप्त होती है । मंचीय व्यवस्था में सम्बन्धित सूचनाएं तो इस नाटक में हैं ही, अभिनय के चारों भेदों--आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । हाथ जोड़कर, हृदय पर हाथ रखकर, चिबुक पकड़ कर देखती है, उठकर दोनों हाथ पकड़ लेता है, ठठाकर हंसते हुए और कोमा के सिर पर हाथ रखकर आदि निर्देश अभिनय को स्वाभाविक बनाते हैं । इसी प्रकार दांत दिखाकर विनय प्रकट करना, उदासी की मुस्कराहट, झुंझलाकर, सम्भ्रम से, स्निग्धमय दृष्टि से और उत्सुकता से आदि सूचनाएं सात्विक अभिनय को उभारती हैं । स्पष्ट है कि नाटक को अभिनेय बनाने में इन रंग सूचनाओं का विशेष हाथ है ।

१-- अंक २

२-- अंक ३

भाषा तथा गीत योजना

इस नाटक की भाषा भी जयशंकर प्रसाद ने अपने अन्य नाटकों की तरह ही रखी है । भाषा के सम्बन्ध में पात्रों के मनोवैज्ञानिक स्तर का ध्यान वे नहीं रखते । उनके सभी पात्र एक-सी भाषा बोलते हैं । ध्रुवस्वामिनी की सेवा में संलग्न परिचारिका सन्ध्या होने का समाचार निम्न भाषा में देता है --" देवि सायंकाल हो चला है,वनस्पतियां शिथिल होने लगी हैं,देखिए ना व्योमविहारी पक्षियों का झुंड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है क्या भीतर चलने की भी इच्छा नहीं है ।[१]" भाषा का यही स्तर उनके सभी पात्रों का है । भाषा की कठिनता के कारण ही उनके नाटक अभिनेयता की दृष्टि से शिथिल हो जाते हैं ।

इस नाटक में गीतों की योजना हुई भी है । मन्दाकिनी तथा कोमा दो स्त्री पात्र इस नाटक में गीत गाते हैं । प्रथम अंक में जिन आठ पंक्तियों को मन्दाकिनी ने गाया है,वे पारसी नाटकों की परम्परा की हैं । चन्द्रगुप्त के अभियान पर भी मन्दाकिनी गाती है ....."पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले संकीर्ण कगारों के नीचे,शत-शत झरने बेमेल चलें ।[२]" सोलह पंक्तियों का एक लम्बा गीत सामंत कुमारों के साथ यहां मन्दाकिनी गाती है ।

द्वितीय अंक में प्रेम से निराश कोमा का हृदय गीत के रूप में फूट पड़ता है...

१- अंक१,पृ० १६

२- अंक प्रथम,पृ०३४

यौवन ! तेरी चंचल छाया ।
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं जो रस तू है लाया ।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया ।।[1]

शकराज के दरबार में नर्तकियों का गीत रखा गया है। नाटक में कुल चार गीत हैं,जो या तो नाटकीय वातावरण की सृष्टि के लिए रखे गए हैं अथवा पात्रों के मनोगत भावों को स्पष्ट करने के लिए ।

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी नाटक रंगमंच की समस्त सीमाओं के अन्दर रहकर पूर्ण अभिनेय है,इसका मंचन डा० रामकुमार वर्मा के संरक्षण में प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग द्वारा किया जा चुका है ।

डा० रामकुमार वर्मा

परिचय

साहित्यिक रंगमंचीय नाटक लिखने में युग प्रवर्तक नाटककार डा० रामकुमार वर्मा हैं । पाश्चात्य नाट्य शिल्प से प्रभावित भारतीय वातावरण के नाटक लिखने वालों में आप अग्रणी हैं । इनके नाटकों में रंगमंच का गुण विशेष रूप से रहता है । उनके नाटकों के मंचन एक नैतिक वातावरण की सृष्टि करते हैं । उनके पात्र आदर्श संस्कृति के पालक हैं, पर वे यथार्थ जीवन से पृथक नहीं हैं ।

डा० वर्मा के नाटकों में उनके भाव पात्रों के साथ संचरित होते हैं । उनके भावों में चंचलता,तीव्रता तथा कार्य व्यापार की

1- अंक२,पृ० ३७ ।

उद्घाटित करने की क्षमता रखता है । कथानक का प्रभाव तथा चरित्रों का विकास उनके नाटकों में सन्तुलित रहता है । उनके नाटकों की सफलता का कारण उनकी प्रभावपूर्ण नाटकीय शैली भी है । उनकी शैली में रोचकता, प्रभावोत्पादकता के साथ ही पात्रों को मनोवैज्ञानिक स्तर पर विकसित करने की क्षमता भी है । चरित्र-चित्रण स्वाभाविक तथा वातावरण के अनुकूल होता है । भाषा पात्रों के मनोभावों के अनुसार है।

उनके नाटकों की सफलता जिज्ञासा एवं कुतूहल में भी रहती है । वे परिस्थिति एवं पात्रों की बातचीत के द्वारा घटना में कुतूहल की सृष्टि करते हैं । उनके पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व भी इसी अवसर पर उभरता है । वे बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष चित्रित करने वाले कुशल कलाकार हैं । उनके नाटकों पर रामचरण महेन्द्र के विचार इस प्रकार हैं--" उनके सभी नाटकों का रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय हो सकता है । डा० वर्मा की सारगर्भिता प्रभावपूर्ण नाटकीय शैली पाठक एवं दर्शक दोनों को आकृष्ट करने की क्षमता रखती है । इतिहास,कल्पना और काव्यगुणों के सम्मिश्रण के बने ये नाटक बड़े ही रोचक एवं प्रभावोत्पादक हैं । तत्कालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर पात्रों के चरित्रों में जो मनोवैज्ञानिक पुट दिया है, वह इन नाटकों को स्थान प्रदान करने में बहुत बड़ा हाथ बन गया है ।"[1]

उनके नाटक अभिनेय हैं,यह सभी स्वीकार करते हैं । उनकी इस सफलता में भाषा का बहुत बड़ा योगदान है । उनकी भाषा की सफलता पर महेन्द्र जी ने लिखा है --"अभिनय के दृष्टिकोण से अपने पात्रों

१- रामचरण महेन्द्र : "हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार" ,पृ०१०१

के मुख से उनकी भाषा नहीं होती है,वरन् अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत की है । जो पात्र जिस वातावरण में श्वास लेता है, उसी वातावरण के अनुरूप भाषा,मनोविज्ञान,आचार-व्यवहार,संघर्ष इत्यादि की व्यंजना की है । वे कल्पना के व्योम में विहार की अपेक्षा वास्तविकता का चित्र नाटकों में आवश्यक समझते हैं । रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं का ध्यान उन्हें सदैव रहता है । कुछ नाटकों में उन्होंने अपने रंगमंच का चित्र भी प्रदान किया है[1]।"

डा० वर्मा के नाटक भारतीय संस्कृति के शक्तिशाली अंग हैं । भारतीय संस्कृति तथा मानव मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति उनमें होती है । उनके नाटकों में संगीत का प्रयोग नाटकीय मोड़ उपस्थित करने के लिए कथावस्तु के विकास में सहायक बनकर प्रयुक्त हुआ है । जीवन की स्वाभाविकता से परिपूर्ण उनके नाटक हिन्दी नाटक साहित्य की निधि हैं ।

नाट्यकृतियाँ

डा० वर्मा ने 'जौहर की ज्योति','विजयपर्व','कला और कृपाण','नाना फड़नवीस','महाराणा प्रताप','अशोक का शोक', 'सारंग स्वर' शीर्षक सात ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं तथा 'पृथ्वी का स्वर्ग' एक हास्यपूर्ण सामाजिक नाटक भी लिखा है । इस प्रकार अभी तक आपने आठ नाटक तथा सौ से ऊपर विभिन्न विधा तथा विषयों के एकांकियों की रचना की है । आप प्रतिभाशाली जीवन्त कलाकार हैं । आपकी लेखनी अभी प्रौढ़ है । उससे हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ आशा है । यहाँ उनके 'जौहर की ज्योति' ,'कला और कृपाण' और 'नाना फड़नवीस' नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१- रामचरण महेन्द्र :"हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार",पृ०१०२

'जौहर की ज्योति'

कथावस्तु

इस नाटक की कथावस्तु का विस्तार लगभग दो दशकों में है। मारवाड़ के महाराणा जसवन्त सिंह की मृत्यु औरंगजेब के छल के कारण हुई। उस समय जसवन्त सिंह की महारानी श्रीमहामाया के गर्भ में अजीत सिंह था। नाटक के प्रथम अंक में अजीत सिंह बालक घोड़े पर सवार हो सकता है तथा छोटी-सी तलवार धारण कर सकता है। यही बालक अजीतसिंह पांचवें अंक में युवक है, जो महामन्त्री दुर्गादास को भी द्वन्द्व के लिए आमंत्रित करता है। इस समय उसकी अवस्था बीस वर्ष से कम नहीं होगी। इस प्रकार अजीतसिंह के बचपन से युवा होने तक की कथा इस नाटक में है।

एक ही संस्कृति किन्तु विभिन्न वातावरणों में इस नाटक के दृश्य दिल्ली, मेवाड़, मारवाड़ तथा ध्रुवनगर के दुर्गों में घटित होते हैं। श्री महामाया तथा राजकुमार को औरंगजेब की काली छाया से दूर रखा जाय यही दुर्गादास को अभिप्रेत है। नाटक में पांच अंक हैं।

दृश्य-विधान

प्रथम दृश्यांक दिल्ली में मारवाड़ राज्य के एक महल का है। कार्य व्यापार महल के एक कक्ष में सम्पन्न होता है, जिसमें राजपूती वीरता को प्रकट करने वाले दो-चार चित्र हैं। कक्ष में दाहिनी और बायीं ओर दो द्वार हैं। मंच पर अधिक सजावट नहीं है तथा प्रकाश सन्तुलित है। अतः दृश्य सरल है। दूसरा दृश्य मारवाड़ राज्य के दरबार में खुलता है। प्रथम दृश्य के पीछे नेपथ्य के आगे इस दृश्य को लगाया ~~जा~~ सकता है। तीसरा दृश्य दुर्गादास के शिविरों का है। दो अलग दृश्यों के

बीच में किसी वह दृश्य को न रखने से उस दृश्य का प्रस्तुतीकरण कठिन है। इसका ध्यान नाटककार को है अतः उन्होंने संकेत दिया है -- 'दूर के पर्दों पर शिविर होने का संकेत।' इस प्रकार यह दृश्य प्रकट करना सहज हो गया। चौथा दृश्य लूनी नदी के किनारे एक कक्ष में घटित होता है। यह कक्ष प्रथम दृश्य की मंच सामग्री का प्रयोग कर आसानी से सजाया जा सकता है। नदी सम्बन्धी भाव वातायन से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। पांचवां दृश्य भी उसी कक्ष में सजाया गया है। नाटककार दृश्यविधान में सजग है, और मंचीय सीमाओं का ध्यान रखकर दृश्य प्रस्तुत कर रहा है। दृश्य विधान पूर्ण रंगमंचीय है।

पात्र योजना

इस सम्पूर्ण नाटक में कुल सत्रह पात्र हैं। इनमें बारह पुरुष तथा पांच स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में पांच पात्र सामन्त तथा प्रहरी हैं। सामन्तों की उपस्थिति राजसिंह के दरबार में होती है। कथावस्तु के साथ सभी सामन्तपूर्ण सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते। दो सामन्तों से भी प्रभावान्वुति में कमी न रहती। चार सामन्तों से दृश्य की गरिमा अवश्य बढ़ती है। नाटक में दुर्गादास, विजयसिंह, तहव्वरअली और अजीतसिंह मुख्य पात्र हैं। औरंगजेब के दरबार तथा बाहर भी दुर्गादास का चरित्र उद्घाटित करने में अकमदबेग भी प्रमुख पात्र हैं। राजसिंह औरंगजेब की भेद नीति को प्रखर करने में सहायक पात्र है।

स्त्री पात्रों में महामाया, बानू, आयशा और तेजकुंवरि, जो शहजादा अकबर की पत्नी है, क्रमशः महत्वपूर्ण स्त्रियां हैं। शहजादा अकबर तथा तेजकुंवरि के चरित्रों द्वारा औरंगजेब की कठोर नीति का स्पष्टीकरण होता है। पात्र विधान सरल तथा उपादेय है। पात्र एक-दूसरे के चरित्रों का उद्घाटन करते हैं तथा कथावस्तु का विकास करने में सहायक होते हैं।

पात्रों का विकास मनोविज्ञान के आधार पर हुआ है। अपने संस्कारों से प्रभावित पात्र प्रभाव से बचते नहीं हैं। हिन्दू तथा मुसलमान दो संस्कारों के पात्र एक साथ रहते हैं। उनमें संस्कारों की प्रधानता ही द्रष्टव्य है। राजपूती संस्कार भी पात्रों में हैं। दुर्गादास तथा अजीतसिंह का संघर्ष संस्कारों के प्रभाव से ही उभरता है। प्रभाव से परिवर्तित पात्र शहजादा अकबर है। इस प्रकार पात्र योजना मनोवैज्ञानिक तथा उपयुक्त है।

सम्वाद

डा० वर्मा के नाटकों की सफलता का श्रेय उनके सम्वादों को भी है। उनके सम्वादों में सजीवता, प्राणवत्ता तथा स्वाभाविकता रहती है। सम्वादों का कुतूहल नाटक के प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है। प्रथम दृश्य में ही दुर्गादास विजयसिंह को मुगलों के विरुद्ध लड़ने के लिए तौलता है--

दुर्गादास

'यह सत्य है, किन्तु मुगल शासकों ने अपनी राजनीति की तेज धार से वैसे राजपूतों की शक्ति के पंख काट दिये हैं और वे अपने-अपने राज्यों में निश्चेष्ट पड़े हैं।'

विजय

'किन्तु सेनापति! धार चाहे जितनी ही तीखी हो, हमारी शक्ति के पंख नहीं काट सकती, उन्हें अधीर भले ही कर दे। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि वे अधीर पंख आपके उत्साह के झंझावात से वैसे गतिशील होने के लिए आतुर हो उठे हैं[1]।'

1- डा० रामकुमार वर्मा : 'दीपक की ज्योति', पृ०२

ये सम्वाद नाटक के प्रारम्भ में हैं । इनमें पात्रों के चरित्र की स्पष्टता के साथ ही कथावस्तु के विकास की भी सम्भावनाएं परिलक्षित होती हैं । इसी प्रकार के सम्वाद इस नाटक में सर्वत्र हैं ।

आलंकारिक प्रयोग के होते हुए भी सम्वादों की भाषा में अस्पष्टता नहीं आने पाया है । भाषा में पात्रों की स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा गया है । दुर्गादास भारतीय संस्कृति तथा हिन्दुत्व का नायक सेनापति है,अत: उसकी भाषा में इन गुणों की झलक है--"बारबार विजयसिंह ! आज शक्ति की परीक्षा है । मुगल सेना के महासागर में राजपूतों को बड़वानल की भांति कार्य करना है । क्या यह कर सकोगे ?"

अहमदबेग औरंगजेब का चर है । उसकी संस्कृति तथा स्वभाव उर्दू भाषा से निर्मित है । अत: उसकी भाषा में नाटककार ने उसके जातीय गुणों का ख्याल रखा है--

"हुजूर,वक्त की बात न पूछिए । यह तो हम लोग हैं कि वक्त के पीछे परेशान रहते हैं , लेकिन आपजैसी हस्तियों के ज़ेरसाये तो वक्त भी गुलाम की तरह परवरिश पाता है । वक्त तो हुजूर ! इन्तज़ार करता है कि अब आपकोई बात अपनी जुबाने-मुबारक से फरमायें और वक्त उसे पूरा करे ।"

औरंगजेब की पोती शहज़ादी अकबर की लड़की बानो पर हिन्दू तथा मुगल दोनों संस्कृतियों का प्रभाव है । अत: उसकी भाषा उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के बीच की है --

बानो --"(बीच ही में) आलमगीर औरंगजेब का खानदान क्यों कहती है?

जलालुद्दीन अकबर का खानदान कह । शाहंशाह अकबर ने पहचाना था कि इन्सानियत सबसे ऊंचा है । हिन्दू और मुसलमान इन्सानियत के लिबास हैं,इन्सानियत के टुकड़े नहीं ।"

उपर्युक्त उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि डा० वर्मा के इस नाटक की भाषा पात्रानुकूल ही नहीं, अभिनेयता उभारने में सक्षम भी है । उनके सम्वाद तथा उनकी भाषा दृश्यनाटकों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है, यह निर्विवाद है ।

स्वगत कथन

यह नाटक सीधी रेखा में विकसित होता है । द्वन्द्व के लिए अधिक अवकाश नहीं है । अन्तिम अंक में दुर्गादास तथा अजीत के बीच बाह्य संघर्ष का अच्छा उदाहरण नाटककार ने रखा है । शाहजादी बानो अजीत से प्रेम करती है । वह राजपूत माँ तथा मुसलमान पिता की सन्तान होने से अजीत से विवाह नहीं कर सकता । दूसरा कारण यह भी है कि दुर्गादास अजीत को राजपूती शक्ति का केन्द्रबिन्दु बनाना चाहते हैं । इन कारणों से बानो अभिज्ञ है, अतः उसमें द्वन्द्व उत्पन्न होने की सम्भावनाएं हैं और ऐसे स्थल पर नाटककार ने स्वगत के माध्यम से पात्र के हृदयगत भाव स्पष्ट किए हैं ।

प्रथम अंक में अकबरबेग के चले जाने पर दुर्गादास का स्वगत कथन है जो सीधा है । चौथे अंक में जायफाबानू अपनी सखी सफीयत को आरती सजाने भेज देती है । वह अकेली रह जाती है, तो अजीत के प्रति अपने विचार प्रकट करती है—"(आनन्द से विह्वल होकर) आज रातभर आरती उतारूँगी ।"

इस प्रकार अवसर पर स्वगतों के माध्यम से नाटककार ने संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्वों को स्थान दिया है ।

नाट्य संकेत

नाटक में नाट्य संकेतों के द्वारा रंगमंचीय कला को उभारने का प्रयास इस नाटक में है । दृश्यों की वास्तविकता के लिए

'दिल्ली में मारवाड़ राज्य का महल विद्युत के मन्द प्रकाश में दूर दिखाया पड़ता है । प्रकाश शनैः शनैः अन्धकार में बदलता है और पुनः प्रकाश फैलते-फैलते पर्दा उठता है । महल का एक कक्ष है .... कक्ष में दाहिनी ओर बाईं ओर दो पृथक् द्वार हैं ।'

इस स्थल पर संकेत द्वारा रंगमंच की सीमाओं का ध्यान रखा गया है । इसके अतिरिक्त पात्रों के वेश-विन्यास तथा स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए संकेत हैं । अभिनय के लिए स्वाभाविक भावभंगिमा तथा मुद्राओं के लिए भी नाटककार ने संकेत दिये हैं । जिनमें कुछ को यहां रख रहा हूं --

आंगिक संकेत	सात्विक संकेत
टहलते हुए, पत्र पढ़ते हुए सिर पकड़कर, घुटने टेकता हुआ सिर झुकाता है, अकबर को उठाते हुए, रुक-रुक कर हंसकर, तीव्र स्वर में, खिड़की के समीप जाकर सूनी नदी की ओर देखती है ।	सोचती है, पत्र पढ़ने की मुद्रा में, अकबर के तेवर देखकर, भय से देखती है दबी हुई हंसी, घबराकर, भय और संकोच मिश्रित, व्यंग्य से चिढ़ाकर

अन्य नाटकों में सात्विक अभिनय उभारने वाले संकेत बहुत कम रहते हैं । डा०. वर्मा के नाटकों में उन्हीं की अधिकता परिलक्षित होती है ।

उपर्युक्त निष्कर्षों द्वारा यह स्पष्ट है कि 'जौहर की ज्योति' पूर्ण अभिनेय नाटक है । ऐतिहासिक कथानक होते हुए भी मानवधर्म की प्रतिष्ठा करने से आधुनिक भी है । दृश्यविधान, सम्वाद विधान, पात्र-योजना, तथा अन्य नाटकीय दृष्टियों से भी नाटक दृश्यगुण सम्पन्न है ।

कला और कृपाण

प्रस्तुत नाटक में महात्मा बुद्ध कालीन भारत का इतिहास चित्रित है। महाराज उदयन पाण्डव वंश के थे। वे राजा परीक्षित की बाईसवीं पीढ़ी में थे। वे कौशाम्बी पर राज्य करते थे। उनके समय में राजनीति तथा कला का अच्छा विकास हुआ। उनका विवाह अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता से हुआ था। उनकी अन्य रानियों में पद्मावती साधारण वंश की होकर भी असाधारण सौन्दर्यवती थी। अन्य नाटककारों ने इस पात्र के द्वारा पारिवारिक संघर्ष उत्पन्न कराया है। प्रस्तुत नाटक में पद्मावती का उल्लेख नहीं हुआ है। नाटक का मुख्य उद्देश्य उदयन का धर्म-परिवर्तन है। वे बौद्ध धर्म के विरोधी हैं, पर अन्त में उसे ही स्वीकार करते हैं। नाटक में तीन दृश्यांक हैं।

दृश्य विधान

प्रथम दृश्य विन्ध्य-भूमि के वन प्रान्त में घटित होता है। सन्ध्याकालीन समय है। पक्षियों का कलरव तथा निर्झर की ध्वनि से वातावरण मुखरित है। नेपथ्य वार्तालाप के माध्यम से यह दृश्य आकर्षक हो गया है। अतः मंच पर दृश्य सजाने की आवश्यकता नहीं है।

प्रथम स्वर

'शंबरक ! कितना भयानक वन है, यहाँ का मार्ग राजनीति के वक्र वाक्यों की भाँति कितना टेढ़ा है और घूमा हुआ है।'

इस प्रकार जंगल की भयानकता तथा मार्ग का टेढ़ापन वार्तालापों के सहारे स्पष्ट किया गया है। यह प्रयोग मंच की सरल प्रक्रिया के लिए उत्तम है।

दूसरा दृश्य प्रात:काल का है। उदयन के राजकक्ष में महादेवी वासवदत्ता वीणा संवादन करती हैं। शुक,सारिकाओं के शब्द होते हैं। मंच सामग्री का प्रयोग इस दृश्य में भी नहीं है। सूच्य ध्वनियों के सहारे ही यह दृश्य भी उभारा गया है।

तीसरा दृश्य अपराह्न में कौशाम्बी के राजकक्ष का है। वस्त्रालंकार तथा पाटकंचुक सुशोभित हैं। स्फटिक-हस्तियों के पैरों से बना सिंहासन पड़ा है। मणि जटित छत्र इस पर है। दोनों ओर मद्र पीठिकाएं, कौशेय से सुसज्जित हैं। अगरुपात्रों से धूम्र राशि उठती है। यही दृश्य मंच पर सजाना पड़ेगा।

पूर्व दो दृश्य सूच्य होने से चल दृश्यों की कोटि के हैं अत: यह तीसरा अचल दृश्य सजाना सरल है। इस प्रकार नाटक का दृश्य-विधान उचित है।

पात्र-विधान

कथा और कृपाण विधा के समान अधिकारी सम्राट उदयन नायक हैं। वे धीर ललित नायक कहे जा सकते हैं। अन्य ऐतिहासिक पात्रों में यौगन्धरायण,रुमण्वान, वासवदत्ता और सोमावती हैं। मंजुघोषा शैलक तथा शंखचूड़ आदि कल्पित पात्र हैं। इन पात्रों से ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र उद्घाटित तो होता ही है, साथ ही कथोद्घाटन भी होता है।

नाटक में कुल चौदह-पन्द्रह पात्र हैं --छ: पुरुष चार स्त्री तथा कंचुकी,प्रतीहारी एवं परिचारिका आदि। कोई पात्र अस्पष्ट नहीं है। पात्र मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित है।

सम्वाद तथा भाषा

सम्वाद कथानक को बढ़ाते हैं तथा चरित्रोद्घाटन करते हैं। साहित्यिक व्यंग्यप्रधान चुभती शब्दावली में सम्वादों में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। अपनी नाटकीय गत्यात्मकता के कारण सम्वाद दृश्य नाटक के गुणों को पूरा करते हैं। शेखरक तथा शंखचूड़ के सम्वादों का उदाहरण द्रष्टव्य है :-

शंखचूड़ -- और महाराज की कृपाण की भाँति खिंचा हुआ यह समय कितनी गति से चला जा रहा है। यह नहीं जानते ? .... जो कार्य हमें सौंपा गया है, उसे हम प्रकृति के इस सौन्दर्य में नहीं भुला सकते।"

शेखरक -- महाराज की कला और उनका कृपाण, कितना विचित्र संयोग है। कहना कठिन है कि कौन किससे अधिक प्रखर है। एक गुप्त बात पूछूं ?"

\+ + +

उदयन -- आत्म समर्पण सबसे बड़ा न्याय है, देवि ! मैं सारिका के प्राण नहीं लौटा सकता, किन्तु उसके स्थान पर अपने प्राण दे सकता हूं।"

मंजुघोषा -- (व्यंग्य से) निरीह प्राणियों का वध करने वाला आखेटक अपने प्राण दे सकता है। यह कहुमोसी शब्द व्यर्थ है।"

इसी प्रकार के चातुर्यपूर्ण सम्वाद नाटक में सर्वत्र हैं। अपने सम्वादों के कारण ही नाटक मंच के लिए आकर्षण उपस्थित करता है। सम्वादों की भाषा में अधिक अन्तर नहीं है।

सभी पात्रों का वातावरण समान होने के कारण उनकी भाषा भी समान है। अन्य भाषा-भाषी भी कोई पात्र नाटक में नहीं है। भाषा सरल और समान होने पर भी सम्वादों को नाटकीय बनाने में समर्थ है। सम्वाद साधारण बातचीत से उठे हुए हैं। वे चमत्कारिक, मनोविज्ञानसम्मत, छोटे पर प्रभावशाली हैं। भाषा तथा भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से नाटक अभिनेय है।

भाषा और सम्वादों में प्रखरता भरने वाला गुण नाटक में संघर्ष तथा अंतर्द्वन्द्व होता है। इस नाटक में प्रारम्भ में ही इसकी अवतारणा हुई है। आखेटक के वेश में महाराज उदयन के बाण से मंजुघोषा की सारिका घायल हो गई है। शंखचूड़ तथा शेखरक के साथ वार्ता में मंजुघोषा के हृदय का रोष प्रकट होता है। इस नाटक में सारिका का वध और न्याय को लेकर ही दूसरे अंक की समाप्ति तक कथावस्तु बढ़ती है। इस समय मंजुघोषा से महाराज की वास्तविक स्थिति छिपी है। वह महाराज को ही सारिका का वध करने वाला आखेटक समझती है। बाद में वास्तविकता प्रकट होने पर नाटक में प्रखरता आ जाती है। इस बीच नाटक में युद्ध-विजय तथा आगे के युद्ध की सूचनाएं भी मिलती हैं। प्रथम सूचना वासवदत्ता द्वारा मिलती है --

वासवदत्ता -- (खड़ी होकर) स्वागत् आर्य! विन्ध्य-भूमि की विजय पर आपको बधाई![1]

द्वितीय सूचना मगध नरेश के चर द्वारा दी जाती है --

कंचुकी -- महाराज की जय! सेवा में यह निवेदन प्रस्तुत करना चाहता हूं कि महाराज दर्शक ने आपसे आग्रहपूर्वक यह कहला भेजा है

१- डा०रामकुमार वर्मा : "कला और कृपाण", पृ०२८।

कि उरु णि पर आक्रमण करने के लिए सेनाध्यक्ष रुमण्वान्
ने एक विशाल सेना एकत्रित कर ली है । साथ में मेरी मगध-
सेना भी सुसज्जित है । ..... आप शीघ्र सैन्य-संचालन करें ।"[1]

इन सूचनाओं द्वारा महाराज उदयन की कृपाण कला
को आह्वान किया गया है । इस प्रकार "कला और कृपाण" नाटक में
महाराज उदयन के व्यक्तित्व के दोनों पक्षों का उद्घाटन हुआ है । उदयन
बौद्धधर्म ग्रहण करना नहीं चाहते, किन्तु अन्त में परिस्थितियों से प्रेरित होकर
वे उसे ग्रहण करते हैं । अत: आन्तरिक संघर्ष भी नाटक के मुख्य पात्र में प्रकट
हुआ है । ये स्थितियां नाटक में अभिनेयता उभारने में पूर्ण सहायक हैं ।

रंग सूचनाएं

पूर्व नाटकों की भांति ही इस नाटक में भी सभी
प्रकार की सूचनाओं द्वारा नाटक को मंच के उपयुक्त बनाया गया है ।
मंचसज्जा, रूपसज्जा, पात्र-स्वभाव, अभिनयात्मक स्थिति तथा वातावरण की
सृष्टि आदि के लिए यथेष्ट निर्देश नाटक में रखे गये हैं ।

मंजुघोषा का आरती के साथ प्रवेश, वातायन से
देखकर तथागत का प्रवेश आदि सूचनाओं द्वारा आंगिक अभिनय उभरता है तो
ठंडी सांस लेकर, अधिक विह्वलता से, रूखे स्वर में, करुणस्वर में, अव्यवस्थित
होकर, व्यग्रता से आदि सूचनाएं सात्विक अभिनय उभारती हैं । वातावरण
निर्माण करने वाली तथा सूचना प्रदान करने वाली सूचनाएं, द्वार पर कोलाहल
तथा नेपथ्य में शंख और भेरी नाद आदि जैसी हैं ।

इस प्रकार सूचनाओं द्वारा इस नाटक में यथेष्ट नाटकीयता
उत्पन्न हुई है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "कला और कृपाण", पृ०५७ ।

निष्कर्ष

नाटक की कथावस्तु काल की दृष्टि से पन्द्रह-बीस वर्षों का इतिहास व्यक्त करती है। महाराज उदयन का राजतिलक हुआ था तथा उन्होंने ६२१ ई०पू० में ६४२ई०पू० में बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। नाटक में उदयन के आखेट के समय से बौद्ध धर्म स्वीकृति तक की कथावस्तु वर्णित है। राज्यारोहण तथा आखेट के समय में कितना अन्तर है अस्पष्ट है। स्थान की दृष्टि से नाटक विन्ध्य-भूमि के वनप्रान्त तथा कौशाम्बी के राजप्रासाद में घटित होता है। क्रिया की एकता नाटक में है। इस प्रकार कार्य संचालन की दृष्टि से नाटक पुष्ट है।

चित्ताकर्षक होने के साथ ही नाटक में जीवनगत सन्देश भी है। हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखाना नाटक का उद्देश्य है। करुणारस में समाप्त होने वाला नाटक मनोविज्ञान सम्मत है। नाटक अपनी सीमाओं में अभिनेय है, यह ऊपर स्पष्ट हो चुका है। डा० रामकुमार वर्मा अपने नाटकों का रंगमंचीय रूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं --' अभिनय तथा अभिनय के आयोजनों से मेरा निकट का सम्बन्ध रहा है। रंगमंच की सारी असुविधाओं से मैंने निरन्तर संघर्ष किया है। अतः जब कभी नाटक की कल्पना मेरे हृदय में आती है तो रंगमंच मेरे मानस-पटल पर पहले ही आकर खड़ा हो जाता है और पात्रों की अपनी कथावस्तु की माँग करता है।'[१]

नाना फड़नवीस

कथावस्तु

प्रस्तुत नाटक का कथानक पानीपत के युद्ध की प्रतिक्रिया से ही होता है। पानीपत के परिणाम को जानने की उत्सुकता में ही नाटक का कुतूहल पोषित है। पेशवा बालाजी बाजीराव रंगमंच पर पानीपत के युद्ध

का परिणाम सुनते हैं और समाचारों के अनुसार उनकी मन:स्थितियाँ बदलती हैं। अपने पुत्र विश्वासराव की मृत्यु का समाचार पेशवा को विचलित कर देता है पर नाना फड़नवीस का वार्तालाप उनमें पुन: शक्ति और विश्वास भरता है। यहाँ राजनीति का नवीन अध्याय खुलता है।

प्रथम अंक तथा द्वितीय अंक के बीच काल के अन्तराल में अनेक घटनाएं पड़ी हैं, जिनकी व्यंजना से ही दूसरा अंक प्रारम्भ होता है। व्यंजना-शक्ति के द्वारा कथा का उद्घाटन होने से नाटक के सभी अंक अपने में स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण हो गये हैं।

दृश्यविधान

प्रथम अंक का उद्घाटन १७६१ ई० की सन्ध्याकाल में ताप्ती नदी के तट पर बुरहानपुर में होता है। पेशवा बालाजीराव का शिविर पड़ा है। तम्बू है, जिसमें रेशम तथा सोने के तारों की फालरें हैं। रंग-बिरंगे पर्दे, फर्श पर रेशमी बिछावन है। मध्य में ऊंचा सिंहासन है- पास में छोटे-छोटे आसन हैं।

दूसरा अंक दस वर्ष बाद १७७१ में पेशवा माधवराव के महल के बाहरी कक्ष में खुलता है। रेशमी पर्दे, मखमली गद्दे, कालीन। स्वर्गीय पेशवा बालाजीराव का तैलचित्र लगा है। मखमली आसन, पास में दो और आसन है।

तृतीय अंक १७७३ में पुरन्दर स्थित नाना फड़नवीस के प्रासाद में सुसज्जित है। कक्ष में मयूराकृत कुर्सियाँ तथा तख्त सजे हैं। प्राकृतिक दृश्य सजे हैं। दीवाल के मध्य में पेशवा नारायण राव का चित्र लगा है।

तीनों अंकों में बारह-तेरह वर्ष की कथा वर्णित है। अंकों के दृश्य प्रकृति में एक-से होने के कारण बहुत कम समय में मंच

चरित्र-चित्रण

इस नाटक में चरित्र अत्यन्त प्रखर है। ऐतिहासिक व्यक्तियों में व्यक्तित्व का जो सत्य है, उसे उद्घाटित करना ही पात्र को सजीवता प्रदान करता है। सत्य की उद्भावना पात्र में मनोविज्ञान के सहारे होती है। मनोविज्ञान संस्कार तथा वातावरण के प्रभाव से निर्मित होता है। ऐतिहासिक सत्य में वस्तुवाद कल्पना के संयोग से सजीवता जाग उठती है।

नाटक में प्रमुख पात्र पेशवा बालाजीराव, माधवराव, रघुनाथराव, आनन्दी बाई, गंगाबाई, राजगुरु, रामशास्त्री और नाना फड़नवीस हैं। पात्रों की रूपरेखा उनके आन्तरिक संस्कार से निर्मित है। उपर्युक्त पात्रों में रघुनाथ राव और आनन्दीबाई दो पात्र स्वार्थी तथा कूटनीति में संलग्न हैं। शेष पात्र राष्ट्र-सेवा रत हैं। अत: संघर्ष होता है। बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के संघर्ष नाटक के पात्रों में हैं।

नाना फड़नवीस का चरित्र संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व के परीक्षण में चमकने लगता है। सभी पात्र इस पात्र की गति और प्रखरता को और अधिक बढ़ाते हैं। वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र का सेनानी बन जाता है। महाराष्ट्र की बिखरी शक्तियों को एकत्रित कर राष्ट्र को समुन्नत करने वालों में नाना फड़नवीस प्रमुख व्यक्ति हैं। मनोविज्ञान के सहारे पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों पर इस नाटक में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सैनिक द्वारपालादि को छोड़कर नाटक में बारह पुरुष पात्र तथा चार स्त्री पात्र हैं। पात्रों की संख्या बीस तक जाती है। एक तीन अंकों के नाटक के लिए इतने पात्र अधिक नहीं हैं। पात्रों की संख्या की दृष्टि से तथा उनके चारित्रिक विकास की दृष्टि से नाटक अभिनेय है।

सम्वाद

पात्र के मनोविज्ञान से ही उसका कथन परिचालित होता है। पात्र द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उसके हृदय की भाव राशि समेट लेता है। सम्वादों के सहारे ही पात्र की महत्ता प्रकट होती है। सम्वाद इसी से पात्रानुकूल होते हैं। आवेश की स्थिति में यही सम्वाद विस्तृत हो जाते हैं।

डा० वर्मा के नाटकों में सर्वाधिक प्राणवान तत्व सम्वाद ही हैं। सम्वादों के सहारे ही चरित्र अपना उद्घाटन करता है तथा नाटक का स्वरूप प्रकट होता है। प्रस्तुत नाटक के सम्वाद स्वाभाविक और समयोचित हैं। प्रथम अंक में पेशवा बालाजीराव युद्ध का समाचार जानने के लिए अत्यधिक व्यग्र हैं। उनकी व्यग्रता उनके कथन से ही व्यक्त होती है--

बालाजी -- जैसे कोई पागल दर्पण में अपना मुख देखकर उस दर्पण को ही चूर-चूर कर दे। कोई मतवाला हाथी अपने ही महावत को पैरों से कुचल दे। कोई मूर्ख सुगन्धि फैलाने के लिए फूलों की माला हाथों में मसल दे। यह किस बुद्धि का वैभव है? कल के समाचार का एक-एक शब्द एक भटकी हुई चिनगारी है, जिससे महाराष्ट्र के वैभव में आग लग सकती है।

भास्कर -- शान्त हों, श्रीमन्त! आपकी राजनीति का सागर किसी भी अग्नि को बुझा सकता है।[1]

नाना इस अंक में बालाजी राव में सन्तोष, साहस, तथा पौरुष का संचार करते हैं। नाना फड़नवीस के समक्ष किसी के जीवन का अन्त महत्व नहीं रखता, उनके समक्ष समस्त महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रश्न है। बाला जी को सन्तोष देने वाले नाना के शब्द देखिए --

---

१- नाना फड़नवीस, पृ० १-२।

नाना -- `बोलिए,श्रीमंत ! आप स्वस्थ हों, मैं प्रण करता हूं कि पानीपत की हार को जीत में बदल दूंगा । महाराष्ट्र का "मंगलाचरण" विजय से प्रारम्भ हुआ था उसका "भरतवाक्य" भी मेरे जीते जी विजय से समाप्त होगा ।`[1]

पात्र का कथन परिस्थिति के अनुरूप ही बदलता है । नाना सम्पूर्ण नाटक में मोड़ लिए हुए हैं । उनका यह कथन देखिए --

नाना -- `दोनों कितने सरल और भोले हैं । नये पति-पत्नी की तकरार में कितनी मिठास होती है ! कामदेव कितना बड़ा कलाकार होता है कि एक आंसू से आंधी उठा देता है और एक मुस्कान से महल बना देता है । महल... (सोचता है । पुकार कर) द्वारपाल !`[2]

परिस्थिति के घेरे में पड़कर पात्र के हृदय का आन्तरिक पक्ष सम्वादों के माध्यम से ही प्रकट होता है । इस नाटक में सम्वाद पात्र के स्वभाव को पूर्णतया प्रकट करते हैं । देश की रक्षा में सन्नद्ध पात्रों के क्रिया-कलाप वीरतापूर्ण हैं अतः सम्वादों का रूप भी अधिक प्रखर तथा प्रवाहपूर्ण है ।

भाषा विभिन्न स्तर के पात्रों के मुख से विभिन्न शैलियों में प्रकट होती है । नाटक किसी भी काल का वातावरण प्रकट करता हो, पर नाटककार किसी विशिष्ट भाषा का ही प्रयोग करता है । प्रस्तुत नाटक की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है । इतना होने पर भी काल विशेष की भाषा से प्रयुक्त भाषा की सन्निकटता रखना कुशल लेखक का दायित्व होता है ।

१- नाना फड़नवीस, पृ०२२ ।

२- ,, पृ०३४ ।

प्रस्तुत नाटक का वातावरण मराठी है । उस काल में मराठी भाषा में ही नाटक के चरित्र अपनी बात का स्पष्टीकरण करते रहे होंगे । अतः खड़ी बोली का प्रयोग करते हुए भी नाटककार ने मराठी शब्दों का प्रयोग कर वातावरण का आभास देना चाहा है । गीतों में तो मराठी शब्दावली का भुतर रूप ही रखा गया है । राजगुरु आते हैं--

राजगुरु --(आते ही) "यवीं साठीं मरावें । मरोनि अभ्यासी मारावें ।
मारितां मारितां घ्यावें।राज्य आपलें । "[1]

पद्य में मराठी प्रयोग के अतिरिक्त सम्बोधन तथा आदरसूचक शब्द भी मराठी वातावरण के रखे गये हैं । इस प्रकार भाषा में मराठी वातावरण की सृष्टि कर कर नाटककार ने स्वाभाविकता की रक्षा की है ।

नाटकीयता

"नाना फड़नवीस" अत्यधिक सफल अभिनेय नाटक है । इस नाटक में मैंने स्वयं जनको जी भौंसले की भूमिका का निर्वाह किया है । नाटक में सभी अंक अपने में स्वतन्त्र हैं ,जब कि सम्पूर्ण अंक एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं । प्रथम अंक में ...विश्वासराव की मृत्यु पर पेशवा बालाजीराव असन्तुलित हो जाते हैं । उनका भविष्य निराशाजनित मेघों में घिर जाता है । प्रथम अंक की चरम सीमा इसी बिन्दु पर है । इसी समय मेघों में विद्युत के समान नाना फड़नवीस प्रकट होते हैं तथा आशा रहित वातावरण में पुनः उत्साह का संचार करते हैं । नाना का मंच पर आना नाटकीयता की दृष्टि से बहुत ही उत्तम प्रयोग है । यही आकस्मिकता नाटक का प्राण होती है ।

१- नाना फड़नवीस,पृ० ७० ।

द्वितीय अंक आपसी संघर्षों से भरा है। माधवराव की अस्वस्थता सभी को चिन्तित किए है। वे महाराष्ट्र के प्राण हैं। महाराष्ट्र की एकता की धुरी भी वे ही हैं। समस्त अंक माधवराव की स्वास्थ्य-चिन्ता पर टिका हुआ है। भगवान् गजानन की बार-बार प्रार्थना होती है, अन्तिम प्रार्थना ही इस अंक का चरम बिन्दु है। माधवराव अपने स्वास्थ्य के लिए की जाने वाली प्रार्थना से आश्वस्त होकर भगवान् से इतनी शक्ति माँगते हैं कि अन्तिम श्वास तक वे महाराष्ट्र की सेवा कर सकें।

तृतीय अंक आनन्दी बाई की कूटनीति से और विधवा गंगाबाई के आँसुओं से भीगकर आरम्भ होता है। गंगाबाई गर्भवती है। वह पुत्र होने की कामना करती है। पार्वती बाई से इस सन्दर्भ की वह बातचीत करती है। आनन्दीबाई के सहायक महादेव तथा मामा हैं। इनसे नाटक में संघर्ष तथा तनाव बना हुआ है। राघोबा स्वयं अपने को पेशवा मानते हैं। पेशवा नारायणराव की हत्या इन्हीं के प्रपंच से हुई थी। नाना इन सभी परिस्थितियों में सजग तथा सावधान सैनिक हैं। उन्हें नारायणराव की सन्तान को (जो गंगाबाई के गर्भ में है) रक्षित रखकर महाराष्ट्र का शासन सही कार्यों में देना है। अतः इस संघर्ष की क्रिया बढ़ती है और तीसरे अंक की चरम सीमा सवाई माधवराव के पेशवा पद की घोषणा में होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक अनेक प्रकार की भावभूमियों को पार करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचता है। नाटक अपने उद्देश्य में भी महान् है।

उद्देश्य

नाना फड़नवीस एक यशस्वी सैनिक हैं। उनका चरित्र देश की सेवा में रत प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह भरता है। नाटक का यह उद्देश्य रंगमंच पर अभिनय द्वारा तथा रेडियो पर प्रसारण द्वारा प्रकट हुआ है। अतः यह नाटक अभिनय की दृष्टि से सर्वथा उत्तम है। हिन्दी नाट्य साहित्य में ही

नहीं, "नाना फडनवीस" नाटक भारत की किसी भी भाषा के उत्तम नाटकों की कोटि में रखा जा सकता है। रंगमंच का पूर्ण उपयोग प्रस्तुत नाटक में है। फलत: कहा जा सकता है कि डा० रामकुमार वर्मा के नाटक हिन्दी नाट्य-गगन पर शुक्र तारे के समान आशा और विश्वास से भरे हुए हैं। श्री जयशंकर प्रसाद ने "ध्रुवस्वामिनी" नाटक अभिनेय लिखा। उनकी यह अभिनय सम्बन्धी भावना सर्वप्रथम डा० वर्मा के नाटकों में प्रकट हुई और डा० वर्मा की नाट्य-कला हिन्दी नाटक साहित्य पर प्रथम रश्मि के रूप में प्रकट हुई।

डा० वर्मा की नाट्य-कला में ऊंचाई के साथ ही पथ-निर्देश करने की क्षमता भी है। हिन्दी में अभिनय, भाषा तथा शैली की दृष्टि से सुन्दर दृश्य नाटक लिखने वालों में वह युगप्रवर्तक नाटककार हैं। उनके नाटकों में संस्कृति, आस्था, नैतिकता, जीवन्तता तथा प्राणवत्ता का आलोक है। जयशंकर प्रसाद के बाद उनके नाटक हिन्दी नाट्य-प्रेमियों में युगीन विसंगतियों की घटाटोपभरी अंधेरी रात में रातरानी की सुगंध करने वाले हैं। घुटन, कुण्ठा, घृणा, विघटन का चित्रण करने वाले नाटकों के बीच स्वस्थ मनोबलपूर्ण नाटकों के लिए हम उत्सुकता से डा० वर्मा की ओर देखते हैं।

<u>हरिकृष्ण प्रेमी कृत "उद्धार" नाटक</u>

हरिकृष्ण "प्रेमी" ने इस नाटक में मेवाड़ की स्वतन्त्रता का इतिहास उपस्थित किया है। दिल्लीपति मालदेव खिलजियों के अधीन शासक है। मेवाड़ उसी के अधिकार में है। नाटक का दूसरा पक्ष महाराणा अजयसिंह का है, जो केलवाड़ा के शासक हैं। वे अपने भतीजे को युवराज पद देते हैं। सुधीरा उनकी ग्राम्या पत्नी है। हम्मीर उसी से उत्पन्न राज-पुत्र है। सुधीरा बचपन से ही हम्मीर को देशोद्धार के लिए तैयार करती है। उसका प्रयत्न फलीभूत होता है और हम्मीर बड़ा होकर मेवाड़ को स्वतन्त्र करता है।

दृश्यविधान

ऐतिहासिक नाटक होने से 'उद्धार' का कथानक अनेक स्थानों पर घटित होता है। अतः नाटक में अनेक दृश्यों का संयोजन किया गया है। तीन अंक के इस नाटक में तेईस दृश्य हैं। नाटक में दृश्यों के विस्तार के कारण स्थान ऐक्य नहीं है। दृश्यपटों की सहायता से इसका मंचन तीन या चार घण्टों में पूरा किया जा सकता है। अपने दृश्यविधान के कारण नाटक आधुनिक यथार्थ मंच पर भी सजाया जा सकता है। दृश्यपटों का प्रयोग ही नाटक को अभिनेय बना सकता है। इन अनेक दृश्यों में कथोद्घाटन के हेतु पात्रों की योजना की गयी है।

पात्र-योजना

नाटक 'उद्धार' में प्रेमी जी ने बारह प्रमुख पात्र रखे हैं। अन्य सहायक पात्रों में तीन पात्र अंक एक के दृश्य छः में और तीन युवक अंक तीन के दृश्य चार में रखे गये हैं। मन्त्री तथा वैद्य इस नाटक में अंक दो के दृश्य चार में आते हैं। ये पात्र मेवाड़ उद्धार में संलग्न मुख्य पात्रों की सहायता करते हैं। ये माध्यम पात्र हैं जो कथावस्तु से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार हम्मीर के दरबार भीलवाड़ा में एक सेनापति तथा भील सरदार आते हैं। इसी अंक में एक डिब्बर कमला की शादी का नारियल लाते हैं। इस प्रकार लगभग दस माध्यम पात्र नाटक में हैं। वेशभूषा की कुशल व्यवस्था होने पर कुछ कम पात्रों से भी कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। स्पष्ट है कि 'उद्धार' नाटक में पन्द्रह से बीस पात्र मंचन के लिए आवश्यक हैं।

नाटकीय पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक है। वे घटनाओं से भी सम्बद्ध हैं, पर उनका व्यक्तित्व आकर्षण की क्षमता से आपूरित है। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण पात्र नाटकीय हैं।

सम्वाद विधान

नाटक की सम्पूर्ण सफलता का श्रेय इसके सम्वाद - विधान को ही दिया जाना अधिक उपयुक्त है। कथोपकथनों में इतनी तेजस्विता तथा नाटकीयता है कि वे नाटक को उसका अभिनेय रूप प्रदान करने में सक्षम हैं। "प्रेमी" जी इस नाटक में कथा-सूत्रों की सहायता से अभिनेय स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। वक्रोक्ति से श्रोता भिन्नार्थ लेकर संघर्ष उत्पन्न करता है और सीधा सादा कथानक प्रखर तथा नाटकीय बन जाता है। इस नाटकीय प्रयोग से अविस्मरणीय चित्र उभरते हैं--

महाराणा ज़हर की समस्या से अपने पुत्र सुजानसिंह का सम्बन्ध मानते हैं। दर्शक भी इसी को सही मानने लगते हैं। यहाँ नाटक में चमत्कार उत्पन्न होता है। इसी बीच सुजानसिंह आता है और गूढ़ तथ्य उद्घाटित होता है। सुजानसिंह का चरित्र यहाँ मुखीभूत सा चमकने लगता है।[1]

कमला बन्दीगृह में है। वह पहरेदार को अपनी ओर मिला लेती है। पहरेदार कमला को मुक्त करने के लिए द्वार खोलना चाहता है, पर जाल जो कमला के पक्ष का उसका हितैषी है, उसे इस प्रकार का विश्वासघात करने से रोकता है। कमला जाल के इस परिवर्तन से ठगी सी रह जाती है। जाल हंस देता है।[2]

दलपति हम्मीर को महाराणा कहता है। हम्मीर इस सम्बोधन पर प्रसन्न हो जाता है। दलपति द्वारा भाई सम्बोधन सुनकर वह

१- अंक दो, दृश्य चार

२- अंक तीन, दृश्य बाठ

प्रसन्न होता है। हम्मीर सेना सहित मेवाड़ की ओर जा रहा है। सुजान ससैन्य उसे मार्ग में रोकता है। सुजान हम्मीर के पक्ष का है। दुर्गा इसी से हम्मीर को उत्तेजित करती है। यहाँ नाटक में बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। सुजान स्पष्ट करता है कि वह दिल्ली की ओर से आने वाली सेना को रोकने के लिए जा रहा है ताकि मेवाड़ राज्य ही स्वाधीन किया जा सके[1]।

इस प्रकार के घटना सम्बन्धी परिवर्तनों से नाटकीय स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनसे पात्रों के चरित्र तथा कथानक का स्पष्टीकरण होता है। इन कथोद्घाटनों का "प्रेमी" जी के नाटकों में विशिष्ट स्थान है।

कथोपकथनों में विशेष चमत्कार अंक दो के दृश्य चार में सुजान तथा महाराणा की वार्ता में, अंक दो के दृश्य नौ में कमला और सुधीरा के कथोपकथनों में, अंक तीन के दृश्य तीन में कमला तथा भूपति के कथनों में उत्पन्न हुआ है। हम्मीर वीर है, साथ ही प्रेमपूर्ण हृदय भी रखता है। शृंगार का वीर रस के साथ ही सम्बन्ध होता है। हम्मीर अपनी प्रेमिका कमला से जो कथोपकथन करता है वह इसका उद्घाटन करती है --

(कमला जाने लगती है, हम्मीर रोकता है)

हम्मीर -- पंछी को घायल करके तड़प-तड़प कर मरने के लिए छोड़कर बधिक चला जाना चाहता है।

कमला -- जिस व्यक्ति को देश की स्वतन्त्रता के लिए, विदेशी सत्ता और स्वदेशी देश द्रोहियों के षड्यन्त्रों से जूझना है, उसके मुख से ऐसे शब्द शोभा नहीं देते।

हम्मीर -- तो तुम समझती हो कि स्वतन्त्रता के सैनिक में हृदय के स्थान पर शिलाखण्ड होता है।

कमला -- अवश्य ही[2]।

1- हरिकृष्ण "प्रेमी" : "उद्धार", पृ० अंक २, दृश्य ६।

2- ,, ,, ,, ६६।

स्पष्ट है कि 'उद्धार' नाटक के सम्वाद नाटकीय हैं। उनमें प्रसंगानुकूल बातचीत का स्वाभाविक ढंग भी है और सर्व हृदयग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म व्यंजक अनूठापन भी है।

संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्वों का प्रयोग नाटक में स्थान-स्थान पर हुआ है। उक्त कथोद्घात ही इनकी स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। इन्हीं से बाह्य संघर्ष की उभरता है। इस नाटक में अनेक गीतों की व्यवस्था की गयी है। गीतों का परिचय अंक, दृश्य तथा गायक सहित एक रेखाचित्र में स्पष्ट किया जा रहा है --

अंक	दृश्य	गायक	अंक	दृश्य	गायक
१	२	कमला	२	८	कमला
१	३	मालती	३	५	सम्मिलित
२	१	कमला			
२	५	सम्मिलित			

इस प्रकार सात गीत 'उद्धार' नाटक में हैं। गीत कथावस्तु से सम्बद्ध हैं और चरित्र के आन्तरिक पक्ष का भी उद्घाटन करते हैं। नाटकीय मनोविज्ञान के अनुकूल उनके ये नाटक ओजगुण सम्पन्न हैं। उनसे उत्साह, देश प्रेम तथा बलिदान की भावना उदय होती है।

'प्रेमी' जी का 'उद्धार' नाटक अभिनय सम्बन्धी सभी नियमों का पालन करता है। दृश्यविधान आधुनिक मंच के उपयुक्त है, पर इसके लिए दृश्यपटों की सहायता अपेक्षित है। अतः नाटक अभिनेय है।

स्पष्ट है कि प्रेमी जी के नाटककार का व्यक्तित्व मध्यकालीन भारत का चित्र उपस्थित करता है। वह सम्पूर्ण बात सविस्तार कहता है और इस विस्तार में उसकी मौलिकता समाप्त नहीं होती। वे अपनी आलंकारिक भाषा में वक्रोक्ति द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

इन विशिष्टताओं के साथ उनमें कुछ दोष भी हैं। उनकी कला का प्रदर्शन असाध्य है। किन्तु उसके विचारों में आदर्श,मातृप्रेम तथा मानवतावादी गुण हैं। इसीलिए दृश्य नाटक लेखकों में उनका अपना महत्व है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत "वत्सराज" नाटक

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह नाटक ऐतिहासिक वृत्त पर लिखा गया है। इसमें महाराज उदयन की कथा वर्णित है। वासवदत्ता की राय से मन्त्री यौगन्धरायण ने उनके अग्नि प्रवेश की बात का प्रचार कर दिया है। यह नाटकीय कार्य इसीलिए किया गया ताकि महाराज अपना विवाह पद्मावती से कर सकें। इस प्रकार महाराज का मन शान्त हुआ और राज्य में सुख-समृद्धि बढ़ी। वासवदत्ता बाद को प्रकट होती है तो नाटकीय वस्तु में चमत्कार उत्पन्न होता है। वासवदत्ता भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धालु है। इससे पद्मावती को जलन है। वह उदयन की क्रोधाग्नि का शिकार वासवदत्ता को बनाने का षड्यन्त्र रचती है। इस कथानक पर अन्य लोगों ने भी नाटक लिखे हैं। मिश्र जी ने इस राजपरिवार के पारिवारिक विग्रह को परिवर्तित कर दिया है। उन्होंने पद्मावती को पुत्रवती दिखाकर वासवदत्ता का त्याग प्रकट किया है। इस प्रकार सभी चरित्रों की रक्षा हुई है। बौद्धमत के प्रति उदयन का विरोध उचित है। नाटकीय कथावस्तु में अनेक मोड़ हैं,जिनके सम्पन्न करने में नाटककार की सफलता प्रकट होती है।

दृश्यक्रम

नाटक में तीन अंक ही दृश्य हैं। प्रथम दृश्य अवन्तीनरेश महासेन के प्रासाद कक्ष में घटित होता है, जहां वत्सराज उदयन बन्दी हैं। इस अंक की मंचीय सामग्री भी स्वाभाविक और उपयुक्त रखी गयी है। दूसरे और तीसरे दृश्य कौशाम्बी में घटते हैं। तीसरे दृश्य में राजसिंहासन की योजना है। मंच पर राजसिंहासन सजा है, पर उदयन नीचे ही बैठकर वीणा सम्धान करते हैं। वहीं राजकुमार उन्हें प्रणाम करता है। रानियां

आशीर्वाद की मुद्रा में खड़ी होती है,तभी पर्दा गिरता है । स्पष्ट है कि दृश्य विधान रंगमंच के अनुकूल है ।

पात्र योजना

नाटक में नौ पात्र कथावस्तु से सम्बन्धित हैं । कौशाम्बी के तीन श्रेष्ठी सूच्य रूप में रखे जा सकते हैं,क्योंकि वे कथावस्तु से सम्बद्ध नहीं रहते हैं । नाटक में चार स्त्री पात्र हैं । वासवदत्ता,पद्मावती, मदिरा और कांचनलता । चारों का कथावस्तु के साथ पूर्ण सम्बन्ध है । पद्मावती और वासवदत्ता के चरित्र तो इस नाटक में प्राण प्रतिष्ठा ही करते हैं।

चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक रखा गया है.। चरित्रों के विकास में नाटककार ने यत्किंचित् परिवर्तन भी किये हैं । इस प्रकार कथानक की संघर्षपूर्ण स्थितियाँ शान्त हो गयी हैं । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'वत्सराज' नाटक अभिनेय है ।

सम्वाद

नाटक का सबसे शक्तिशाली तत्व सम्वाद है । सम्वादों के माध्यम से ही कथानक विकसित होता है और चरित्रों का विकास होता है । अन्य सभी नाटकीय परिस्थितियाँ भी सम्वादों की सहायता से ही उत्पन्न होती हैं । अत: नाटक में सम्वादों की योजना भाषा और शैली की दृष्टियों से स्वाभाविक तथा नाटकोपयोगी रखनी चाहिए । 'वत्सराज' नाटक के संलाप संक्षिप्त पात्रानुकूल और नाटकीय रखे गये हैं ।

अंक प्रथम में उदयन-वसन्तक,महासेन-उदयन,उदयन-यौगन्धरायण और वासवदत्ता-उदयन के सम्वाद अधिक स्वाभाविक तथा जीवन्त हैं । नाटक में प्रत्येक पात्र अपने व्यक्तित्व की गरिमा रखता है । अत: सम्वादों में विदग्धता तथा वाक्चातुर्य प्रकट हुआ है ।

उदयन -- "आपकी छाया छोड़कर जाना मैं नहीं चाहता ।

महासेन -- तुम्हारा यह बन्दी-गृह तुम्हारे चले जाने पर मेरा पूजा-गृह होगा । तुम दोनों के चित्र इन दीवारों पर मैं बनाकर यहाँ अपनी कामना की तुष्टि को नित्य आता रहूँगा ।"

उदयन का वासवदत्ता से प्रेम हो गया है तो वासवदत्ता के पिता महासेन की कठोरता गलकर बहने लगी है । यह परिवर्तन स्वाभाविक है । स्पष्ट है कि इस नाटक के संलाप पात्रों के मनोविज्ञान के आधार पर नियोजित हैं ।

द्वितीय और तृतीय अंकों के सम्वाद प्रथम की अपेक्षा कम नाटकीय हैं । प्रथमांक में जिन परिस्थितियों का संधान उपस्थित हुआ है उन्हीं का पर्यवसान अगले अंकों में है । इसी से सम्वादों में सरलता आ गयी है । 'वत्सराज' नाटक में संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के लिए अवकाश नहीं है । अनेक स्थल संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं, पर मिश्र जी वहाँ भी उन्हें उत्पन्न नहीं कर पाये हैं ।

वासवदत्ता उदयन के प्रेम में आसक्त है । वह हर परिस्थिति में उदयन का साथ देना चाहती है । उदयन के आग्रह पर वह माता-पिता एवं प्रेमी को मध्य में रखकर वासवदत्ता में अन्तर्द्वन्द्व का सृजन किया जा सकता था । इससे वासवदत्ता का चरित्र मनोवैज्ञानिक हो जाता और कथानक नाटकीय हो जाता । वासवदत्ता को बाद में पता चलता है कि वह माँ-बाप की इच्छा से ही उदयन के साथ आयी है । इस प्रकार इस स्थल को अधिक नाटकीय बनाया जा सकता था ।

कुमार बौद्ध धर्म में दीक्षित नहीं होना चाहता है । उसके विरोध का आभास प्राप्त हुआ था । अवसर आने पर वह शान्त रहकर बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाता है और बाद को गृहस्थी में प्रवेश करता है :- उसके स्वभाव में किस प्रकार परिवर्तन हुआ, इसका स्पष्टीकरण नहीं हुआ है । स्पष्ट है कि पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस नाटक में नाटकीय स्थलों के

नाटक में संस्कृत-परिपाटी पर विदूषक रखा गया है। वसन्तक इस नाटक में विदूषक है जो महाराज उदयन के मुँहलगा हैं और मनोरंजन करना ही उसका व्यापार है।

उपर्युक्त दोषों के रहते हुए भी यह नाटक मंचोपयुक्त है। प्रभाव की दृष्टि से भले ही नाटक शिथिल हो, पर इसे अभिनीत किया जा सकता है। इसकी इन्हीं विशेषताओं को देखकर इसे दृश्यनाटकों की कोटि में रखा गया है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

परिचय

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के अन्तर्गत नाटककार का व्यक्तित्व धीरे-धीरे विकसित हुआ है। उनका पहला नाटक 'जयपराजय' रंगमंचीय पद्धति पर लिखा गया था, किन्तु इस नाटक का मंचन असम्भव था। उन्हीं का मत है --" मैंने उसे (जयपराजय) लिखते समय रंगमंच का पूरा ध्यान रखा था ..... पर मैं तब भी जानता था और अब भी जानता हूँ कि वह शायद कभी पूरा का पूरा खेला जाय। खेलने के लिए उसे काफी संक्षिप्त करना पड़ेगा।"[1]

क्रमश: उनके नाटकों का दृश्य-विधान रंगमंच के निकट आता गया। उनके नाटकों में 'सेट' बहुत थोड़े परिवर्तन वाला रहता है। बीसों वर्षों का अन्तराल रहने पर भी 'सेट' में अधिक परिवर्तन उपस्थित नहीं होता --'अंजोदीदी' नाटक के प्रथम तथा द्वितीय अंक में बीस वर्ष का अन्तर है। प्रथम अंक का लड़का द्वितीय अंक में बाप बन गया है, पर दोनों

१- उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'स्वर्ग की झलक', भूमिका।

अंकों के दृश्यों का सैट बहुत कम परिवर्तित हुआ है ।

उनके सम्वाद,भाषा एवं चरित्रों का विकास सभी रंगमंच की सीमा में हैं । इसी से वे अभिनेय हैं । उनके नाटकों में यदि कुछ अभाव परिलक्षित होता है तो वह भाषा तथा मनोविज्ञान का है । उनके पात्र परिस्थितियों के प्रभाव में आते हैं, पर उनमें संघर्ष तथा द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होता । वे या तो अपने संस्कारों को दबा लेते हैं अथवा परिस्थितियां उनपर प्रभाव नहीं डाल पाती और संस्कारों से आक्रान्त वे अपना जीवन बिताते हैं । प्रमुख रूप से "अश्क" के स्त्री पात्र अत्याधिक दबे हुए हैं । भाषा के सम्बन्ध में उनमें साहित्यिक सुरुचि का अभाव है । भाषा पात्रानुकूल तथा मनोविज्ञान सम्मत है, पर उसमें आकर्षण नहीं है ।

सामाजिक कथावस्तु पर आधारित "अश्क" के नाटक यदि साहित्यिक स्तर की भाषा तथा संघर्ष -अन्तर्द्वन्द्व समन्वित होते तो वे हिन्दी नाट्य साहित्य में श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ होते । अपने वर्तमान रूप में भी वे हिन्दी नाट्य साहित्य की एक कमी को पूरा करते हैं । उनके नाटकों पर "नलिन" के विचार इस प्रकार हैं --"प्रभावशाली प्रारम्भ तथा अन्त से "कैद" "उड़ान" ,"स्वर्ग की झलक" और "छठा बेटा" सभी नाटक श्रेष्ठ हैं । "कैद" के अन्त में अप्पी का सिसकना,"छठा बेटा" में बसन्तलाल का "हाय मेरा छठा बेटा" कहते हुए करवट बदलना, उड़ान में माया का बिजली की गति से प्रस्थान आदि चिर स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं । "कैद" और "छठा बेटा" का अन्त तो हृदय पर सघन छाया डाल जाता है ।[1]

स्पष्ट है कि "अश्क" के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग कुशल कुशलतापूर्वक किये गये हैं । उन्होंने अधिकतर सामाजिक नाटकों की ही रचना की है ।

१- जगनाथ "नलिन" :"हिन्दी नाटककार",पृ०२१२

नाट्य-कृतियां

"अपराजिता", "स्वर्ग की झलक", "कैद और उड़ान" "भंवर", "अलग अलग रास्ते", "छठा बेटा", "आदि मार्ग", "पैंतरे" और "अंजोदीदी" अश्क जी की नाट्य-कृतियां हैं। यहां उनके नाटक "अंजोदीदी" तथा "छठा बेटा" का अध्ययन किया जा रहा है :

"अंजोदीदी" नाटक

वस्तु संगठन

संस्कार प्रधान स्त्री अंजोदीदी नाटक की प्रधान पात्र है। कथावस्तु इसके ही आस पास घूमती है। अंजोदीदी को अपने नाना से हर काम समय से तथा करीने से करने की आदत विरासत में मिली है। वह अपने पति इन्द्रनारायण तथा पुत्र नीरज को घड़ी की सुइयों की भांति घुमाती है। नौकर चाकर तो उसकी इच्छा की पूर्ति भर हैं। अंजो का भाई श्रीपत इस घड़ी का चलना एक दिन रोक देता है। वह स्वतन्त्र प्रकृति का पक्षपाती है। अंजो उसे "क्रैंक" कहती है। श्रीपत की संगत से इन्द्रनारायण शराब पीने लगते हैं। अंजो इसका विरोध करती है। वह शराबी पति की पत्नी नहीं रह सकती। कोई उपाय न देखकर वह आत्महत्या कर लेती है। प्रथम अंक की कथावस्तु यहीं रुकती है।

दूसरे अंक में नीरज की पत्नी ओमी अंजो के स्थान पर है। वह भी अंजो की भांति ही सब कुछ चलाना चाहती है। नीरज अब पिता हो गये हैं। उनका स्थान नीलू ने ले लिया है। इन्द्रनारायण अब हो गये हैं। ओमी का प्रभाव राजीव पर तो नहीं चलता, पर नीलू को वह अपने मन के अनुसार ढालती है। बीस बरस बाद इस अंक में श्रीपत पुनः आता है। वह पुनः व्यवधान उपस्थित करता है। इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी कथावस्तु संगठित है।

दृश्य विधान

नाटक में दो अंक हैं। दोनों दृश्य इन्द्रनारायण की कोठी के शानदार हाल में घटते हैं। यह हाल डायनिंग रूम तथा ड्राइंग रूम दो भागों में विभाजित है। डायनिंग कक्ष में एक बड़ी मेज तथा छ: कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। दूसरे दृश्य में श्रीपत डाइनिंग कक्ष में सोता है। तीसरा दृश्य भी वहीं स्थल पर अभिनीत होता है। दूसरा अंक बारह वर्ष बाद इसी स्थल पर खुलता है। इसमें विशेष अन्तर नहीं आया है। अंजों का एक बड़ा-सा चित्र टंगा है, जो परिवर्तन की सूचना देता है। तीसरे अंक में कुछ शीशी-बोतल एकत्रित हैं। मंच सामग्री सहज तथा मंचन की दृष्टि से युक्तियुक्त है।

दृश्यविधान के साथ ही नाटक में कुछ अभिनयात्मक दृश्य ऐसे हैं, जो प्रभाव की दृष्टि से अविस्मरणीय हैं। उनका उल्लेख यहाँ करना उचित है -- श्रीपत का इन्द्रनारायण से लिपटना, राजीव तथा उसी प्रकार अंक दो में नीरू को श्रीपत द्वारा गले लटकाना, मेज पर चादर सिर के नीचे रखकर नंगे बदन सोना, नीरज-निर्निमेष अपनी पत्नी ओमी की ओर देखना तथा ओमी के चुप होते ही ठहाका लगाना अभिनय की दृष्टि से प्रभावशाली है।

पात्र-संयोजन

पात्रों की संख्या अधिक नहीं है, पर एक समस्या अवश्य है। प्रथम अंक में अंजोदीदी, अनिमा, मुन्नी, इन्द्रनारायण, श्रीपत, राजू तथा ग्यारह वर्ष की अवस्था का नीरज कुल छ: पात्र हैं। द्वितीय अंक में इन्द्रनारायण श्रीपत, राजू, अनिमा तथा मुन्नी ये पांच पात्र प्रथम अंक के ही हैं। इन्हें रूपसज्जा द्वारा बीसवर्ष की अधिक आयु वाला दिखाया जाना है। नीरज के स्थान पर एक नयापात्र रखना है तथा नीरज की भूमिका करने वाला अभिनेता नीरू की भूमिका थोड़े से परिवर्तन के पश्चात् निभा सकता है। नवीर

प्रथम अंक में अनिमा एक स्त्री पात्र रखा गया है । नाटककार ने इस पात्र को स्पष्टरूप से उभार कर प्रदर्शित नहीं किया । वह अंबी की बहिन प्रतीत होती है । दूसरे अंक में भी वह है, पर उसका व्यक्तित्व कुछ भी प्रकट नहीं होता । नजीर नीरज का मित्र है । उसका चरित्र भी स्पष्ट नहीं है। चपरासी को भी नाटककार कथावस्तु में सहायक के रूप में रख सका है । नाटक में सभी पात्र कथावस्तु के साथ पूर्णरूपेण सम्बद्ध नहीं हैं । पात्र योजना में थोड़ी असावधानी है, पर नाटक की अभिनेयता इससे बाधित नहीं होती ।

सम्वाद - विधान

'अश्क' जी ने इस नाटक में सम्वाद -योजना रोचक रखी है । आरम्भ में ही अनिमा और अंबी में इन्द्रनारायण की शादी के बाद की आदत को लेकर जो बातचीत होती है, वह आकर्षक तथा नाटकीय है । इससे पात्रों का स्वभाव स्पष्ट होता है साथ ही उद्देश्य की पूर्ति होती है । श्रीपत के प्रवेश के पश्चात् सम्वादों की गत्यात्मकता तथा स्फूर्ति देखते ही बनती है । श्रीपत के सम्वादों का एक उदाहरण दृष्टव्य है---

'अरे दीदी , तुम तो व्यर्थ में गृहस्ती की चक्की से अपना माथा फोड़ रही हो तुम्हें तो सेना में कैप्टेन या छोटी मोटी लेफ्टिनेण्ट होना चाहिए था ।'

श्रीपत अपनी आदत का अंबी से अन्तर स्पष्ट करता हुआ कहता है ---

'तुम कुछ जानती हो दीदी तुम्हें मखमल के गदेलों पर नींद न आती थी और हम टूटी चारपाई पर सो जाया करते थे । तुम्हारे कमरे के पास से भी कोई गुजरता तो तुम्हारी नींद उचट जाया करती थी और हमारे कानों के पास ढोल भी बजते तो हमें खबर न होती । तुम्हारी कसम , मैं तो यहां से भी सो जाता, पर भीड़ कम्बख्त इतनी थी कि एक बार जाकर

बैठा तो उठकर कमर भी सीधी न कर सकता सका[1]।"

अंबली -- "सदाचार तो तुम्हें छू नहीं गया श्रीपत, मेरी नौकरानी पर ही डोरे डालने लगे।"

मुझे क्या मालूम था कि तुम झंझा की तरह आओगे और तूफान की तरह चले जाओगे।"

श्रीपत -- (हंसता है) भगवान् ने चाहा तो फिर आऊंगा अंबो दीदी और ठूंठ की तरह टिक कर बैठूंगा। अच्छा नमस्ते।"

नाटककार ने सर्वत्र सम्वादों की अभिव्यक्ति में पात्रों की सजगता प्रकट होती है। दूसरे अंक में ओमी और अनिमा उसी प्रकार बातचीत करती हैं, जिसप्रकार प्रथम अंक में अंबली और अनिमा करती थीं। दोनों अंकों का सम्बन्ध एक ही दिशा में विकसित करने का प्रयास किया गया है।

सफल मंजे हुए नाटककार की लेखनी से निःसृत इस नाटक के सम्वाद पटुता और विदग्धता से परिपूर्ण हैं और अभिनेय गुणों से भरपूर हैं।

संघर्ष-द्वन्द्व

नाटक में जीवनी शक्ति का संचरण करने में संघर्ष-द्वन्द्व का विशेष महत्व है। नाटक में दो विरोधी स्वभाव के पात्रों के मिलने पर संघर्ष उत्पन्न होता है। "अंबोदीदी" नाटक में अंबली का स्वभाव सभी से विपरीत है। वह अन्य सभी पात्रों पर अपने स्वभाव की छाप देखना चाहती है। पारिवारिक शान्ति के लिए सभी पात्र अंबली के आगे आत्म समर्पण कर देते हैं। श्रीपत का स्वभाव अंबली से विपरीत है और उसमें स्थायित्व है। इसी अवसर पर इस नाटक में संघर्ष उत्पन्न होता है।

1- "अंबोदीदी", अंक 1, दृश्य 1, पृ० 63।

अन्तर्द्वन्द्व पात्र के संस्कार तथा प्रभाव में साम्य उपस्थित न होने पर उत्पन्न होता है। श्रीपत के सम्पर्क से हन्द्रनारायण शराब पीने लगते हैं। अंजली में इसकी आन्तरिक प्रतिक्रिया होती है। वह संस्कार प्रधान स्त्री है। अत: वह अपने को संभाल नहीं पाती और आत्महत्या करती है।

इस प्रकार संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व दोनों के लिए जितनी अच्छी स्थितियां नाटक में उपस्थित हुई, उतनी कुशलता से उनका निर्वाह नहीं हो सका। अच्छे प्रथम श्रेणी के साहित्यिक अभिनेय नाटक के लिए उपयुक्त भूमि पाकर भी संघर्ष-अन्तर्द्वन्द्व का अंकुर पनप नहीं पाया -उसे ही मुरझा गया।

रंग संकेत

'अंधी दीवारें' नाटक में सक्रिय तथा निष्क्रिय दो प्रकार के रंग संकेत हैं। सक्रिय रूप में अभिनय के भेदों के अनुसार ही आंगिक तथा सात्विक रंग निर्देश होते हैं। इस नाटक में आंगिक अभिनय उभारने वाले संकेत ही अधिक हैं, जिनको निम्न प्रकार से रखा गया है --'सहसा मुड़कर, उउपेक्षा से , प्रशंसा से झुककर, मुंह बनाकर, अतीव घृणा से, हताश भाव से, कुर्ता उतारकर , कुर्सी पर लटका देता है, उसे बाहों में उठाकर ,तथा अलसाकर टांगें नीचे करते हुए आदि। सात्विक अभिनय उभारने वाले सक्रिय संकेतों के रूप... गद्गद् होकर कलकर लगभग चीखते हुए, दीर्घ नि:श्वास लेकर तथा ध्यान से अम्मा को देखता है आदि।

निष्क्रिय संकेत पात्रों के स्वभाव को प्रकट करने के लिए नाटककार द्वारा स्वयं दिये गये हैं। हन्द्रनारायण के लिए नाटककार ने लिखा --'वकील हैं मैं आखिर। इस प्रकार के रंग निर्देशों के अतिरिक्त प्रवेश प्रस्थान तथा रंगमंच की सामग्री के सम्बन्ध में भी अनेक संकेत रखे गये हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि यह नाटक पूर्ण अभिनेय है। दृश्य विधान की नयी विधा का प्रयोग कर नाटककार ने नाटक के लिए सहजता प्रदान की है। प्रथम तथा द्वितीय अंक एक से हैं और दो दृश्यों के बीच में एक छोटा दृश्य है। नाटक की अभिनेयता निर्विवाद है।

छठा बेटा' नाटक

परिचय

अश्क' जी का यह नाटक भी उनके अच्छे अभिनेय नाटकों में है। इसका दृश्यविधान सरल तथा नाटकीय है।

दृश्य-विधान

नाटक में पांच अंक की दृश्य हैं। प्रथम दृश्य का पर्दा डा० हंसराज के मकान के बरामदे में उठता है। बरामदे से लगे कुछ कमरों में स्नानघर, रसोई तथा अध्ययन-कक्ष है। इसमें मंच सज्जा और मंच सामग्री का निर्देश किया गया है। मध्यम वर्गीय व्यक्ति के घर का दृश्य है। अत: साधारण सजावट ही रखी गयी है। दूसरे दृश्य में पं० बसन्तलाल की सोते हुए एक झलक दिखलायी गयी है। तीसरा दृश्य पूर्व स्थान पर ही खुलता है। वहाँ कमाई-धुनाई का वातावरण रखा गया है। चौथा दृश्य भी इसी स्थान पर घटता है। इस दृश्य में दो-चार कुर्सियां, शराब पीने की सामग्री तथा तम्बाकू-चिलम का सामान रखा गया है। पांचवां दृश्य पूर्व स्थान पर ही प्रकाशहीन स्थिति में खुलता है। पूर्व परिचित पात्र छाया रूप में आते हैं और निकल जाते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय दृश्य में धुंए को मंच पर दाना जाते बताया गया है। यह दृश्य कृत्रिम धुंए को रखकर प्रदर्शित किया जाता है।

अभिनयात्मक स्थायी प्रभाव वाले दृश्य भी नाटक में

रखे गये हैं। दो -एक उदाहरण दृष्टव्य हैं -- प्रथम दृश्य में डा० हंसराज को पता चलता है कि उनकी पत्नी ने उनके शराबी पिता को दस रुपये का नोट बाटा लाने को दिया है तो उनकी मुद्रा स्पष्ट करते हुए नाटककार ने अच्छा दृश्य-चित्र उपस्थित किया है[1]। डा० हंसराज तथा गुरुनारायण का टहलते-टहलते टकराना तथा नौकरों का काम करते-करते बाहर निकलना आदि दृश्य भी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। चतुर्थ दृश्य में पैसे के लालच से पुत्रों का पिता की आज्ञा के अनुसार आचरणपूर्ण नाटकीय चमत्कार युक्त तथा प्रभावशाली है। दृश्यविधान तथा दृश्यचित्रों की अवतारणा से नाटक अभिनेय होने का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

पात्र-योजना

"बूढ़ा बेटा" नाटक में दस पुरुष तथा दो स्त्री पात्र हैं। डा० हंसराज तथा पं० बसन्तलाल मुख्य पात्र हैं। हरिनारायण, कैलनारायण, कैलाशपति, गुरुनारायण, डा० हंसराज के अन्य चार भाई हैं। यह यहां सहायक पात्रों के रूप में आते हैं। बाबा बामनराम भी मुख्य कथावस्तु से सम्बद्ध पात्र है। पं० बसन्तलाल की पत्नी तथा डा० हंसराज की पत्नी का सम्बन्ध भी मुख्य कथावस्तु से है। इन महिला पात्रों से नाटक में जीवनीशक्ति का संचरण हुआ है। दीनदयाल का व्यक्तित्व नाटक में एक स्वार्थी व्यक्ति के रूप में रखा गया है। यह पात्र मुख्य कथावस्तु से अधिक सम्बद्ध नहीं है। हरिचरण तथा मुन्नू दोनों नौकर भी अधिक अच्छा प्रभाव नहीं उत्पन्न करते। दो के स्थान पर एक नौकर से भी कार्य चल जाता।

१- (अचानक उठकर और दोनों मुट्ठियां इकट्ठी भींचकर महान विटप की भांति झूलते हुए कन्धों पर जोर देते हुए)"।

सम्वाद -योजना

यद्यपि इस नाटक के सम्वाद अधिक प्रभावपूर्ण तो नहीं हैं, पर नाटकीय हैं। "अंजोदीदी" के सम्वादों की भाँति इस नाटक के सम्वाद साहित्यिक स्तर के नहीं हैं। मध्यमवर्गीय परिवार के दैनिक जीवन का उद्घाटक यह नाटक अपने स्तर के अनुरूप ही सम्वाद रखता है। चचा बामनराम तथा डा० हंसराज में पं० बसन्तलाल के विषय में चर्चा चलती है। इसी समय गुरुनारायण प्रवेश करता है। वह पं० बसन्तलाल की आदत से अपनी आदत की तुलना करता है। व्यंग्यार्थ शैली में यह कथन एक अच्छा उदाहरण है --

"वे मूँछें रखते हैं जिनपर नींबू टिक सके और हमारे ऐसा भी मालूम नहीं पड़ता कि हम ने उन्हें कभी पैदा भी किया था। वे सिर घुटाकर रखते हैं चटियल मैदान की भाँति और हम दो-दो महीने तक इस मामले में नाई को कष्ट नहीं देते। वे कमीज और तहमद पहने अनारकली में घूम सकते हैं और हम सोते समय भी सूट उतारने से हिचकिचाते हैं।"[1]

इसी प्रकार देव, हरिनारायण तथा कैलाश भी अपने पिता पं० बसन्तलाल को अपने पास नहीं रखना चाहते। देवनारायण इसका कारण इस प्रकार प्रकट करता है --" और फिर रात को उनपर गाने की धुन सवार होती है। एक बार मुझसे कहने लगे तुम गाओ जब मैं गा क्या गाता विवश हो चिंघाड़ने लगा। आँखों में मेरी आँसू भर आये। कहने लगे अच्छा गाते हो। प्रैक्टिस जारी रखो तुम्हें लखनऊ के म्यूजियम कालेज में भरती करा देंगे।"

द्वितीय बार में पं० बसन्तलाल तथा उनके लालची बेटों के बीच के सम्वाद भी विदग्ध हैं। इस नाटक में सम्वाद वक्ता के निकट हैं।

१- प्रथम दृश्य प्रारम्भ में

एक पात्र दूसरे का स्वभाव प्रकट करने के लिए अथवा अपनी सफाई देने के लिए ही वक्तव्य देता है । यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि "छठा बेटा" नाटक के सम्वाद वक्तृता के निकट होकर भी क्रियाशीलता को उभारते हैं । उनकी क्रिया से मंच संवर जाता है ।

संघर्ष-द्वन्द्व

नाटकमें सत्वरता तथा पात्रों के मानसिक उद्वेलन को प्रकट करने के लिए संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्वों का महत्व है । नाटक की कथावस्तु में संघर्ष की सम्भावना कम है । पात्रों में संघर्ष का अवसर है,पर वह विकसित नहीं हो पाता है । पं० बसन्तलाल को रखने के लिए कोई लड़का तैयार नहीं है । बासनराम के समक्ष सभी अपना विरोध प्रकट करते हैं, पर यह संघर्ष एकदम ठण्डा है । दस रुपये के नोट के पीछे डा० हंसराज तथाउनकी पत्नी कमला में संघर्ष की स्थिति आती है । यह स्थिति अधिक प्रभावशाली नहीं है ।

इ अन्तर्द्वन्द्व के लिए पं० बसन्तलाल तथा माँ दो पात्र उपयुक्त हैं । पं० जी शराब के नशे में सब भुला देते हैं तथा माँ का व्यक्तित्व इतना सहनशील है कि उसमें कोई प्रतिक्रिया जन्म ही नहीं लेती । उसमें यदि द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न भी होती है तो उसे वह प्रकट नहीं होने देती । सभी की इच्छाओं के लिए कार्यरत रहना भी माँ का कार्य है । अतः उसका अन्तर्द्वन्द्व ग्रीष्म में तालाब के जल की भाँति सूख गया है ।

"अश्क" के पात्र परिस्थितियों से समझौता करके तथा सहनशीलगुणों के कारण सीधी रेखा में विकास पाते हैं । यही कारण है कि उनमें संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती है ।

रंग सूचनाएं

मंच व्यवस्था के लिए नाटककार ने टिप्पणियां दी हैं । पात्रों के चरित्र के विषय में भी उसने अपनी व्यक्तिगत राय प्रकट की है ।

यह गुण 'अश्क' के उपन्यासकार के व्यक्तित्व के कारण आया है । इससे पात्रों के चरित्र के विषय में ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है, पर अभिनय में किसी प्रकार का विकास नहीं होता है[1]।

दूसरे संकेत अभिनय के विभिन्न रूपों में क्रियाशीलता उत्पन्न करने के लिए रखे गये हैं । उदाहरण के लिए कुछ संकेत इसप्रकार हैं-- 'जेब से कुंजियों का गुच्छा निकाल कर उसे अंगुलियों पर घुमाते हुए, हरचरण रसोई से प्लेट धोते-धोते आता है, रदा जमाते हुए तथा हुक्का गुड़गुड़ाते हुए आदि आंगिक क्रियाएं उभारने वाले रंग संकेत हैं । सात्विक अभिनय से सम्बन्धित संकेत भी हैं, जिनको इस प्रकार रखा गया है--'कमला अवाक् खड़ी रह जाती है, तन्द्रिल पलकें उठाकर आदि।

अभिनेय नाटक में जिस प्रकार की क्रियाशील रंगसूचनाएं अपेक्षित रहती हैं, इस नाटक में रखी गयी हैं ।

फलत: नाटक अपना प्रभाव मनोवैज्ञानिक रूप में छोड़ता है । अच्छे साहित्यिक रूप में उसका महत्व नहीं है । जैसे कोई सिद्धहस्त पुरुष कुछ काल के लिए अपनी कला से लोगों को प्रभावित कर ले, पर रस विभोर न कर पाये । यह नाटक दर्शकों के भावोद्वेलन को सन्तोष देने वाला है, उद्भूत करने वाला नहीं । नाटक जब तक दर्शकों की सूक्ष्म तन्त्रियों को झंकृत करने में समर्थ नहीं होता उसे सफल नाटक नहीं कहा जा सकता । 'छठा बेटा' सफल अभिनेय नाटक है, पर उसे हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यिक अभिनेय नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।

हम कह चुके हैं कि 'अश्क' जी का नाटककार समाज की दैनिक जीवन की घटनाओं को ही अपना वर्ण्य विषय बनाता है । वह अपनी

१- जैसे वे डा० विधानचन्द्रराय से क्या कुछ कम हैं ?''भाभी' आई०ए०एस० आदि ।

बात सोचने में अधिक दक्ष नहीं, पर प्रकट करने की कला में प्रवीण है। सम्भावनाएं होने पर भी वह संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट नहीं करता। परिस्थितियों से समझौता करने में उसका विनोदी व्यक्तित्व सिद्धहस्त है। उसकी स्त्रियां करुणामयी हैं। वह अपनी बात बहुत कम साधनों से प्रकट करना जानता है। समय के अन्तराल को युक्ति से जोड़ने में भी वह कुशल है। वह समाज की रूढ़ियों को तथा स्वभाव की आडम्बरपूर्ण आदतों को पूर्णरूप से समाप्त करना चाहता है। अतः यह स्पष्ट है कि अश्क जी अभिनेय सामाजिक नाटक लिखने में सफल कलाकार हैं।

स्पष्ट है कि हिन्दी के पास श्रेष्ठ अभिनेय नाटकों का भण्डार उतना विशाल नहीं है, जितना किसी समुन्नत भाषा और साहित्य के लिए अपेक्षित रहता है। हिन्दी भाषा अपनी महानता और गरिमा में विश्व की किसी भाषा से कम नहीं है। उसके कवियों में कवि कुल गुरु महात्मा तुलसीदास ने विश्वकवि की ख्याति पायी है, पर हिन्दी का कोई नाटककार तुलसीदास की तरह एवं संस्कृत के साहित्य-शिरोमणि कालिदास की भांति विश्वभर में ख्याति अर्जित करने में समर्थ कृति अभी तक न दे पाया। प्रगति की दिशाओं का अवलोकन करने से आशा बंधती है कि यह अभाव निकटभविष्य में पूरा हो सकेगा।

अध्याय - ६

हिन्दी नाटकों की नवीन विधाएं

अध्याय - ६

हिन्दी नाटकों की नवीन विधाएं

पृष्ठभूमि

साहित्य में नाटकों की विधा दृश्य काव्य होने के कारण एक सार्वजनिक विधा है । इससे यह स्पष्ट है कि नाटक का सम्बन्ध समाज से अविच्छिन्न रूप से चलता रहा है । जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होगा, वैसे-वैसे उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नाटक पर पड़ता रहेगा । यही कारण है कि इस देश में नाटकों की जो सृष्टि भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर आरम्भ हुई थी, आज उसका रूप पाश्चात्य नाट्यविधा से प्रभावित होकर परिवर्तित हो गया है । पहले जहां नाटक में रस ही सर्वोपरि था, वहां आज रस का स्थान मनोविज्ञान ने ग्रहण कर लिया है । इस भांति नाट्य-साहित्य अपने रूप में निरन्तर परिवर्तित होता रहा है ।

भारतेन्दु युग से लेकर आज तक नाटक पर जितने प्रभाव पड़ते रहे हैं प्राचीन नाट्यशास्त्र और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की सन्धि में होते रहे हैं । फिर भी कलाकार के दृष्टिकोण में विकास होने के कारण नाटक की शिल्पविधि में नये-नये रूप दृष्टिगत हुए या भविष्य में हो सकते हैं । इसी दृष्टिकोण को लेकर प्रस्तुत अध्याय के विषय का विवेचन किया जायगा ।

हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास परम्परा और प्रयोग का इतिहास है । आरम्भकालीन नाटक जहां परम्पराओं से प्रभावित होते रहे, वहां समय-समय पर उनमें अनेक परिवर्तन भी हुए । ये प्रयोग अधिकतर पाश्चात्य नाट्य साहित्य के सम्पर्क में आने पर दृष्टिगत हुए हैं । इसी कारण आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार कथावस्तु नायक निरूपण

र। विवेचन तथा शैली निर्धारण के सम्बन्ध में नाटक की विधा में विविध विचार उत्पन्न हुई हैं।

भारतेन्दु युग

सच्चे अर्थ में नाटक का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग से ही हुआ। भारतेन्दु के पूर्व लिखे जाने वाले नाटक केवल पौराणिक कथा सूत्रों पर ही लिखे गये। सामान्य रूप से पद्यबद्ध सम्वाद ही उनमें हैं। केशव का 'विज्ञानगीता', बनारसीदास का 'समयसार' और कविकृष्ण का 'प्रबोधचन्द्रोदय' प्रमाण रूप में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' और गोपालदास के 'नहुष' नाटक में पद्य के साथ गद्य का प्रयोग भी देखा जा सकता है। इस शैली को दृष्टि में रखते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं अपने पिता गोपालचन्द्र के नाटक 'नहुष' को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है, किन्तु नाटकों के वास्तविक रूप का आभास हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों से ही प्राप्त होता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुभाषाविद् थे। अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ ही साथ वे संस्कृत और अंग्रेजी में भी रुचि रखते थे। और जब उन्होंने हिन्दी में नाटक लिखने का श्रीगणेश किया तो वे भारतीय भाषाओं के नाटकों से भी अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते थे। उनके अनूदित नाटकों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वे नाटक विविध भाषाओं में लिखे गये नाटक हैं। संस्कृत से 'मुद्राराक्षस' प्राकृत से 'कर्पूरमंजरी' अंग्रेजी से 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' और बंगला से 'विद्यासुन्दर' नाटक अनूदित हुए हैं। यदि इन अनूदित नाटकों की विधाओं का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि संस्कृत और प्राकृत के नाटक संस्कृत नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गये हैं, बंगला का विद्यासुन्दर नाटक यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा में रखा जा सकता है, तथापि उसपर प्रकारान्तर से पश्चिमी

नाट्यशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है । उदाहरण के लिए 'विद्यासुन्दर' नाटक में संस्कृत नाट्यशास्त्र के आधार पर कोई पूर्व रंग नहीं है और नाटक का प्रारम्भ सूत्रधार और नट-नटी के वार्तालाप से भी हुआ है । प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक से ही कथावस्तु का प्रारम्भ हो जाता है --

राजा -- (चिन्ता सहित) यह तो बड़ा आश्चर्य है कि इतने राजपुत्र आये पर उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया । इन सब का राजवंश में केवल जन्म होता है, पर वास्तव में ये पशु हैं । जो ऐसा जानता तो अपनी कन्या की ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा न करने देता, पर अब तो उसे मिटा भी नहीं सकता । अब निश्चय हुआ कि हमारी विद्या की विद्या केवल शोककारिणी हो गयी । हा ! क्यों मन्त्री ! तुम कोई उपाय सोच सकते हो ?

कवि राजशेखर द्वारा लिखा गया शुद्ध प्राकृत भाषा का 'कर्पूरमंजरी सट्टक' संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा में ही लिखा गया ज्ञात होता है । इसका आरम्भ सूत्रधार और पारिपार्श्वक से होता है । इसकी विधा के विवेचन में सूत्रधार का कथन इस प्रकार है --

सूत्रधार -- 'ठीक है, सट्टक में यद्यपि विष्कम्भक प्रवेशक नहीं होते तो भी यह नाटकों में अच्छा होता है ।(सोचकर) तो भला कवि ने इसको संस्कृत में क्यों न बनाया, प्राकृत में क्यों बनाया ?

परि -- आपने क्या यह नहीं सुना है ?

जामें रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय ।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोई होय ॥

और फिर

कठिन संस्कृत अति मधुर, भाषा सरस सुनाय ।
पुरुष नारि अन्तर सरिस, इनमें बीच लखाय ॥'

इस भांति "कर्पूरमंजरी" सट्टक में प्राकृत की नाटकीय विधा का दिग्दर्शन यथासम्भव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने शब्दों में किया है ।

महाकवि विशाखदत्त रचित "मुद्राराक्षस" सम्पूर्ण रूप से संस्कृत नाट्य शास्त्र के आधार पर लिखा गया है । जिसमें वीर, अद्भुत और शान्तरस का सुन्दर परिपाक हुआ है । यहां तक कि आरम्भ में सूत्रधार और नटी के वार्तालाप में ही नाटक के रस तत्व और कथातत्व को प्रतीक रूप में उपस्थित कर दिया गया है । आरम्भ में मंगलाचरण ही इस प्रकार का है--

कौन है सीस पै, "चन्द्रकला" कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी
हां यही नाम है भूल गयो किम जानत है तुम प्रान पियारी
नारिहिं पूंछत चन्द्रहिं नाहिं कहै विजया यदि चन्द्र लबारी
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी

शेक्सपियर ने अपने नाटक में रस की अपेक्षा मनोविज्ञान को प्रमुखता प्रदान की है । वह नाटक के यथार्थ का मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करना चाहता था । अपने नाटक "मर्चेण्टआफ वेनिस" में शेक्सपियर ने "शाइलॉक" द्वारा एण्टोनियो की छाती का मांस काटने की एक रोमांचकारी परिस्थिति उत्पन्न की है । जिसका प्रतिकार पोर्शिया ने छद्मवेश धारण कर अपने बुद्धि-कौशल से सहज ही कर दिया । इस प्रसंग का अनुवाद भारतेन्दु

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र "भारतेन्दु नाटकावली" : "मुद्राराक्षस", पृ०१८७

धन्याकेयं स्थिता ते शिरसि शशिकला, किन्नु नामैत दस्याः ।
नामै वास्यास्त देतात्, परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ।
नारीं पृच्छामि नेन्दु, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-

ने निम्न प्रकार से किया है --

पुरशी -- इस सौदागर के शरीर का आधा सेर मांस तुम्हारा ही है, जिसे कि कानून दिलाता है और राजसभा देता है ।

शैलाक -- वाहरे न्यायी !

पुरशी -- और यह मांस तुमको उसकी छाती से काटना चाहिए, कानून इसको उचित समझता है और न्याय सभा आज्ञा देता है ।

शैलाक -- हे मेरे सुयोग्य न्यायकर्ता ! इसका नाम विचार है आओ प्रस्तुत हो ।

पुरशी -- थोड़ा ठहर जा, एक बात और शेष है, यह तमस्सुक तुझे रुधिर एक बूंद भी नहीं दिलाता, आधा सेर मांस यही शब्द स्पष्ट लिखे हैं । इसलिए अपना प्राण प्राप्ति कर ले अर्थात् आधा सेर मांस लेले, परन्तु यदि काटते समय इस आर्य्य का एक बूंद भी रक्त गिराया तो वेनिसनगर के कानून के अनुसार तेरी सब सम्पत्ति और लक्ष्मी व सामग्री राज्य में लगाली जायेगी ।

गिरीश -- वाहरे विवेकी ! सुन जैन हे मेरे सुयोग्य न्यायी ।

शैलाक -- क्या यह कानून में लिखा है ?

पुरशी -- तुझे आपका कानून दिखला दिया जायगा, क्योंकि जितना तू न्याय पुकारता है, उससे अधिक न्याय तेरे साथ बरता जायगा ।

गिरीश -- आहा ! वाहरे न्याय ! देख जैन कैसे विवेकी न्यायकर्ता हैं ।

शैलाक -- अच्छा, मैं उसकी प्रार्थना स्वीकार करता हूं । तमस्सुक का तिगुना लेकर वह अपनी राह ले ।

बसन्त -- ले ये रुपये हैं ।

पुरश्री -- ठहरो, इस जैनी के साथ पूरा न्याय किया जायगा, थोड़ा धीरज धरो, शीघ्रता नहीं है, उसे द्रव्य के अतिरिक्त और कुछ न दिया जायगा ।

गिरीश -- ओ जैनी देख तो कैसे धार्मिक और योग्य न्यायी हैं । वाह ! वाह !

पुरश्री -- तो अब तू मांस काटने की प्रस्तुतियां कर, परन्तु सावधान, स्मरण रखना कि रक्त नाम को भी न निकलने पावे और न आधा सेर मांस से न्यून व अधिक कटे । यदि तूने ठीक आधा सेर से थोड़ा भी न्यूनाधिक काटा, यहां तक कि यदि एक रत्ती के दसवें भाग का भी अन्तर पड़ा, वरंच यदि तराजू की डण्डी बीच से बाल बराबर भी इधर-उधर हटी तो तू जी से मारा [1]जायगा और तेरा सब धन और न्याय छीन लिया जायगा ।

उपर्युक्त उद्धरण से देखा जा सकता है कि इसमें बुद्धि, वैभव से मनोवैज्ञानिक हठ का एक सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है ।

भारतेन्दु की इस अनुवाद-शैली से ज्ञात होता है कि उन्होंने नाट्यविद्या की अनेक शैलियों से परिचित होकर हिन्दी में नाट्य साहित्य का प्रारम्भ किया । उनकी इन शैलियों को तीन मार्गों में विभाजित किया जा सकता है --

१- संस्कृत नाट्य शास्त्रीय शैली ।

२- पाश्चात्य नाट्य शास्त्रीय शैली ।

३- दोनों की सन्धि में हिन्दी की प्रकृति से उत्पन्न एक नवल शैली ।

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारतेन्दु नाटकावली' -'दुर्लभबन्धु' ,पृ०२२३ ।

अधिक तर भारतेन्दु युग में जो यह तासरी नाट्यशैली प्रचलित हुई, उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस तासरी शैली का ही नाटककारों ने अनुसरण किया ।

व इस समय भारतेन्दु के अनुसरण पर विदेशी भाषाओं से अनेक नाटकों के अनुवादहोने प्रारम्भ हुए । अनेक नाटक लिखे गये । इस प्रवृत्ति को ही व्यवसाय बनाकर अनेक व्यावसायिक मंच संस्थाएं निर्मित हुईं, जिनमें पारसी थियेट्रिकल कम्पनियां इस क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं । इन कम्पनियों के मालिक अधिकतर पारसी थे और कार्यकर्ता मुसलमान । इस कारण ये अनुवाद उर्दू शैली में ही अधिक हुए । शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटक "हैमलेट" का अनुवाद "खूने नाहक" "कामेडी आफ एरर्स" का "भूल भुलय्या" रूप में किया गया तथा उर्दू शैली में "खूबसूरत बला" आदि नाटक लिखे गये । व्यवसायी संस्थाएं होने के कारण उनका ध्यान साहित्य की ओर कम था और धनार्जन की ओर अधिक । धन तभी अर्जित हो सकता है, जब जनता का मनोरंजन हो । इसलिए जनता के मनोरंजनार्थ इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन और मंचीय सज्जाओं के अंश नाटक में रखे गये, जो साहित्यिक सौन्दर्य से बहुत दूर थे । नाट्य साहित्य के इतिहास में इन पारसी नाट्य संस्थाओं से जहां नाटक का मंचीय रूप अधिक प्रकाश में आया, वहां दूसरी ओर साहित्यिक रुचि की हानि भी हुई । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की साहित्यिक कला को जैसे आगे पारसी रंगमंच से भारी व्याघात पहुंचा और नाटक की भूमिका धीरे-धीरे साहित्य विहीन होती चली गयी ।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पारसी नाट्य संस्थाओं ने नाटक को केवल मात्र साहित्य की मंजूषा से निकाल कर सार्वजनिक अभिरुचि का विषय बना दिया और नाटक दृश्यविधान के साथ एक बहुत बड़ी मंजिल पार कर गया । इस भांति यह देखा जा

होने के पूर्व हिन्दी नाटक ऐसी स्थिति में पहुंच गया जहां उसमें साहित्यिक सौन्दर्य अनुपात से बहुत कम रह गया और ऐसा ज्ञात होने लगा कि नाटक को यदि फिर से साहित्य की ओर नहीं लौटाया जायगा तो यह मात्र प्रदर्शन का रूप बनकर रह जायगा ।

द्विवेदी युग

महावीर प्रसाद द्विवेदी युग में नाट्यकला में विकास का कोई स्पष्ट लक्षण दिखलायी नहीं देता है । इस युग में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रारम्भ की गयी अनुवादों की परम्परा पूर्ववत् चलती रही । इन अनुवादों में उत्कृष्ट कृतियों का अभाव था, जो रंगमंच पर अवतरित होकर जन-साधारण का अनुरंजन कर सकीं । इस युग के अनुवादकों ने मूलभाषा की प्रकृति को बिना समझे ही अनुवाद कार्य कर डाला । इस काल में बंगला, अंग्रेजी तथा संस्कृत नाट्य साहित्य से अनुवाद कार्य किया गया । कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये, जिनमें ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक इतिवृत्तों को अपनाया गया है । इस युग में नाटक साहित्य को दिशा की ओर नहीं लौट सका ।

बंगला से अनुवाद

इस काल में नाटक अपनी भावात्मक और रूपात्मक पूर्णता के लिए प्रयत्नशील था । इसकी पूर्ति के लिए ही बंगला से अनुवाद किया गया । इस भाषा से हिन्दी में अनुवाद करने वालों में रूपनारायण पाण्डेय, रामकृष्ण वर्मा और गोपालराम गहमरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इन अनुवादकों ने बंगला नाटककारों में श्री द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीश बाबू और रवीन्द्र आदि की कृतियों के अनुवाद प्रस्तुत किये । इन अनुवादों में भावातिरेक पूर्ण सम्भाषणों का आधिक्य था । यह प्रवृत्ति बंगला-

साहित्य पर विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है । नाटकीय रचनाओं के विकास में इनका योगदान नाममात्र को कहा जा सकता है ।

अंग्रेजी से अनुवाद

द्विवेदी काल में शेक्सपियर के नाटकों से भी अनुवाद किये गये । शेक्सपियर के जिन नाटकों का अनुवाद द्विवेदी युग में किया गया वे नाटक, 'एज यू लाइक इट' मर्चेण्ट आव वेनिस' रोमियो जूलियट, मैकबेथ, हैमलेट और ओथेलो हैं । इन नाटकों में रोमियोजूलियट, ऐजयूलाइक इट और मर्चेण्ट आव वेनिस' का अनुवाद पुरोहित गोपीनाथ और लाला सीताराम ने किया है । इन नाटकों में सम्पूर्ण जीवन की छाया प्रस्तुत की जाती है, जिसमें कभी मनुष्य प्रसन्न होकर गाता है तो कभी वेदीक आंसू बहाता है । इन अंग्रेजी नाटकों से हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास में पर्याप्त सहयोग माना जा सकता है ।

संस्कृत से अनुवाद

इस काल में संस्कृत के 'कालिदास' 'हर्ष' और 'शूद्रक' के नाटकों का अनुवाद किया गया । अनुवादकों में श्री सत्यनारायण कविरत्न और लाला सीताराम के नाम विशेष महत्व के हैं । इन लोगों ने 'मालविकाग्निमित्र' 'मृच्छकटिक' 'नागानन्द' 'मालती माधव' 'महावीर चरित' और उत्तर रामचरित' नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया ।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि इस काल में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये । इन लेखकों में रायदेवीप्रसाद, 'पूर्ण' 'बद्रीनाथ भट्ट', माखनलाल चतुर्वेदी आदि के नाम प्रमुख हैं । इनकी रचनाओं पर अंग्रेजी, बंगला और संस्कृत नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है ।

राय देवीप्रसाद पूर्ण ने "चन्द्रकला भानुकुमार" नाटक लिखा है। इसका इतिवृत्त मध्ययुग के राजकुमार तथा राजकुमारियों से सम्बन्धित पूर्ण कल्पित है। यह नाटक केवल पठनीय है, रंगमंच के योग्य नहीं है। इसकी रचना संस्कृत नाट्यशास्त्र के आधार पर हुई है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसकी चर्चा इस प्रकार की है --

"नाटककार ने इसमें "प्राचीन समय के व्यवहारों का प्रतिबिम्ब" देने का प्रयास किया है, किन्तु कहीं-कहीं नाटक में जो वर्तमान युग के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है, उसमें काल दोष (ऐनाक्रोनिज्म) है। नाटक की रचना पूर्णतः संस्कृत के नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर हुई है। इस कारण इसका अन्त सुखमय है। लेखक की काव्य-प्रतिभा इस नाटक में अपने उत्कृष्ट रूप में देखने को मिलती है।"[1]

"पूर्ण" जी के इस नाटक में काव्यात्मक प्रवृत्ति सभी पात्रों में अधिक पायी जाती है। साधारण लोगों के लिए इसमें ग्राम्य भाषा का प्रयोग भी किया गया है।

बदरीनाथ भट्ट इस काल के प्रसिद्ध नाटककार हैं। भट्ट जी ने राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के इतिवृत्तों पर रचनाएं प्रस्तुत की हैं। उन्होंने गम्भीर तथा हास्य दोनों शैलियों का प्रयोग अपनी कृतियों में किया है। उन्होंने "कुरुवन दहन" (सन् १९१२), "चुंगी की उम्मीदवारी" प्रहसन तथा चन्द्रगुप्त नाटक (१९१४-१९१५ई०), "गोस्वामी तुलसीदास" चैनचरित्र, "दुर्गावती", "लबड़धोंधों", "विवाह विज्ञापन", "मिस अमेरिकन" कृतियों की रचनाएं द्विवेदी युग तथा बाद की की है। इनकी कृतियों पर द्विवेदी युग का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। "दुर्गावती" तथा "चन्द्रगुप्त" इनकी सफल नाट्य कृतियां हैं।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन", पृ०४७०

भट्ट जी ने इन कृतियों में पाश्चात्य नाट्य शैली का भी प्रयोग किया है। नाटक में सामान्यतः आदर्श की अभिव्यक्ति है। चन्द्रगुप्त में एक मित्र दूसरे के लिए अपना उत्सर्ग करता है। नाटक में चरित्र-चित्रण भी उभरा है। रानी,मन्त्री तथा सेनापति के चरित्र स्पष्ट हुए हैं, पर इस नाटक को भारतीय और पाश्चात्य किया भी शैली का आदर्श प्रयोग नहीं माना जा सकता।

चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में विकसित हुई थी। उसका पूर्ण विकास जयशंकर प्रसाद के नाटकों में हुआ। इनके नाटकों में बुद्धिवाद की भी प्रधानता परिलक्षित होती है। इस काल की रचनाओं में संस्कृत नाट्यशास्त्र पर आधारित रचनाओं का पूर्ण बहिष्कार तो नहीं हुआ, पर बहुत-सी मान्यताएं इस समय खोखली सिद्ध हो चुकी थीं। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में नान्दी, प्रस्तावना,मंगलाचरण आदि का होना आवश्यक था। इस काल के नाटकों में इनका बहिष्कार किया गया। संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना में ही नाटक की कथा का संकेत कर दिया जाता था,जो इस काल में अनुपयुक्त माना गया। रसोद्रेक संस्कृत नाटकों का प्रधान गुण था और प्रवेशक तथा विष्कम्भक द्वारा किसी बात का परिचय कराया जाता था। इसी प्रकार लम्बे स्वगत कथन तथा लम्बे अंक नाटक में रखे जाते थे। इस काल में इनका लोप हो गया। नाटकों में अभिनेयता का पर्याप्त विकास हुआ।

इस युग का सबसे उत्कृष्ट नाटक पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' है। इसमें रंगमंचीय शिल्प साहित्यिक सौन्दर्य के साथ अवतरित हुआ है। द्विवेदी युग के अन्य नाटककारों में श्री माधव शुक्ल, मिश्रबन्धु और पं०राधेश्याम कथावाचक हैं। इन लोगों की नाट्य शैली तथा नाट्य कृतियों पर भी यथास्थान विचार किया जा चुका है। श्री जयशंकर प्रसाद की नाट्यकृतियां भी इसी युग में प्रकाशित होने लगी

थीं, पर अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण उनपर अलग विचार करना उपयुक्त होगा ।

जयशंकर प्रसाद युग

जयशंकर प्रसाद ने नवीन नाट्य शैली में आदिम युगीन चरित्रों की समारोहमता रखा । उन्होंने अपने नाटकों का इतिवृत्त जनमेजय के काल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक रखा है । इस काल के सभी चरित्र जनमेजय, बुद्ध, अजातशत्रु, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन तथा पुलकेशिन् 'प्रसाद' के नाटकों में देखने को मिलते हैं । अपने कलापक्ष में प्रसाद जी ने स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं को ग्रहण किया है । संस्कृत नाटकों वर्जित दृश्य-युद्ध, विग्रह, प्रणय-प्रयास आदि को भी प्रसाद जी ने अपने नाटकों में स्थान दिया है । प्रसाद जी का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इनके नाटक रंगमंच पर नहीं खेले जा सकते । वे 'प्रसाद' जी मानते हैं कि रंगमंच का निर्माण नाटककार की रचनाओं के आधार पर होना चाहिए ।

प्रसाद जी के प्रमुख नाटक "अजातशत्रु" ,"चन्द्रगुप्त मौर्य तथा" स्कन्दगुप्त" हैं । इन नाटकों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यधिक पुष्ट है । उनके नाटकों में अतीत का वातावरण साकार हो उठता है । "स्कन्दगुप्त" नाटक के वातावरण पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि इसका वातावरण गुप्त युग की पृष्ठभूमि पर आधारित है ।

मगध राज्य की समस्त शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही है । एक ओर बर्बर हूणों के आक्रमण हो रहे हैं तो दूसरी ओर गृह-कलह और अन्तःविद्रोह की सर्गर्मी है । सौराष्ट्र म्लेच्छों से पदाक्रान्त हो चुका है । मालव पर संकट है और मगध विलासिता में डूबा है । मगधपति

कुमारगुप्त अपनी तरुण रानी के रूप- सौन्दर्य के आगे कुछ नहीं देखता। ऐसी स्थिति में विकट परिस्थितियां जन्म ले सकती हैं। धातुसेन नाटक का हास्य पात्र है। वह इस संकट की ओर इंगित करता है--"कालेमेघ क्षितिज में एकत्रित हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा.... निर्मल शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्णों के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है।" 'स्कन्दगुप्त' नाटक में इन काले मेघों ने कथा को आदि से अन्त तक आच्छादित कर रखा है। इस नाटक का इतिवृत्त अनन्त देवी के आस पास घूमता है। कुछ दृश्य चित्रों द्वारा वातावरण और अनन्तदेवी के षड्यन्त्र का आभास देना आवश्यक है--

"अनन्त देवी सुसज्जित प्रकोष्ठ में रात्रि के द्वितीय प्रहर में भटार्क की प्रतीक्षा कर रही है। वह अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलना चाहती है। उसकी दासी कहती है--"स्वामिनी आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।" अनन्त देवी उसे यहां जो प्रति उत्तर देती है, वह नाटक के वातावरण पर प्रकाश डालता है --"क्षुद्र हृदय- जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी सांस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए नहीं है।"

अनन्तदेवी की महत्वाकांक्षा में भटार्क का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। भटार्क का सहयोगी प्रपंचबुद्धि है। ये दोनों प्रतिहिंसा की अग्नि से दग्ध हैं।

रात्रि के घने अन्धकार में अन्तःपुर के द्वार पर सर्वनाग सतर्कतापूर्वक पहरा दे रहा है। पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का भूकम्प चल रहा है। रात्रि की शून्यता में एक सैनिक कहता है --" नायक! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, मैं सन-सन करती हुई, डर से यह आधी रात खिसकती जा रही है। पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। सावधान रहने का शब्द मैं चिल्लाकर

१- जयशंकर प्रसाद : 'स्कन्दगुप्त'- प्रथम अंक

कहता हूं, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है नायक ?"[1]

इस मानसिक व्यग्रता का प्रकृति के साथ इतना तीव्र सामञ्जस्य प्रस्तुत करके नाटककार ने नाटकीय वातावरण को झकझोर दिया है। रात्रि की नीरवता के ऐसे दो दृश्य और हैं, जिनमें हत्या और विनाश का अकाण्ड ताण्डव है।

राजनीतिक षड्यन्त्रों के आक्रोशपूर्ण वातावरण में प्रसाद ने विषाद एवं करुणा की रेखाएं भी उभारी हैं। स्कन्दगुप्त की माता देवकी बन्दीगृह के भीतर भी आराध्य भगवान पर अखण्ड विश्वास धारण किए हुए है। विषाद एवं विभीषिका पूर्ण वातावरण का एक अन्य पक्ष प्रणय सम्बन्धी है। स्कन्दगुप्त में प्रेम के दो रूप हैं --एक रूप देवसेना का है दूसरा विजया का है। देवसेना का प्रणय मूक बलिदान है तो विजया का उन्माद की प्रबलता से पूर्ण प्रलय की अनिल शिखा है। नारी के जीवन की एकान्त व्याकुलता और करुण क्रन्दन ने समूचे नाटकीय वातावरण में गहरा अवसाद भर दिया है।

स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त का वातावरण-सृष्टि में विभिन्न पात्रों की अनन्य वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए लेखक द्वारा सर्वत्र निर्मित किया गया है। इसी प्रकार चरित्र-चित्रण और भावतीव्रता द्वारा नाटक आधुनिक शिल्प का सूचक बन गया है।

प्रसाद के नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय नाट्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया है। उनके नाटकों में हमारी संस्कृति के गौरवमय चित्र हैं, जिनपर हमें गर्व है।

१- जयशंकरप्रसाद : 'स्कन्दगुप्त', पृष्ठ [illegible] द्वितीय अंक।

इस काल के अन्य नाटककारों में पं०उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास , हरिकृष्ण "प्रेमी" , पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, और रामवृक्ष बेनीपुरी आदि हैं ,जिनपर यथास्थान विचार किया जा चुका है ।

गांधी जी ने राजनैतिक परिस्थितियों को समाज के साथ सम्बद्ध किया । उनके द्वारा चलाये गये आन्दोलन देश की साधारण जनता अब से लेकर उच्च वर्ग की जनता तक को प्रभावित करते थे । वे जनता को उसके मूल अधिकारों के प्रति सचेत करना चाहते थे । इस प्रकार जनजागरण द्वारा राजनीतिक विषमताओं को समाप्त करना उनका ध्येय था । गांधी जी के प्रयास से राष्ट्रीय चेतना की लहर सम्पूर्ण देश में दौड़ गयी । प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों में अपनी स्थिति सम्पन्न बनाने की भावना का उदय हुआ ।

वैज्ञानिक युग की चमक-दमक ने मध्यम तथा निम्नवर्ग को भी आकृष्ट किया । इन वर्गों का झुकाव भी उन सभी सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने की ओर हुआ जो उच्चवर्ग भोग रहा था । फलत: जीवन की जटिलताएं बढ़ गयीं । गांधी जी द्वारा उत्पन्न जनचेतना ने देश को स्वतन्त्रता तो प्रदान करा दी,परन्तु जीवन में बढ़ती हुई जटिलताओं का हल इसे नहीं मिला । फलत: पूंजीपतियों के विरुद्ध बाह्यरूप में और अपने प्रति आन्तरिक रूप में जीवन में संघर्ष उत्पन्न हुआ । इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा । अब साहित्य मनोरंजन का माध्यम न रहकर युगचेतना का प्रतीक बन गया । नाटक पर भी इस युग चेतना का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस युग के नाटकों में तीन अन्त:प्रेरणाएं कार्य कर रही थीं --

१- कल्याण की भावना अथवा शिवं की प्रतिष्ठा

२- सत्य का उद्घाटन

३- समस्या का समाधान

इन प्रेरणाओं के लिए एक सशक्त माध्यम की आवश्यकता थी । इस माध्यम में जहाँ एक ओर हृदय को झकझोरने वाली शक्ति थी, वहीं उसमें संक्षिप्तता भी थी । बिहारी के दोहों की भाँति 'नाविक के तीरों' की आवश्यकता थी जो देखने में छोटे लगते हैं कि घाव गम्भीर करते हैं । यह प्रभाव बड़े-बड़े नाटकों से उतना सम्भव नहीं था, जितना एकांकी नाटकों से ।

यद्यपि एकांकी नाटक भारतीय नाट्यशास्त्र में उल्लिखित हैं, किन्तु उसका उपयोग आधुनिक शिल्प के अन्तर्गत ही मान्य हो सकता था । इस विधा का प्रारम्भ डा० रामकुमार वर्मा से हुआ । उनका प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' १९३०ई० में प्रकाशित हुआ । यह एक फैन्टेसी है । जिसका प्रकाशन 'विश्वामित्र' नामक प्रसिद्ध हिन्दी मासिक में हुआ था ।

रामकुमार युग

इस सूक्ष्म सम्वेदनशील विधा में भारतीय नाट्यशास्त्र का आधार लेकर डा० रामकुमार वर्मा ने आधुनिक शिल्प की प्रतिष्ठा की । पश्चिमी नाट्यशास्त्र रस की अपेक्षा मनोविज्ञान में अधिक स्थापित हुआ है । पश्चिमी एकांकीकारों के एकांकियों से इसके उदाहरण लिये जा सकते हैं । डा० रामकुमारवर्मा ने सर्वप्रथम अपने एकांकियों में भारतीय सम्वेदनाओं को उभारा तथा शिवं की कल्पना की । उन्होंने इस दिशा में अत्यधिक स्वस्थ प्रयोग किये । 'अन्धकार' एकांकी में प्रजापति का मन्वन्तर समाप्त हो रहा है और वे कल्याण की बात सोचते हैं --

शिवं की प्रतिष्ठा

प्रजापति -- (सोचते हुए) आज मेरे मन्वन्तर का अन्तिम दिन है। मैं चाहता हूं कि दूसरे प्रजापति के आने के पूर्व मैं भू-मण्डल में पुरुष-स्त्री की सृष्टि कर दूं। मैं गतिशीलता में प्राण भरना चाहता हूं। मैं प्राण में सुगन्धि भरना चाहता हूं। अन्धकार का विनाश मेरे जीवन का उद्देश्य होगा। हां, अन्धकार का विनाश। पिता के पापों की स्मृति-रेखा का काला चिन्ह उज्ज्वलता में लीन होकर मार्तण्ड की भांति चमकने लगे।

(दरवाजे पर शब्द)

प्रजापति -- कौन ? (स्मरण कर) ओह, विद्याधर की आत्मा ? मेरे अभिशाप की पूर्ति (जोर से) आओ।

(विद्याधर की आत्मा का प्रवेश)

प्रजापति -- तुम कहां से आ रहे हो ?

जीवात्मा -- ~~(व्यंग से) नन्दन कुंज से नहीं ?~~ जागृति के अथाह सागर से।

प्रजापति -- (व्यंग्य से) नन्दन कुंज से नहीं ? देखो वत्स, क्या तुम ऐसी लहर बनना चाहते हो, जिसमें किसी इन्द्रधनुष का प्रतिबिम्ब पड़े।[1]

इस प्रकार विद्याधर और मेनका की आत्मा से प्रजापति सृष्टि का निर्माण करते हैं। विश्व-कल्याण के लिए आत्म बलिदान की भावना भारतीय विचार-धारा की प्रमुख विशेषता है। डा० वर्मा ने अपने एकांकियों में इस सम्वेदना को मुखरता से व्यक्त किया है।

१- डा० रामकुमार वर्मा : `चारुमित्रा संग्रह`, `अन्धकार`, पृ० १०४

सत्य का उद्घाटन

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने एकांकियों में सत्य के उद्घाटन के लिए परिस्थितियों का स्वाभाविक रूप से निर्माण किया है। उनका यह सत्य मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है। `चारुमित्रा` एकांकी में सम्राट अशोक को कलिंग युद्ध के पश्चात् युद्ध युद्ध से पूर्ण विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस हृदय-परिवर्तन का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। संस्कारों में परिवर्तन सहज नहीं आता ,उसके लिए गहरे प्रभावों की आवश्यकता है। `चारुमित्रा` एकांकी में अशोक की पत्नी सम्राज्ञी तिष्यरक्षिता कला प्रिय है। वह युद्ध-भूमि में अशोक के साथ है। अशोक के हृदय में कोमलता उत्पन्न करने में तिष्यरक्षिता का विशेष हाथ है। भगवान बुद्ध के अनुवर्ती भिक्षु उपगुप्त भी समय-समय पर अशोक के मन में युद्ध से विरति उत्पन्न करते रहते हैं। आहत व्यक्तियों का रुदन तथा पति विहीन, पुत्रविहीन नारियों का क्रन्दन अशोक का हृदय दहला देता है। वह अनुभव करता है कि इन समस्त विषमता का दायित्व उसी पर है। इसकी प्रतिक्रिया में उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है। इस संदर्भ में तिष्यरक्षिता और चारुमित्रा में वार्तालाप सुनिए :

तिष्यरक्षिता -- हाँ,चारु, मैं कब वहाँ गयी थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गये हैं। हर समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है, तब से तो सारा राज्य-कार्य महामात्रों पर ही छोड़ रखा है। आठ वो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है।

चारुमित्रा -- यह मेरे देश का दुर्भाग्य है।

तिष्यरक्षिता -- मैं चाहती हूं चारु, कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शान्ति के जीवन में जहां हंसी का फूल खिलना चाहिए,वहां आह और कराह कांटे की तरह चुभ जाती है।[1]

अशोक के वापस आने पर तिष्यरक्षिता उन्हें युद्ध की विभीषिका से शान्त करने का उपक्रम करती है। इसी समय एक स्त्री अपने मृत बच्चे को लेकर आती है। वह नाटकीय वातावरण को उद्वेलित कर देती है, साथ ही अशोक के हृदय-परिवर्तन करने में सत्य का उद्घाटन करती है--

स्त्री -- (विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूटकर) ओह रानी! अशोक का सर्वनाश हो.... अशोक का सर्वनाश हो ... मुझे भी मार डालो, मुझे भी मार डालो।

तिष्यरक्षिता -- ठहरो-ठहरो, तुम महाराज के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकतीं। चुप रहो, क्या चाहती हो ?

स्त्री --मैं क्या चाहती हूं ? मेरे बच्चे के टुकड़े-टुकड़े कर डालो। यह अभी मरा नहीं है (पुत्र की ओर देखकर) लाल, अभी तुम मरे नहीं हो। ये लोग तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे। तब तक कुछ बोलो -- बोलो मेरे लाल (अपने बच्चे को हाथों में ही झकझोरती है।

\+ \+ \+

स्त्री --अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को! राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया बसे --[2]

इस प्रकार अनेक संघातों से अशोक का हृदय स्तम्भित

१- डा० रामकुमार वर्मा : चारुमित्रा,पृ०८

२- ,, ,, पृ०२४-२५

हो जाता है । वह परिवर्तित की क्रिया में गतिशील होता है । महान शक्तिशाली व्यक्तित्व कभी बीच की स्थिति में नहीं रहता है । वह इस ओर या उस ओर ही रहना पसन्द करता है । अशोक ने भी युद्ध से विरति ली तो वह एकदम बौद्ध हो गया । अशोक के इस परिवर्तन से मौर्य वंश का साम्राज्य सूर्य चन्द्र बन गया ।

समस्या का समाधान

डा० रामकुमार वर्मा ने समस्याओं का समाधान भी अपने युग के अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक सावधानी से किया है । वे एकांकी को समस्या समाधान का सुन्दर साधन मानते हैं--" मेरी दृष्टि में इस समस्या का हल एकांकी सबसे अधिक कौशल से कर सकता है । जिस प्रकार शत योजन तक फैले सुरसा के मुख में हनुमान लघुरूप से प्रवेश कर बाहर निकल आये थे, उसी प्रकार साहित्य को भी लघु रूप लेकर विराट जीवन के मुख से निकलना होगा ।"[1]

डा० वर्मा ने अनेक समस्या-नाटकों की रचना की है तथा उनका समाधान प्रस्तुत किया है । 'रजनी की रात' एकांकी में रजनी पारिवारिक जीवन पसन्द नहीं करती है । वह अविवाहित रहना पसन्द करती है । इस एकांकी की यही समस्या है कि क्या स्त्री पुरुष के बिना रह सकती है ? कनक और रजनी में वार्तालाप चल रहा है

कनक -- स्कूल की नौकरी छोड़ दी । अब पिता जी को भी छोड़ दिया । विवाह तो अभी नहीं हुआ, नहीं तो आगे चलकर उन्हें भी ...

रजनी -- कुछ नहीं होने का कनक । मैं तो देखती हूँ कि परिवार में हुबा हुआ आदमी कुछ नहीं कर सकता । जिन्दगी की ज़रूरतों

१- डा० रामकुमार वर्मा : 'बाल विनय', भूमिका

को पूरा करता हुआ सोता है, जागता है । उसे विवाह करना पड़ता है, बुड्ढा होना पड़ता है और मर जाना पड़ता है । एक ही रास्ता एक ही चाल, एक ही धुरी । मुझे इससे घृणा हो गयी है, कनक । मैं यह कुछ नहीं चाहती ।

कनक -- तो रजनी तुम क्या चाहती हो ?

रजनी -- मैं क्या कहूं, क्या चाहती हूं ! समाज का बन्धन नहीं चाहती । मैं ममता और मोह के बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र विचारों में विश्वास रखती हूं । कनक जब ऐसा होगा तो संसार कितना अच्छा होगा ?"[1]

यह है, इस एकांकी की समस्या । समाज के बन्धनों से मुक्त होकर शिक्षित नारी स्वतन्त्र अविवाहित जीवन व्यतीत करना चाहती है, पर यह उसकी अहंमन्यता है । नारी लता को पुरुष वृक्ष का सहारा सदैव अपेक्षित है । कनक के भाई आनन्द के साथ रजनी की वार्ता यही स्पष्ट करती है । डाकू एक बुड्ढे की लड़की को उठा ले जाते हैं । शोर सुनकर आनन्द उसकी रक्षा करता है । रजनी को नारी की दुर्बलता का पता चल जाता है --

रजनी -- नहीं आनन्द जी, आप कितने साहसी और ... वीर पुरुष हैं । आनन्द जी, आप बहुत अच्छे हैं ।

आनन्द --ठहरिए,ठहरिए, रजनी देवी, आप लोगों को हम जैसे सिपाहियों की ज़रूरत है । ज़रूरत है न !

रजनी --(सिर हिलाती है धीरे से) हां, है । (फिर ज़ोर से) देखिये स्त्री इतनी कमज़ोर अब हो गयी है कि वह डाकुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती ।

आनन्द-- इसलिए मैं तो कहता हूं कि आप समाज में चलकर स्त्रियों को मज़बूत बनाएं । आपके लिए यह एकान्त नहीं है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा :" रजनी की रात",पृ० ६८

रजनी -- हाँ, मैं भी समझ रही हूँ, आनन्द जी !

रजनी -- आपने मुझे रास्ता दिखला दिया आनन्द जी।[१]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों तत्वों के समुच्चय से उन्होंने एकांकी की रचना की है। इसके अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा युग के नाटकों में रंगमंच की सफलता अक्षय रहती है। प्रसाद-युग के नाटकों से तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों युगों के नाटकों में वही अन्तर है, जो साकार भगवान और निराकार भगवान में है। प्रसादयुगीन नाटक कथावस्तु में असीम हैं। उपन्यास की भाँति पात्रों के सहारे उनमें घटना स्पष्ट की जाती है। चरित्र-चित्रण में उचित अनुपात न रखकर पात्रों की संख्या मनमाने ढंग से बढ़ायी जाती है। भाषा सर्वत्र एक-सी है। वे अभिनय शैली में उपन्यास ही हैं।

डा० रामकुमार वर्मा युग के नाटकों में रंगमंच का पूर्ण प्रयोग हुआ है। साहित्य की कला रंगमंच की कला की सहयोगिनी बनकर आयी है। इस युग में प्रमुख सम्वेदना युक्त घटनाओं को ही नाटक में स्थान दिया गया। बड़ी से बड़ी समस्याओं को कम से कम स्थान तथा समय में स्पष्ट किया गया। इस युग का नाटककार उन बिन्दुओं का चयन करता है, जिनपर से सम्पूर्ण कथावस्तु पर प्रकाश डाला जा सके।

चरित्र-चित्रण इस युग में एकांकी का मनोवैज्ञानिक ढंग हो गया। सम्वाद संक्षिप्त तथा चुभते हुए हो गये, जिनमें कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। वे भाव तीव्रता के साथ ही मनोरंजक भी है। भाषा पात्रानुकूल है। इस युग के नाटक व्यक्ति, वर्ग और समाज को ऊँचा उठाने वाले हैं।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "रजनी की रात", पृ० १२८।

स्पष्ट है कि डा० वर्मा के एकांकी नाटक एक युग प्रवर्तक विधा के रूप में उपस्थित हैं। उनके द्वारा हिन्दी साहित्य में एकांकी विधा का सर्वांगीण विकास हुआ। इस सन्दर्भ में एकांकी की विधा और एकांकीकारों का परिचय अभीष्ट है :

अ- एकांकी नाटक

एकांकी नाटक में केवल एक अंक रहता है। उसमें परिमित पात्रों द्वारा जीवन की एकरूपता चित्रित कीजाती है। कथावस्तु में अनावश्यक प्रसंगों में बहिष्कार किया जाता है।

परिचय

चरित्र-चित्रण की रूपरेखा तीव्र तथा संक्षिप्त रहती है। कुतूहल की सृष्टि प्रारम्भ में ही की जाती है। व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। एकांकीकार अपना ध्यान चरमसीमा में केन्द्रित करता है। एकांकी की गति क्षिप्र होती है। इस क्षिप्रता में बीती हुई घटनाएं चुम्बक की तरह हृदय को आकर्षित करती हैं। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में एकांकी का रूप कुछ इस प्रकार है --" मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है, जैसे एक तितली फूल पर बैठकर उड़ जाय। फिर घटना में गति की घनीभूत तरंगें आती हैं जो कुतूहल से खिंचकर चरम सीमा में परिणत हो जाती हैं। चरम सीमा के बाद ही एकांकी की समाप्ति हो जानी चाहिए, नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है। चरमसीमा के बाद घटना का विस्तार वैसा ही अरुचिकर है, जैसा प्रेयसी से बातें करने के बाद आटे-दाल का हिसाब करना[1]।"

अत: एकांकी नाटक का उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना है। इसके लिए एकांकी लेखक कितनी विशिष्ट नियमों का पालन करता है। एकांकी की कथावस्तु का प्रारम्भ संघर्ष से होता है। इसमें बाह्याडम्बर, कृत्रिमता,

स्वगत कथनों तथा पद्य इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है । यथार्थ चित्रण पर इस विधा में विशेष बल दिया जाता है । एकांकियों के प्रयोग में शब्द-मितव्ययिता, संक्षिप्तता तथा निदर्शन कुशलता को अपनाने से जीवन की विशालता तथा गम्भीरता का संकेत अभिप्रेत है । कहना न होगा कि एकांकी की विधा एक ऐसा आकर्षण बिन्दु है, जिसमें सम्पूर्ण जीवन अपनी सफलताओं तथा विफलताओं का दिग्दर्शन करा सकता है । यहाँ एकांकी के शिल्प पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है ।

क- कथावस्तु

नाटक में जीवन का संवेदनशील रूप प्रस्तुत किया जाता है । हमारे जीवन में चारों ओर घटनाओं का अविराम प्रवाह बहता रहता है, जिनमें अन्तर्व्यापी सत्य का अत्यन्त रहस्यमय संकेत रहता है । इन्हीं घटनाओं से सजग नाटककार अपनी व्यंजना-शक्ति द्वारा कथानक का चयन करता है । वह अपने जीवन के अनुभवों में ही उन घटनाओं के अन्तर्गत कुतूहल तथा स्वाभाविकता का संचयन कर देता है । उसे कथावस्तु के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होती । वह संघर्ष की सृष्टि अपनी विवेचना द्वारा करता है, जिसमें नाटक में जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इसी से नाटक उन घटनाओं की संयोजन करता है ; जिनमें विरोध की तेजस्विनी शक्तियाँ रहती हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविकता जिसमें आकर्षण हो नाटकीय कथावस्तु की आधारशिला होती है ।

इस कथावस्तु को आरोह तथा अवरोह के दृष्टिकोण से प्राचीन नाटकों में इस प्रकार रखा गया है —
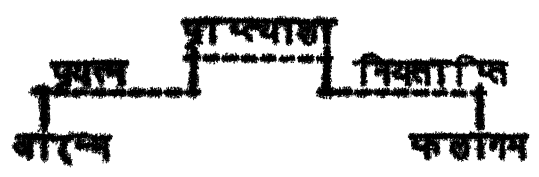
यह भारतीय दृष्टि है, जिसमें दु:खान्त का कोई स्थान नहीं है । यहाँ प्रतिनायक नायक के मार्ग में बाधा डाल सकता है अन्तत: उसे नायक से पराजित होना ही है । पश्चिमी नाटक में घटनाओं की परिणति सुखान्त तथा दुखान्त दोनों ओर हो सकती है । वहाँ घटनाओं का घात-प्रतिघात ही प्रमुख होता है ।

एकांकी की कथावस्तु नाटक की कथावस्तु से भिन्न होती है । एकांकी के पास सीमित समय तथा स्थान है, जिसमें उसे नाटक की विस्तृत घटनाओं की व्यंजना उपस्थित करनी है । अत: एकांकी का प्रारम्भ तब होता है, जब आधी से अधिक घटना समाप्त हो जाती है । यही कारण है कि एकांकी की वस्तु में प्रारम्भ से ही कुतूहल की अपरिमित शक्ति संचित रहती है । कथानक तीव्रता से अग्रसर होता है तथा एक-एक घटना में ही घनीभूत हो जाता है । बीती घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति संवेदना को आकर्षित करती है । एक-एक भाव भंगिमा में वर्षों की घटनायें स्पष्ट होती हैं । सम्पूर्ण जीवन एक घटना में ही उभर आता है । इस प्रकार के घटना-प्रदर्शन में चरम सीमा विद्युत गति से चमक उठती है । एकांकी की कथावस्तु इस प्रकार किसी अंगार छूटने की भाँति दौड़ पड़ती है । उत्सुकता की आग लगते ही घटना आग की फुहार की तरह उठती है और चरमबिन्दु पर एक निश्चित ऊंचाई पाकर समाप्त हो जाती है । एकांकी में भी चरम सीमा के बाद कुछ भी घटना प्रभावहीन हो जाता है । आधुनिक शिल्प के अनुसार एकांकी का रेखा-चित्र कुछ इस प्रकार का होगा --

ग- पात्र
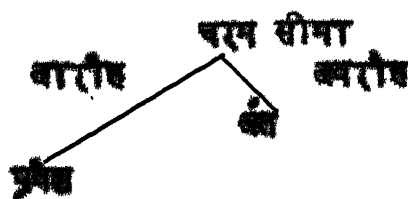
चरित्र- चित्रण के बाह्य अथवा आन्तरिक संघर्ष में ही नाटक का स्वरूप विकसित होता है । नाटक का संघर्ष पात्रों पर आधारित होता है । प्रधान पात्र को उभारने के लिए मध्यम पात्रों का सृष्टि का जाता है, जो कथावस्तु से सम्बद्ध रहते हैं ।

एकांकी में पात्रों की संख्या परिमित रहती है । प्रत्येक पात्र का अपना महत्व रहता है । मनोरंजनार्थ पात्रों की सर्जना एकांकी में नहीं की जाती है । नायक के साथ प्रतिनायक रह भी सकता है तथा नहीं भी रह सकता है । कथानक में जब बाह्य संघर्ष उभारना अपेक्षित रहता है तो प्रतिनायक की कल्पना की जाती है,अन्यथा सहायक पात्रों से कार्य क चलाया जाताहै । ये सहायक पात्र एकांकी में नीचे लिखे चार प्रकार के माने जातेहैं --

१- उत्तेजक, २- माध्यम,३- सूचक,४- प्रभाव व्यंजक
उत्तेजक पात्र वे हैं जो कथा के विकास को उत्तेजना देते हैं । माध्यम पात्र मुख्य पात्र के मनोगत भावों को या तो स्वयं प्रकट करते हैं या प्रकट कराने में सहयोग देते हैं । सूचक या सहायक पात्र एकांकी में या तो रहस्योद्घाटन करते हैं अथवा अप्रत्यक्ष विषयों की सूचना द्वारा प्रकट करतेहैं । प्रभावव्यंजक सहायक पात्र वे हैं,जो कहीं रहस्य संकेत अथवा भूमिका की भाँति कथावस्तु में यत्र-तत्र व्याप्त रहते हैं ।

पात्रों की सृष्टि यथार्थ परक होती है । पात्र इसी धरती के व्यक्तियों जो सामान्य मानव हों । असाधारण गुणों से युक्त पात्रों से अभिप्राय: अमानवीय 'टाइप' के पात्रों से है । पात्रों में दर्शकों को आकर्षित करने की क्षमता हो, वे मनोवैज्ञानिक आधार से ही परिचालित हों । एकांकी में पात्रों की संख्या कथावस्तु की आवश्यकता के अनुरूप ही हो । पात्र-योजना एवं चरित्र चित्रण भी मनोवैज्ञानिक तथा यथातथ्य परक होनी चाहिए ।

ग- सम्वाद

पात्रों के स्वभाव तथा मनोवेगों को जानने के लिए एकांकी में सम्वाद रखे जाते हैं। सम्वाद एकांकी के आवश्यक तत्वों में हैं। सुन्दर और आकर्षक सम्वाद एकांकी की सरस अभिव्यक्ति करते हैं। नाटकीय परिस्थिति एवं वातावरण की सृष्टि के लिए भी सम्वाद या कथोपकथन की आवश्यकता होती है। एकांकी में नाटकीय तत्व की सम्पूर्ण शक्ति कथोपकथनों में केन्द्रीभूत रहती है। यही एकांकी की आत्मा है।

एकांकी के सम्वाद संक्षिप्त तथा आकर्षक होते हैं। उनमें उल्लास तथा सजीवता रहती है। पात्रों की स्थिति के अनुकूल सम्वादों में पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न होता है। कथोपकथन में एक भी शब्द अनावश्यक न हो, एक भी वाक्य अधिक न हो तथा पात्र वही कहे जिसके न कहने से कथानक का विकास असम्भव होता हो। अतः सम्वादों में निम्न विशेषताएं डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक 'एकांकी कला' में रखी हैं --

१- एकांकी में कथोपकथन संक्षिप्त हों। उनमें अनावश्यक वाक्यों और शब्दावली की भरमार न हो।

२- कथोपकथन मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण होना चाहिए। इससे सजीवता का संचार होता है।

३- कथन में चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने की पूर्ण शक्ति होनी चाहिए।

४- कथोपकथन एकांकी के कथासूत्र को विकसित व करने वाले हों।

५- उनमें निम्नकोटि का वाद-विवाद न हो। यदि विवाद अपेक्षित हो हो तो वह कलात्मक अवश्य रहे।

६- व्याख्यान, उपदेश तथा लम्बी वाक्यावली से कथोपकथन मुक्त रहें।

७- स्वगत का प्रयोग आज अस्वाभाविक, अनावश्यक तथा अवांछनीय है। स्वगत का प्रयोग यदि अपेक्षित हो तो वह अस्वाभाविक न रहे।

८- कथोपकथन सरल तथा स्पष्ट रहने चाहिए । रहस्यपूर्ण कथोपकथन रसानुभूति में बाधक होते हैं ।

९- कथोपकथन पात्रों के भावों को प्रकट करने में सक्षम हों ।

इस प्रकार स्कांकी में कथोपकथन का स्थान तथा महत्व स्पष्ट है ।

घ- नाटकीय संकेत

अभिनेयता उभारने में नाटकीय संकेतों का विशेष योगदान रहता है । प्रसाद जी के पश्चात् के नाटककारों में नाटकीय संकेत देने की प्रथा चली । रंग संकेतों की ओर ध्यान देने वाले नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा भुवनेश्वर प्रसाद प्रमुख हैं । अब तो सभी नाटककार इन संकेतों का प्रयोग करते हैं । नाटकीय संकेतों से अभिनेताओं तथा प्रस्तुतकर्ताओं को विशेष सहायता मिलती है । रंगसंकेतों से रंगमंच की व्यवस्था भी होती है । इससे मंच पर स्कांकी की आवश्यक सामग्री तथा दृश्य स्वं वातावरण का ज्ञान हो जाता है ।

रंगसंकेतों से अभिनय में सहायता प्राप्त होती है । पात्रों के हाव-भाव, वेशभूषा, उठने-बैठने तथा चलने की रीति उनकी भावभंगी आदि का उल्लेख रंगसंकेतों में रहता है । पात्रों की प्रकृति तथा रूपसज्जा स्वं शारीरिक स्थिति का भी ज्ञान उनसे प्राप्त होता है । कथावस्तु के मुख्य स्वं विस्तृत स्थलों को रंगसंकेतों द्वारा स्पष्ट किया जाता है । इनसे स्कांकी में प्रवाह स्वं सजीवता आती है । कथोपकथनों द्वारा जिन तत्वों का स्पष्टीकरण स्कांकी में नहीं हो पाता है, उनका स्पष्टीकरण रंगसंकेतों द्वारा किया जाता है ।

७०- आवश्यक तत्व

एकांकी नाटकों की टेकनीक बड़े नाटकों की देन कही गई है। डा० एस०पी० खत्री, अमरनाथ गुप्त तथा डा० नगेन्द्र के मत से यह बात स्पष्ट है[1]। एकांकी का विधा इस प्रकार पाश्चात्य नाट्य-शिल्प पर आधारित एक स्वतन्त्र विधा है। एकांकी को स्वतन्त्र विधान मानते हुए चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का मत है -- "एकांकी को कहानी का लघु संस्करण मात्र मानना उचित है[2]।" उन्होंने एकांकी को बहुत सरल विधा माना है। इनके मत से एकांकी साधारण बातचीत स्तर का विधा है, जिससे मनोरंजन होता है। जैनेन्द्र जी का विचार भी एकांकी को पूर्ण स्वतन्त्र विधा मानने का नहीं है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी अपने एकांकी नाटकों के संग्रह "मुद्रिका" में सर्वप्रथम एकांकी की टेकनीक पर गम्भीरता से प्रकाश डालते हैं। वे मानते हैं कि एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित लक्ष्य होता है। वे एकांकी की विधा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। सेठ गोविन्ददास नाटक तथा एकांकी में वही अन्तर मानते हैं जो उपन्यास तथा कहानी में है। डा० रामकुमार वर्मा ने एकांकी की टेकनीक पर बहुत ही सुस्पष्ट तथा विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके विचारों की सम्पूर्णतया रचना यहां अपेक्षित है--" एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कुतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुंचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पांच ही

१- एस०पी० खत्री :"नाटक की परख",पृ० १७७।

२- हंस एकांकी नाटक,पृ० ८०१।

होती हैं जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से रहता है । वहां केवल मनोरंजन के लिए आवश्यक पात्र की गुंजायश नहीं । प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भांति स्पष्ट और गहरी होती है । विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिलकर पुष्प की भांति विकसित हो उठती है । उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं ।"[1]

निष्कर्ष

इन सभी विद्वानों के मतों का परीक्षण कर यह माना जा सकता है कि एकांकी में एक ही घटना होती है । वह घटना कुतूहल का संचय करती हुई चरम सीमा पर पहुंचती है । उसमें गौण प्रसंगों के लिए स्थान नहीं होता । पात्रों की संख्या सीमित तथा सुसम्बद्ध रखी जाती है । घटनाओं में अनुपात रहता है जो विकसित होकर अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा करता है । चरम बिन्दु के पश्चात् एकांकी का अन्त हो जाता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एकांकी की विधा की अपनी स्वतन्त्र टेकनीक है । वह स्वतन्त्र रूप से साहित्य का अंग है । यह भी स्पष्ट है कि एकांकी की विधा ही आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति प्रदान करने में समर्थ है ।

एकांकी के शिल्प पर तथा उसके स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों पर भी विचार करना आवश्यक है । सर्वप्रथम एकांकी के जनक युग प्रवर्तक प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी शिल्प पर विचार करना उचित है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "एकांकी कला", पृ० ४१

डा० रामकुमार वर्मा

डा० वर्मा का जीवन-दर्शन आशावादी है। उनके साहित्य में कहीं विषाद और निराशा नहीं है। उनका विश्वास प्रगतिशीलता तथा महानता के प्रति अटल है। उनका दृष्टिकोण गिरने में नहीं, उठने में है। उनका विश्वास है कि अंकुर सदा ऊपर ही उठता है। जीवन अवरोध पाकर और निखर उठता है। पत्थर से ठोकर खाकर पानी और अधिक दुधिया हो जाता है। इसी प्रकार बाधाओं से मनुष्य की आत्मा की ज्योति और बढ़ जाती है।

वे शक्ति और पुरुषार्थ में विश्वास रखते हुए पुरुषार्थ में आस्था रखते हैं। उनका भाग्यवाद प्रगति-पथ का रोड़ा नहीं है, बल्कि कर्मचक्र की धुरी में अधिक शक्ति पहुंचाने का कार्य करता है। उनके शब्दों में यह जीवन कुछ इस प्रकार का है--" मैं देखता हूं, मेरे चारों ओर फूल खिल रहे हैं, झरने बहते चले जा रहे हैं और पहाड़ अपना माथा उठाकर मौन भाषा में कह रहे हैं कि हमारे हृदय में गुफाओं के गहरे घाव हैं, किन्तु हम खड़े होकर आकाश से बातें कर रहे हैं। सौन्दर्य, साहस और शक्ति के ये अग्रदूत मेरा पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। फिर मेरा जीवन फूल की तरह खिला हुआ, निर्झर की तरह प्रगतिशील और पहाड़ की तरह महान होने से कैसे रुकेगा।"

डा० वर्मा के ये विचार ही उनके साहित्य में प्रकट हुए हैं। उनके एकांकी नाटकों में इसी प्रकार के विचार कि मूर्तरूप ग्रहण कर प्रकट हुए हैं। उनके एकांकियों में तीन गुण प्रमुखतया प्राप्त होते हैं--१- भारतीय संस्कृति की व्याख्या, २- इतिहास और राष्ट्रीयता के प्रति आस्था तथा ३- दैनिक सामाजिक समस्याओं का समाधान।

अपने जीवन की ४० वर्षों की साधना में उन्होंने हिन्दी एकांकी साहित्य को दो सौ से अधिक एकांकी दिये हैं। उनके एकांकी सामाजिक

ऐतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक, पौराणिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक अनेक दिशाओं में निर्मित हुए हैं, पर सभी का अपना पृथक् महत्व है। उद्देश्य तथा शिल्प साम्य के अतिरिक्त उनके एकांकियों का कथावस्तु तथा उसमें भी अधिक पात्रों की वैयक्तिकता में अन्तर है। सैकड़ों पात्रों की सृष्टि कर सभी में अपनी मौलिकता रखना प्राणवान लेखक का ही कार्य है।

उनके एकांकी सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् को स्पष्ट करते हुए भी रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त है। शिल्पगत मौलिकता में, रंगमंच के विकास में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने में तथा भारतीय उच्चादर्शों को स्थापित करने में उनके एकांकियों की प्रमुख भूमिका है। उनके एकांकी साहित्य पर विभिन्न विद्वानों ने विविध प्रकार के मत दिये हैं --

'हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम एकांकी लिखने वाले आप ही हैं। उन्होंने आधुनिक ढंग के एकांकी लिखने की नींव पथप्रदर्शक के रूप में डाली[1]।' (जगन्नाथ गुप्त)

'श्री रामकुमार वर्मा हिन्दी में एकांकी नाटकों के जन्मदाताओं में हैं। उनका पहला एकांकी नाटक 'बादल की मृत्यु' है, जो १९३० ई० लिखा गया था[2]।' (रामनाथ सुमन)

'अतः 'कारवाँ' के लेखक को इतनी उधार सामग्री के साथ एकांकी के क्षेत्र में पथप्रदर्शक मानना समुचित हो सकता है क्या ? डा० रामकुमार वर्मा विचार और चरित्र की उद्भावना में मौलिक हैं। टैक्नीक को भी उन्होंने सुस्थिर रूप दिया है यह मानना होगा[3]।' (डा० सत्येन्द्र)

१- जगन्नाथ गुप्त : 'एकांकी नाटक'

२- रामनाथ सुमन : 'बालमित्र'

३- डा० सत्येन्द्र : 'हिन्दी एकांकी'

उपर्युक्त चर्चा से डा० वर्मा के नाट्य-शिल्प पर जो प्रकाश नहीं पड़ता, उनके युग प्रतीक व्यक्तित्व का भी स्पष्टीकरण होता है । स्पष्ट है कि डा० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी नाटकों को एक सर्वथा नवीन तथा मौलिक विधा का सृजन किया । उनके एकांकी संग्रह कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं:--

रेशमी टाई -- १९४०

चारुमित्रा -- १९४१

विभूति -- १९४६

सप्तकिरण -- १९४७

रूप-रंग -- १९४८

ऋतुराज -- १९४९

दीपदान -- १९५०

रजत रश्मि -- १९५१

पांचजन्य -- १९५२

रिमझिम -- १९५८

मयूरपंख -- १९६५

इतिहास के स्वर -- १९६७

दीपदान

"दीपदान" डा० वर्मा का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। चित्तौड़ के स्वर्गीय महाराणा सांगा के राज्य का उत्तराधिकारी उनका छोटा पुत्र कुंवर उदयसिंह है। वह अभी चौदह वर्ष का बालक है। महाराणा के भाई पृथ्वीराज का दासी पुत्र बनवीर बड़ा ही क्रूर और विलासी है। वह उदयसिंह की हत्या करके स्वयं उत्तराधिकारी बनना चाहता है। उदयसिंह का पालन खींची जाति की राजपूतानी पन्नाधाय करती है। वह त्यागमयी, साहसी तथा शासक के प्रति सावधान है। बनवीर की चाल का उसे पता है। वह प्रत्यक्ष रूप से बनवीर का विरोध करने में असमर्थ है। अतः बुद्धिमानी से कार्य करती है। उदयसिंह को कीरतबारी की पत्तलों की टोकरी में सुलाकर वह महल से बाहर निकाल देती है तथा उसकी ही समवयस्क अपने पुत्र चन्दन को कुंवर के बिस्तर पर सुलाकर बनवीर की महत्वाकांक्षा की बलि चढ़ा देती है। इस प्रकार अपनी आत्मा के अंश की बलिदान करके पन्नाधाय राजवंश की मर्यादा बचाती है। इस एकांकी का कथानक पन्नाधाय के चारित्रिक गुणों से निर्मित है।

एकांकी में मुख्य पात्र पन्नाधाय है। सोना और सामली भी स्त्री पात्र और हैं। पन्ना का चरित्र ममता, कर्तव्य, त्याग और साहस के गुणों से निर्मित होता है। कुंवर उदयसिंह के प्रति उसका वात्सल्य अपने पुत्रवत् ही है। वह कुंवर की हर इच्छा की पूर्ति का माध्यम है। राणा सांगा के वंश की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिए वह अपना कर्तव्य पूरा करती है। अपने पुत्र की हत्या आंखों के सामने कराके वह महान् त्याग करती है। इस प्रकार पन्ना के चरित्र में उपर्युक्त गुण नारी जाति के लिए आदर्श हैं। रूपवती नटखट बालिका के रूप में सोना का चरित्र चंचल है। वह उदयसिंह के साथ खेलने आती है। उसका चरित्र उसकी मनोविज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है। सामली परिचारिका है। उसका चरित्र भी स्वाभाविक है।

पुरुष पात्रों में उदयसिंह और चन्दन दोनों बालक हैं । बालसुलभ जिज्ञासाएं उनमें उठती हैं । साहसी दोनों हैं । भविष्य के लक्षण उनमें परिलक्षित होते हैं । उनका चरित्र बालमनोविज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है । कीरतबारी एक कर्तव्यनिष्ठ सेवक है । बनवीर एकांकी का खलनायक है । उसके क्रियाकलाप उसे निम्नवंश का प्रकट करते हैं । वह क्रूर तथा विलासी है । शक्ति के बलपर वह अन्यायपूर्वक राणा वंश का शासन हस्तगत करना चाहता है । उसके इसी मनोविज्ञान के आधार पर उसके चरित्र का विकास किया गया है । इस प्रकार एकांकी के सभी पात्रों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है ।

कथोपकथनों की दृष्टि से पात्रों का संयोजन कथावस्तु के अनुकूल है । [illegible] भावों को प्रकट करने में समर्थ इस एकांकी के संवाद नाटकीय हैं । उनमें संक्षिप्तता, ओज, प्रवाह और प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है । पन्नाधाय की विभिन्न पात्रों के साथ बातों के उदाहरण देखिए--

उदयसिंह -- क्यों नहीं अच्छा लगता ? मैं तो उन्हें बड़ी देर तक देखता रहा। और वे भी..... वे भी तो मुझे बड़ी देर तक देखती रहीं, ओ धाय मां, मैं कितना अच्छा हूं, धाय मां ।

पन्ना -- बहुत अच्छे हो । तुम तो चित्तौड़ के सूरज हो । महाराणा सांगा जी के छोटे कुंवर । सूरज की तरह तुम्हारा उदय हुआ है । तभी तो तुम्हारा नाम कुंवर उदयसिंह रक्खा गया है ।

* * *

पन्ना -- बड़ी उमंग में हो धाय ।

सोना -- दीपकों के साथ उमंगें भी तो जले हैं धाय मां । सारा जीवन ही एक दीपावली का त्योहार बन गया है ।

* * *

पन्ना -- और हां, कुंवर जी को लेकर तुम बेरिस नदी के किनारे मिलना । वहां [illegible] स्थान है ।

पं० उदयशंकर भट्ट

ये नाटककार के रूप में एक प्रसिद्ध लेखक थे । इन्होंने नाटकों के सभी रूपों पर रचना की । गीतिनाट्य लिखने में इन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है । एकांकी नाटक लिखने में भी इनकी विशेष रुचि थी । पाश्चात्य शैली पर भारतीय विषयवस्तु का यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना कर इन्होंने सफल एकांकियों की रचना की । भट्ट जी आदर्श की स्थापना जीवन में बाधक न होने तक ही मानते थे । इनके एकांकियों में भारत की प्राचीन गरिमा के प्रति आस्था व्यक्त होती है । इनके 'असहयोग' 'स्वराज्य' और 'चित्तरंजन दास' आदि एकांकियों में राष्ट्रीय स्वर बहुत उभरा है । अन्य एकांकियों में 'नेता', 'दुर्गा', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर निर्वाचन' 'स्त्री का हृदय', 'मछली और बगुला' 'बड़े आदमी की मृत्यु' आदि प्रमुख हैं । आधुनिक युग की सभ्यता चित्रित करने में ये प्रमुख थे -- इनकी नाट्यशैली की यह विशिष्टता है कि उसमें चिन्तन और अनुभव से परिपुष्ट जीवन-दृष्टि का समावेश रहता है । वे प्राचीन और नवीन, प्रवृत्ति और निवृत्ति, अनुशासन और स्वच्छन्दता में सहज ही सन्तुलन कर लेते हैं और युग की समस्याओं के मर्म तक पहुंचकर व्यंग्य के द्वारा उनका समाधान उपस्थित करते हैं । वे केवल निषेधात्मक ही नहीं, रचनात्मक व्यंग्य की भी सृष्टि करते हैं, जिसमें भर्त्सनामात्र ही नहीं, सहानुभूति भी है ।

भट्ट जी ने रेडियो नाटक और भावनाट्य भी लिखे हैं । भावनाट्य लिखने में इनको विशेष सफलता प्राप्त हुई है । 'विश्वामित्र' 'मत्स्यगन्धा', 'राधा', 'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' आदि इनके सफल भाव नाट्य हैं । इनमें अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण कुशलता से हुआ है । नाटककारों में इनका नाम बड़ा आदरपूर्वक लिया जाता है । इन्होंने

इस प्रकार इस एकांकी में एकांकी कला का निर्वाह हुआ है साथ ही मंच सम्बन्धी प्रयोग भी किये गये हैं, जिनसे प्रस्तुतीकरण सफल हो गया है ।

डा० सत्येन्द्र

ये आलोचक के रूप में एक प्रसिद्ध लेखक हैं । उन्होंने कहानियाँ नाटक और एकांकी भी लिखे हैं । नाटक और एकांकियों की उन्होंने सीमित रचना की है, पर उनमें उनकी प्रतिभा और युग की छाया का विकास उत्तरोत्तर परिलक्षित होता है । अध्यापन कला में दक्ष होने से उनकी कृतियों में विद्यार्थियों के लिए बहुत कुछ प्राप्य होता है । उनके नाटक एवं एकांकी राष्ट्र-निर्माण में सशक्त योगदान देते हैं । इसी कारण उनके एकांकियों में नैतिक औचित्य के प्रति अभिजिज्ञासा है । आज मनुष्य आधुनिकता में रम गया है । नवीन सभ्यता के प्रभाव के कारण उसका वास्तविक रूप खो गया है । सत्येन्द्र जी के एकांकी इस ऊहापोह की स्थिति को स्पष्ट कर नैतिक वातावरण की पुष्टि करते हैं ।

उन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और भावनात्मक सभी प्रकार के एकांकी लिखे हैं । एकांकी कला का गम्भीर अध्ययन होने के कारण उनके एकांकियों में एकांकी-कला का समुचित प्रयोग हुआ है । उनकी शैली कथ्य-विषय के मर्म तक पहुँचकर मनोवैज्ञानिक वातावरण प्रस्तुत करने में सफल है । पाश्चात्य नाट्यशैली के साथ भारतीय नाट्यशैली का सामंजस्यपूर्ण संयोग कर उन्होंने रंगमंचीय सफलता का अपने एकांकियों में ध्यान रखा है । उन्होंने एकांकियों की रचना सीमित संख्या में की है, पर जितने भी एकांकी उन्होंने लिखे हैं, वे विचार, शैली एवं रंगमंच आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण सफल हैं । यहाँ उदाहरणस्वरूप उनके ऐतिहासिक एकांकी "प्रायश्चित्त" का [illegible] प्रस्तुत है :-

समाज एवं व्यक्ति की रूढ़ियों तथा आदर्शों के खोखलेपन को चित्रित करने में भुवनेश्वर जी को पर्याप्त सफलता मिली है । आधुनिक समाज में ऐसी अनेक रूढ़ियां एवं नये थोथे आदर्शों का सन्निवेश हो गया है, जिससे समाज का जीवन कुंठित-सा होने लगा है । भुवनेश्वर के एकांकी समाज के इसी खोखलेपन पर व्यंग्य करते हैं ।

'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना' (१९३३ ई०) उनका प्रथम एकांकी नाटक है । उनकी अन्य कृतियों में 'रहस्य', 'रोमांस', 'लाटरी', 'मृत्यु', 'हम अकेले नहीं', 'सवा आठ बजे', 'स्ट्राइक', 'ऊसर', 'शैतान', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'जेरूसलम', 'सिकन्दर', 'कौड़ा' आदि हैं ।

'स्ट्राइक' उनका पारिवारिक एकांकी है । इस एकांकी की सम्वेदना एक पुरुष तथा स्त्री (जो पति-पत्नी है) के सम्बन्धों को लेकर निर्मित हुई है ।

प्रस्तुत एकांकी में भारतीयता की अपेक्षा पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव अधिक है । जिस परिवार की झांकी दर्शायी गयी है, वह एक ऐसा परिवार है, जो आधुनिक भौतिकतावादी युग की खोखली मान्यताओं से आक्रान्त है । वहां न पति को पत्नी के व्यवहार से सन्तोष है और न पत्नी पति के प्रति निष्ठावान् है । पत्नी की छोटी-छोटी बातों, असम्बद्ध बातों इत्यादि से उसकी मानसिक बेचैनी और चिड़चिड़ापन की स्थिति प्रकट हो जाती है । नौकरों के अभाव में खाना बनाने से बचने के लिए पत्नी क्लब चली जाती है और रात को वापस नहीं आती । यह वैवाहिक जीवन है, जहां पति को घर में ताला लगाकर निकलना: होटल में खाना पड़ता है । जिस समस्या को लेकर नाटक लिखा गया है, वही पश्चिमी समाज के परिवारों की दैनिक घटनाएं प्रतीत होती रहती हैं ।

इस एकांकी की कथावस्तु तीन दृश्यों में घटित होती है । पहला दृश्य बड़ी अन्यमनस्कता एवं अस्पष्टता-सी स्थिति में प्रारम्भ होता है । इसमें पति-पत्नी चाय पी रहे हैं और असम्बद्ध संलाप करते हैं । दूसरे दृश्य में तीन आदमी हैं,जो प्रथम दृश्य के व्यक्ति का प्रतीक्षा कर रहे हैं । यहीं पता चलता है कि वह व्यक्ति श्रीचन्द है, जो एकाउन्टेन्ट होकर एक फर्म का सर्वेसर्वा हो गया है । उसने पहली पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरी शादी की है । श्रीचन्द आता है और सब ड्रिंक लेकर चले जाते हैं ।

तीसरे दृश्य में पहले दृश्य का पुरुष तथा दूसरे दृश्य का युवक नज़र आता है । पुरुष और युवक बरामदे में आते हैं । उन्हें चाबी नहीं मिलती है । वे बरामदे में कुर्सियों पर बैठकर युवक के विवाह सम्बन्धी विषय पर चर्चा करते हैं । युवक शादी की बात करते-करते वैज्ञानिक विचार,नये आविष्कार आदि पर बोलने लगता है । वह कहता है—"स्त्री-पुरुष तो जीवन की मशीन के दो पुर्जे हैं ।" "आइये मैं होटल में आपको, आपकी फैक्ट्री में तो आज हड़ताल हो गयी ।"

कथानक के उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि कथावस्तु कितना असम्बद्ध है । यह एकांकी कुछ परिस्थितियों का, कुछ व्यक्तियों की मनःस्थिति का एवं कुछ सामाजिक सम्बन्धों का धुंधला-सा चित्र प्रस्तुत करता है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क

'अश्क' ने पारिवारिक और सामाजिक विषयों पर अपनी अनुभूति के आधार पर एकांकी लिखे हैं । वे अपने नाटकों में एक ओर समाज की कटु आलोचना करते हैं, दूसरी ओर अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्र भी खींचते हैं । मानव जीवन का अध्ययन करने की दृष्टि से उनकी [illegible] रचनायें बहुत उपयोगी हैं । उन्होंने राजनीतिक,सामाजिक,काल्पनिक :

अनुभूति परक सभी प्रकार की रचनाएं प्रस्तुत की हैं । उन्होंने अपने पात्रों द्वारा समाज और व्यक्ति का सफल चित्रण किया है । प्राय: इन दोनों चित्रणों में उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहा है । वे बड़ी कुशलता से कथानक का संयोजन करते हैं, पात्रों को प्रस्तुत करते हैं और कार्य एवं प्रभाव का ऐक्य दिखलाते हैं ।

उन्होंने अपने एकांकियों में व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी सभी घटनाओं तथा परिस्थितियों के आरोह-अवरोह की [illegible] का समावेश किया है । उनके कथानकों के शिल्प विधान में पूर्व और उत्तर स्थितियाँ, चिन्तन, स्मृति आदि के माध्यम से वर्तमान स्थिति में पिरोई गयी है । ऐसे शिल्पविधान के पीछे अध्ययन और उनके मनोवैज्ञानिक चिन्तन की प्रेरणा सबसे अधिक है ।

'अश्क' के पात्र दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं जो पूर्णतया मानवीय एवं स्वाभाविक हैं । इन पात्रों के माध्यम से ही 'अश्क' जी ने अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण को पाठकों एवं दर्शकों के सम्मुख रखा है । उनके पात्र एक ओर तो अपने मौन विद्रोह को प्रकट करते हैं, दूसरी ओर पूर्ण मानवीय संवेदनाओं से ओत प्रोत रहते हैं । उनकी विवशता की स्थिति पाठकों सहज आकर्षित करने में सफल है ।

उनकी भाषा सरल, पात्रानुकूल एवं भावानुकूल है । बीच-बीच में कहावतें, मुहावरे और हास्य-विनोद का पुट भी रहता है । उनकी शैली सीधे मर्म पर चोट करती है तथा स्पष्टता एवं मार्मिकता से पाठकों को प्रभावित करती है । 'अश्क' का मनोवैज्ञानिक एकांकी 'तौलिये' का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'तौलिये' — यह एकांकी एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार का दृश्य प्रस्तुत करता है । प्रारम्भिक दृश्य में [illegible] 'तौलिये' को लेकर कथानक का [illegible] हुआ [illegible] है । [illegible] पत्नी का एक व्यवहार है । यह

परंतु व्यवहारों में सरल एवं सहज व्यवहार का पक्षपाती है । उसकी पत्नी मधु विदेशी वातावरण से प्रभावित रही है । वह सफाई की बाहरी दिखावट को लेकर पति से विवाद करती है । मधु चाहती है कि घर में हर व्यक्ति का अलग-अलग तौलिया होवे और प्रत्येक का नहाने का तथा मुंह पोंछने का तौलिया भी अलग-अलग हो । वह स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्येक का तौलिया अलग-अलग होना आवश्यक मानती है । वसन्त को इतने तौलियों से काम लेना अच्छा नहीं लगता । वह एक तौलिये से ही हर कार्य लेने का आदी है । मधु के सिद्धान्त सनक की हद तक पहुंचे हुए हैं । मधु को वसन्त के व्यवहार से घृणा आती है । वह घर से जाने को तैयार होता है, पर आवश्यक कार्य से वसंत ही दो मास को बाहर चला जाता है । वसन्त की अनुपस्थिति में मधुको अपना व्यवहार अनुचित प्रतीत होता है, पर वसन्त के वापस आते ही वह पुनः पूर्ववत् व्यवहार करने लगती है ।

इस प्रकार इस एकांकी का कथानक एक निश्चित गति से अग्रसर होता है । कथानक का चयन और गठन रोचक हुआ है । इस एकांकी में प्रमुख पात्र वसन्त और मधु दो ही हैं । सुरो तथा चिन्नी गौण पात्र हैं । चरित्र-चित्रण पूर्ण मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया गया है और चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण सफलता से व्यक्त हुआ है । मधु की सुरुचिपरकता एवं वसन्त की सहज निष्ठा ये दोनों तत्व ही एकांकी में चारित्रिक दृष्टि से गुम्फित हैं । मधु हृदय से चाहती है कि वह पति को सुख दे, किन्तु वह अपने सारे प्रयत्नों में असफल होती है । उसकी संस्कार चेतना उसे सहज नहीं होने देती ।

वसन्त भी सुरुचि और सम्पन्नता को अच्छी बात मानता है, पर उन्हें सनक की स्थिति तक पहुंचा देना ठीक नहीं मानता । वसन्त [illegible] और [illegible] दोनों के बीच का [illegible] करता है । इस प्रकार दोनों पात्र [illegible] वातावरण को [illegible] बनाये रखते हैं । दोनों के चरित्र स्पष्ट रीति [illegible] द्वारा [illegible] हैं ।

कथोपकथन की दृष्टि से नाटक का संघटन कथावस्तु के अनुकूल है। सम्वाद भावों के वाहक हैं। वह पात्रों के चरित्रों एवं उनके स्वभाव को प्रकट करने में कथोपकथन पूर्णत: समर्थ हैं। सम्वादों में गति है, प्रवाह है और ओज है। बसन्त और मधु में वार्ता का उदाहरण देखिए -

बसन्त -- 'घृणा, घृणा, घृणा-- यही तो मैं कहता हूं। तुम्हें मुझसे घृणा है। मेरे स्वभाव से घृणा है। तुम्हारा वातावरण मेरे वातावरण से घृणा करता है।'

मधु -- (उसी विषैली हंसी के साथ) यह आप कह सकते हैं?'

उपर्युक्त सम्वाद भाषा की सरलता एवं स्वाभाविकता भी व्यक्त करते हैं। प्रस्तुत झांकी में रंगसंकेतों की भी व्यवस्था है। इस प्रकार इस झांकी में झांकी के आवश्यक अंगों का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा बचपन से ही स्वतन्त्र मनोवृत्ति के कलाकार हैं। कला की प्रवृत्ति उनमें बचपन से ही जाग गयी थी। सर्वप्रथम उन्हें कविता के क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई। आगे चलकर उनका कथाकार का व्यक्तित्व जागा और वे एक उत्कृष्ट कथाकार बन गये। वे अपने को नियतिवादी मानते हैं। उनका कहना है कि वे जो कुछ हैं, परिस्थितियों ने उन्हें बनाया है। इसलिए उनका व्यक्तित्व सदैव कथाकार रहा है।

कला के प्रति उनका भौतिक दृष्टिकोण है। उनके अनुसार कला एक प्रवृत्ति है और उसके दो पक्ष हैं। एक उसका निजी रूप दूसरा उसका परोक्ष रूप। उनकी रचनाओं में निजी अनुभव भौतिक दृष्टि और नवीन शैली के साथ-साथ उनके साहित्यकार का व्यक्तित्व कहीं तार्किक है, कहीं व्यंग्यकार और कहीं सिद्ध कथाकार है। यही उनकी ताकत है, क्योंकि उनकी दृष्टि है और यथा उनकी शैली है। उनके स्वभाव का फक्कड़पन, विद्रोही प्रवृत्ति, उनकी अभिव्यक्ति में जगह-जगह प्रकट हुई है।

नाटक में पांच पात्र हैं। चूड़ामणि तथा मार्तण्ड दो पात्र प्रमुख हैं। दोनों विनोदी पात्र हैं। उनकी एक-एक बात में हास्य और व्यंग्य फलकता है। जब परमानन्द अपनी घड़ी वापस माँगते हैं तो चूड़ामणि कहता है--

"बहुत अच्छा! (बाएं हाथ से घड़ी निकाल कर परमानन्द को देता है, दाहिने हाथ से रजिस्टर पर लिखता है) यह लीजिए अपनी घड़ी और यह शुरू हुआ परमानन्द पुराण!

"उनकी बीबी मना रही है, हो जाय वह जल्दी रांड़" इसके बाद परमानन्द कहता है--" नहीं, नहीं यह घड़ी मेरी ओर से आपको भेंट है।"

ऐसा ही विनोदी स्वभाव मार्तण्ड का है"।

रामनाथ -- (चित्र देखकर) यह आपने क्या किया? नाक गायब कर दी?
मार्तण्ड -- लाला जी, नाक तो आपने अपने पिता जी की कटवा दी, पचास रुपये के चित्र के दाम सात रुपया लगाकर!"

इस प्रकार कथोपकथन, रंगसंकेत, रंगमंचीय सफलता सभी दृष्टियों से यह एकांकी सफल है। मनोरंजन के साथ-साथ समाज में व्याप्त भूठ, धोखेबाजी इत्यादि पर तीखा व्यंग्य किया गया है। इस एकांकी में कलाकारों के महत्व की ओर भी संकेत किया गया है।

नव्य एकांकी -- इस प्रकार एकांकी साहित्य अपना विशिष्ट स्थान बना चुका है। आधुनिक युग में एकांकी साहित्य की संरचना बहुत विस्तृत रूप से सम्पादित हो रही है। अनेक नयी प्रतिभाएं इस क्षेत्र में अपना स्थान बना रही हैं। इस युग का मूल स्वर यथार्थवाद है। कथानक के सम्बन्ध में पुरानी मान्यताएं समाप्त हो चुकी हैं। आज के एकांकीकार अपने पात्रों का परिचय नहीं देते हैं। एकांकी में आन्तरिक संघर्ष उभारा जाता है अथवा किसी प्रतिद्वन्द्वी के कारण संघर्ष स्पष्ट हो जाता है। इन एकांकियों की भाषा सरल, स्वाभाविक, दैनिक जीवन जैसी गतिशील एवं प्रवाह युक्त होती है। अब

रंगमंच के निर्देश अधिक व्यापक और विस्तृत होते हैं। इनकी सहायता से रंगमंच की व्यवस्था, परिस्थिति एवं पात्रों की रूप-कल्पना स्पष्ट हो जाती है।

नव्य एकांकीकार -- इस विधा पर रचना करने वाले नये एकांकीकारों में निम्नलिखित नाम अत्यधिक प्रमुख हैं -- विष्णुप्रभाकर, प्रभाकर माचवे, सत्येन्द्र शरत्, जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, प्रेमनारायण टण्डन, जगनाथ नलिन, डा० लक्ष्मीनारायणलाल, विनोदरस्तोगी, आरसी प्रसाद सिंह, कैलाश सागर, हरिश्चन्द्र खन्ना, डा० सुधीन्द्र, राजेन्द्र तिवारी, हंसकुमार तिवारी, अवेश अवस्थी, कैलाश कल्पित और हीरा देवी चतुर्वेदी।

निष्कर्ष

एकांकी साहित्य का भविष्य दिनोदिन उज्ज्वल दिख रहा है। रेडियो और टेलिविजन के कारण इसकी विधा में और प्रगति हुई है। टेलिविजन का प्रयोग भारत में सर्वसुलभ के नहीं है, पर रेडियो सर्वसुलभ होने से इस विधा के नाटकों की परम्परा अधिक सशक्त बन गयी है। यहाँ रेडियो नाटक पर विचार करना आवश्यक है।

आ- रेडियो नाटक

क- अर्थ

रेडियो नाटक एकांकी की एक विशिष्ट विधा है जिसका ग्रहण श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ पर अधिक बल दिया जाता है। वास्तव में यह कला श्रव्य है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही घटना या पात्र का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। पंचेन्द्रियों में केवल श्रवणेन्द्रिय से ही इस विधा का सम्बन्ध है।

ख- शिल्प

रेडियो नाटक के लिए सर्वप्रथम विचारस्फुलिंग की आवश्यकता होती है। यही विचार कथा का रूप धारण करता है। कथानक का विकास संघर्षयुक्त वातावरण में होता है। अपनी दिशा में एक गति के साथ रेडियो नाटक का कथानक विकसित होता है। रेडियो नाटक के लिए संकलनत्रय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि किसी भी काल या स्थल में इसकी कथा का विकास होता है। किन्तु श्रोताओं के सीमित अवकाश में रेडियो नाटक संक्षिप्त ही होता है।

रेडियो-नाटक के परिच्छेद में तीन चरण होते हैं। प्रथम परिच्छेद में नाटक श्रोताओं को अपने स्वरूप से परिचित कराता है। इसे कथोद्घाटन कह सकते हैं। दूसरे परिच्छेद को उत्थानोन्मुख क्रिया का नाम दे सकते हैं। इसमें नाटक का विकास होता है। उलझनें आती हैं। तीसरे परिच्छेद में चरमसीमा आती है। इसमें उद्देश्य की पूर्ति होती है। इस प्रकार रेडियो एकांकी तीन परिच्छेदों अथवा चरणों में समाप्त हो जाता है।

रेडियो नाटक में समूचे प्रभाव को श्रव्य द्वारा उत्पन्न करना होता है। इसके लिए रेडियोनाटक सामान्यरूप से विचार अथवा वातावरण-प्रधान होता है, घटना प्रधान नहीं। विस्तार की अपेक्षा प्रगाढ़, सघन, स्पष्ट परिस्थिति की आवश्यकता होती है। रेडियो का अभिनेता अपने श्रोता के श्रवणरन्ध्र के अधिक निकट रहता है। अतः स्वाभाविकता और स्पष्टता से उसके सम्वाद की अभिव्यक्ति होना चाहिए। सम्भाषण, उच्चारण तथा सम्पूर्ण वातावरण वाणी द्वारा ही निष्पन्न होता है, इसलिए छोटे-छोटे वेगवान गतिशील दृश्यों में नाटक की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार रेडियो-नाटक के लिए देश, काल, ध्वनि, वैशिष्ट्य, ध्वन्यभिव्यक्ति और कल्पना— शब्द के दो तत्व ध्वनि और अर्थ,

ः ध्वनि और संगीत, गति और नाट्य व्यापार, भैरेश्न सम्वाद, भाषा तथा ध्वनि प्रभाव आदि तत्व रेडियो शिल्प के लिए अपेक्षित होते हैं।[१]

ग- रेडियो तथा रंगमंचीय नाटक

एक विद्वान्-लेखक का यह कथन यहाँ विचारार्थ लिया जाता है कि रेडियो नाटक और रंगमंचीय नाटक में अन्तर है अथवा नहीं। उन विद्वान् महोदय का कथन इस प्रकार है-- "मेरा विश्वास है जैसे स्टेज के नाटक कुछ हेर फेर के पश्चात् रेडियो के उपयुक्त बनाये जा सकते हैं। वैसे ही ध्वनि रूपकों को भी आवश्यकता होने पर स्टेज नाटक बनाया जा सकता है।

रंगमंच के साथ यह सुविधा है कि उसपर मंचित होने वाले नाटक दृश्य एवं श्रव्य दोनों ही सुविधाओं से सम्पन्न होते हैं। दृश्य होने से इन नाटकों की अभिव्यक्ति के साधन अनेक हैं। कायिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक सभी प्रकार के अभिनय रूप इन नाटकों में प्रयुक्त होते हैं तथा रंगमंच की सामग्री से भी अभिव्यक्ति में सहयोग प्राप्त होता है। रेडियो नाटक के पास सभी कुछ श्रव्य है। अभिनेता के पास वाचिक अभिनय और श्रोता के पास श्रवणेन्द्रिय शक्ति। इस प्रकार रंगमंचीय नाटक की अपेक्षा रेडियो नाटक की अपनी सीमाएं हैं। मंच पर पात्र मुख से कुछ भी न बोलता, पर शारीरिक भंगिमाओं से अपनी भावाभिव्यक्ति का आनन्द दर्शकों को दे देता है। रेडियो के पास श्रव्य के अतिरिक्त अभिव्यक्ति का कोई सहारा नहीं है। मंच पर एक साथ अनेक पात्र अभिनय करते हैं। बार-बार प्रवेश तथा प्रस्थान के कारण दर्शकों से परिचय हो जाता है। रेडियो पर पात्रों की

१- रेडियो नाटक -- हरिश्चन्द्र खन्ना

भीड़ का ज्ञान तो होता है, पर उनका समभाभास नहीं होता है । रंगमंच पर दर्शक सजीव पात्रों का संचरण देखते हैं । उनकी वेश-भूषा के कारण भी आकर्षित हो सकते हैं और सम्पूर्ण नाटक देखकर ही रंगशाला से जाना चाहते हैं, पर रेडियो का श्रोता अपने कमरे में अकेला परिवार के साथ नाटक सुनता है और पसन्द न आने पर रेडियो तुरन्त बन्द कर सकता है । रेडियो नाटक व्यक्ति के लिए है, जब कि रंगमंच का नाटक समूह के लिए है । समूह में पसन्द का अन्तर रहता है अत: सभी एक निर्णय नहीं ले सकते । जब कि व्यक्ति अपना निर्णय शीघ्र ले सकेगा । अत: रेडियो की कला श्रोता को बांधने में अधिक सजग रहती है । डा० रामकुमार जी वर्मा ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए विस्तृत प्रकाश डाला है --" रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने वालों की जिम्मेदारी अधिक है । उसका कारण यह है कि रंगमंच पर प्रदर्शित होने वाले नाटकों का वातावरण, मंच की सजावट, वेशभूषा या दृश्यमान कुतूहल प्रदर्शन से सहज ही हृदयंगम हो जाता है । रेडियो पर नाटक के समस्त वातावरण को हृदयंगम करने का एकमात्र दायित्व ध्वनि पर है । समस्त इन्द्रियों के नूपुर नाद को सुनने के लिए जैसे कृष्ण के नेत्र और मन सिमट कर कान में ही आ गये थे । महाकवि नन्ददास ने अपनी 'रास पंचाध्यायी में लिखा है--

तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाये ।
तब हरि के मन नैन सिमिट सब स्रवनन आये ।।

मंच पर उपस्थित किये जाने वाले एकांकी में प्रतिन्यास लिखने की आवश्यकता है, जिससे रंगमंच पर आवश्यक व्यवस्था हो सके ।..... रेडियो पर अभिनय करने वालों को पात्र के समस्त व्यक्तित्व अवस्था और आत्मा को कंठ से ही ध्वनित करना पड़ता है ।"

इस प्रकार रेडियो की कला रंगमंच की कला से अधिक सरल है । इसमें किसी सीमा की आवश्यकता नहीं । भीड़, लड़ाई जहाज तथा अन्य कुछ भी आभासित कराया जा सकता है । रेडियो पर प्रतीकात्मक

पात्र सुविधा से रखे जा सकते हैं । विकलांगों को प्रस्तुत करना भी सरल है । स्वप्नावस्था, विक्षिप्तावस्था, मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा काल्पनिक दृश्यों को रेडियो द्वारा सहज ही आभासित कराया जा सकता है । दृश्यपरिवर्तन के लिए क्षण भर का मौन पर्याप्त है ।

इन्हीं कुछ सुविधाओं के कारण रेडियो -कला प्रसार पा सकी है । विषयवस्तु की भी सीमा नहीं है । यह एक सूक्ष्म कला है अतः प्रयोग में सावधानी अपेक्षित है ।

ख- रेडियो नाटक के प्रकार

रेडियो नाटक के रूप शैली के अनुसार बदलते रहते हैं, वे निम्न प्रकार के हैं :--

क- रूपक

जिन नाटकों में नैरेटर (उद्घोषक) प्रसारण में भाग लेता है, उन्हें रूपक कहते हैं । नैरेटर वह व्यक्ति होता है जो घटनाओं की श्रृंखलाओं को जोड़ता है, वातावरण का स्पष्टीकरण करता है अथवा आवश्यक विवरण प्रस्तुत करता है । इसे दूसरे शब्दों में सूत्रधार भी कह सकते हैं ।

रूपक में वास्तविक वस्तुस्थिति का नाटकीय रूप प्रस्तुत किया जाता है । डाकुमेन्टरी फिल्में (वृत्त चित्र) भी इसके अन्तर्गत आती हैं । किसी स्थान अथवा घटना का आँखोंदेखा विवरण संस्मरण के द्वारा प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । रेडियो रूपक में भी इसी प्रकार की घटनाओं का चित्रण किया जाता है । किसी भी नीरस विषय पर वास्तविक घटना को रूपक द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रस्तुतीकरण में एकरसता नहीं आनी चाहिए, साथ ही सरसता का भी अभाव नहीं होना चाहिए ।

ख- रूपान्तर

रंगमंचीय नाटकों, उपन्यासों अथवा कहानियों को परिवर्तित कर प्रसारित करना रेडियो रूपान्तर है। इस प्रकार के रूपान्तरों में कथावस्तु के मोड़ों को वाद्य संगीत के माध्यम से आभासित कराया जाता है। काल, स्थान तथा पात्रों के परिवर्तन की स्थिति का आभास देने के लिए वाद्य प्रभाव अधिक महत्व रखते हैं। बड़े-बड़े उपन्यास और नाटक इस काल की सीमा में आकर संक्षिप्त रूप में अत्यन्त प्रभावशाली बन जाते हैं।

- फैन्टेसी (अतिकल्पना)

यथार्थ जगत में जिन घटनाओं का होना सम्भव नहीं हो पाता है, उनका प्रस्तुतीकरण इस कला द्वारा आसानी से हो जाता है। इस प्रकार के माध्यम से अति कल्पना के चित्र अथवा किसी विचार या मानसिक अनुभूति की अभिव्यक्ति सुविधा पूर्वक हो जाती है। स्वप्नावस्था की स्थिति का चित्रण भी इस माध्यम द्वारा सजीव रूप से प्रकट हो सकता है।

घ- मोनोलॉग (स्वगतनाट्य)

यह एकपात्रीय रेडियो नाट्यरूप है। जिन घटनाओं में आन्तरिक द्वन्द्व अधिक रहता और उसका उद्घाटन मोनोलॉग द्वारा आसानी से हो सकता है।

ङ०- संगीत रूपक

इस नाट्यरूप में गीतों की प्रधानता रहती है। ये नैरेटर किसी स्थान, घटना अथवा पौराणिक कथा का वर्णन गीत शैली में कथोपकथन के माध्यम से करते हैं। उपर-सूत्रधार के द्वारा कथावस्तु का भी उद्घाटन होता है। साथ ही चरित्रों के भी रूप उपस्थित हो जाते हैं। वातावरण की सृष्टि भी सपनवत् ध्वनियों द्वारा सम्भव होती है।

च- फ़ीचर/झलकियाँ

पांच अथवा छ: छोटी-छोटी नाटिकाओं के समूह को झलकियाँ कहते हैं। सूक्तियाँ या छोटे-छोटे गल्प जिस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं में छपने पर पाठकों का विनोद करते हैं,उसी भांति रेडियो की झलकियाँ श्रोताओं का मनोविनोद करती हैं। वास्तविक वस्तुस्थिति का भी इनके द्वारा प्रस्तुतीकरण होता है।

छ- प्रगति

रेडियो-नाटक-लेखकों में अधिकतर वे ही हैं, जो रंग नाटक लिखते हैं। जिन्हें मंच का पर्याप्त अनुभव नहीं है, वे केवल रेडियो-नाटक लिखने में ही रुचि लेते हैं। इन दोनों प्रकार के लेखकों में डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, विष्णुप्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायणलाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, रेवतीशरण शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ'अश्क', अमृतलाल नागर तथा राजेन्द्र सिंह बेदी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इधर नये उभरते लेखकों में विनोद रस्तोगी तथा राजेन्द्र तिवारी के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

ज- प्रमुख लेखक

डा० रामकुमार वर्मा

वर्मा जी के रंगनाटकों को ही बहुधा रेडियो पर प्रसारित किया जाता है। बहुत बार वे केवल रेडियो के लिए भी लिखते हैं। 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' रेडियो नाटक है। उसमें कबीर का समस्त जीवन जन्म से मृत्यु तक वर्णित है। प्रस्तुतकर्ता के द्वारा कथोद्घाटन होता है। वर्मा जी के सामाजिक तथा पारिवारिक एकांकी रेडियो शिल्प के लिए भी उपयुक्त हैं। इनका 'रिहर्सल' नाटक कईबार रेडियो पर प्रसारित हुआ है, अब [illegible] भी कम नहीं हुए हैं। उनका कथन है कि ऐतिहासिक

एकांकी रंगनिर्देश एवं वेशभूषा के आकर्षण से सम्पन्न रहते हैं। अत: वे मंच पर आकर्षक लगते हैं। यह आकर्षण रेडियो पर सम्भव नहीं है। सामाजिक और पारिवारिक कथानकों में इस प्रकार का बन्धन नहीं रहता। "सप्तकिरण" संग्रह के "फैल्टटोप", "छोटी सी बात" तथा "आंखों का आकाश" रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक एकांकी संग्रह "दीपदान", के सभी नाटक "दीपदान", "भाग्यनक्षत्र", "कृपाण की धार", "बात का रहस्य और मर्यादा की वेदी" उत्तम रेडियो नाटक हैं। वर्मा जी के नाटकों के सृजन में मानसिक प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण रहता है। अत: उनके नाटक रेडियो के लिए अधिक उपयुक्त बन पड़ते हैं। इस शिल्प-विधि के कारण उनके नाटक दर्शकों को और श्रोताओं को समानरूप से आकृष्ट करते हैं। डा० वर्मा दृश्यों के स्थान पर अन्तर्दृश्य भी रखते हैं। "भरत का भाग्य" में भरत राम के आगमन का समाचार पाकर स्वागत की तैयारियां करते हैं। वे प्रथम अन्तर्दृश्य में गुरु वशिष्ठ का आशीर्वाद और आज्ञा लेने जाते हैं। दूसरे अन्तर्दृश्य में कौशल्या मां को यह समाचार सुनाने जाते हैं। तीसरे में शत्रुघ्न से इसी सम्बन्ध में वार्ता करते हैं। चौथे अन्तर्दृश्य में नन्दि ग्राम में राम आकर सभी से मिलते हैं।

२- पं० उदयशंकर भट्ट

रंगनाटक लिखने में उदयशंकर भट्ट का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। रंगमंच का शिल्प भावनाट्य में उतना अधिक नहीं उभरा जितना रेडियो शिल्प। भाव नाट्य इनकी अपूर्व देन है। ये सभी नाटक रेडियो शिल्प के लिए बहुत उपयुक्त हैं, यद्यपि इनका रंगमंचीय प्रभाव भी कम नहीं है। "विश्वामित्र", "मत्स्यगन्धा", "राधा", "कालिदास", "मेघदूत" "विक्रमोर्वशी" आदि इनके उत्कृष्ट भाव नाट्य हैं। इनका प्रसारण रेडियो पर सफलतापूर्वक हुआ है। रेडियो के लिए इन कृतियों की उपयुक्तता इसलिए भी है कि इनमें अन्तर्द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्वों का तीव्र चित्रण किया गया है। रेडियो की कला ही अन्तर्द्वन्द्वों को सर्व रस देने में उत्कृष्ट होती है।

३- सेठ गोविन्ददास

इन्होंने दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं। इनके रंगनाटक उपदेशात्मक अधिक हो गये हैं। उनमें विस्तार कभी अधिक है। लम्बे-लम्बे सम्वाद और दृश्यों के प्रयोग में कलात्मकता निखर नहीं पाई। इनकी अपनी विशेष देन अब मोनोलाग है। सेठ जी ने एक पात्रीय नाटक "प्रलय और सृष्टि" "अलबेला" "शाप और वर" "सच्चा जीवन" लिखा इनका प्रसारण रेडियो के लिए उपयुक्त है।

४- उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्रनाथ अश्क ने रंगमंच के लिए लिखे गये एकांकियों के साथ रेडियो एकांकी भी लिखे हैं। इनके नाटकों में हास्य-व्यंग्य की प्रमुखता है।

५- नव्य(नवीन) रचनाएं

कुछ प्रसिद्ध कथाकार भी इस दिशा में सफलतापूर्वक रचना कर रहे हैं। विष्णुप्रभाकर इसी प्रकार के लेखक हैं। इन्होंने पौराणिक विषयों पर "गंगा", "जन्माष्टमी" "शिवरात्रि" तथा "समुद्रमंथन" आदि रचनाएं रेडियो-नाटक के रूप में लिखी हैं। कथाकार होने से इन्होंने अनेक कहानियों को भी रेडियो रूपक में रूपान्तरित किया है। प्रभाकर माचवे के रेडियो नाटक में चिन्तन प्रधान है। "कमलुवा" अपनी अपनी ढपली", "कारतून" "गली के मोड़ पर", "पुराने वायदे", अफसरी", "गलत नम्बर" आदि इनके प्रसिद्ध रेडियो-नाटक हैं। रेवतीशरण शर्मा ने "आंसू" "मन्नी की मौत" "नायक हट गये", "अंधेरा उजाला" आदि रेडियो नाटक लिखे हैं। सिद्धनाथ कुमार के "शाप", "लोककथा", "विकलांग का देश, आदि अच्छे रेडियोनाटक हैं। गिरिजाकुमार माथुर के रेडियो-नाटक में बेकारी तथा मन की घुटन का

चित्रण किया है। इनकी प्रमुख रचनाओं में 'शान्ति विसर्जिता' तथा 'मेघ की छाया' प्रमुख है। विनोद रस्तोगी के रेडियो रूपक सामाजिक घटनाओं पर लिखे गये हैं। 'डाक्टर इसे बचाओ' 'पैसा', 'अनदेखा और लड़की' पैसा, पानी बच्चा तथा अँधेरा, 'फिसलन' और पाँव' आदि इनकी व्यंग्य रचनाएं हैं। जगदीशचन्द्र माथुर अमृतलाल नागर, जयनाथ नलिन, राजेन्द्र तिवारी, हरिश्चन्द्र खन्ना, राजेन्द्र सिंह बेदी, नरेश मेहता आदि भी अच्छे नाटककार हैं। इनसे इस दिशा में नये-नये प्रयोगों की आशा है। रेडियो नाटक का भविष्य टेलीविजन के कारण और अधिक आशावान है।

इस प्रकार नाट्यों में अनेक विधाएं युग के परिवेश में अपना स्वरूप निर्धारण कर रही हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य समृद्ध हो रहा है।

-o-

अध्याय -- ७

अभिनेयता के मानदण्ड

अध्याय --७

अभिनेयता के मानदण्ड

पृष्ठभूमि

दृश्यकाव्य की सर्वांगीण सफलता का श्रेय अभिनेयता को ही है । वह नाट्य-कृति और रंगमंच की सीमाओं में रहते हुए वस्तुसंगठन, दृश्यविधान, कथोपकथन, प्रभावोत्पादकता तथा रसात्मकता के गुणों की, अभिव्यक्ति होती है । इसमें दर्शक-मनोविज्ञान का प्रयोग आवश्यक है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिनेय नाटक में नाटककार के अलावा पात्रों के अतिरिक्त दर्शक भी रहते हैं । दर्शकों का सम्बन्ध रंगमंच से होता है । अतः नाटक रंगमंच की विभूति के रूप में मान्य है । प्राणवान् नाटककार अपने नाटकों द्वारा रंगमंच की दिशा में भी परिवर्तन लाता है । रंगमंच के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्राचीन संस्कृत रंगमंच की अपेक्षा हिन्दी के आधुनिक रंगमंच में पर्याप्त अन्तर है । इस परिवर्तन से यह सिद्ध नहीं होता कि नाटक और रंगमंच का अन्तर्सम्बन्ध पहले जैसा नहीं है । नाटक का रंगमंच से वही सम्बन्ध है, जो बीज का वृक्ष से है । वृक्ष के अभाव में बीज की कल्पना नहीं की जा सकती और बीज के अभाव में वृक्ष भी अपनी परम्परा स्थापित नहीं रख सकता । जिस प्रकार विकारग्रस्त बीज वृक्ष उत्पन्न करने में असमर्थ है, उसी प्रकार नाट्यकला की समुचित व्यवस्था के अभाव में नाटक रंगमंच पर सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । यह नाट्य-कला हर युग में परिवर्तित होती रही है । अभिनय के विकासक्रम पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा ।

नाटकों की अभिनेयता प्रत्येक युग में विकास पाती रही है । संस्कृत काल से आज तक के नाटकों के प्रस्तुतीकरण का इतिहास इसका साक्षी है । रोमांस तथा काल्पनिक वातावरण के स्थान पर जब नाटक में वास्तविकता का विकास हुआ तो रंगमंच पर नाटक के प्रस्तुतीकरण में भी यथार्थ परिवर्तन हुआ । परिणामस्वरूप नाटक में अब श्रव्य का अभाव हुआ, उसका आकार छोटा हुआ, संकलनत्रय के परिवर्तित दृष्टिकोण के साथ ही नाटक में रंगमंच का समुचित प्रयोग होने लगा । नाटक में अभिनेयता एक साधन है, जिसके द्वारा नाटककार अपने भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है । इस पर भारतीय नाट्य शास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि के विचारलाभ भी उपयोगी हैं ।

अभिनय का अर्थ

भरत मुनि के मत से 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'णी' धातु का अर्थ है— सामने ले जाना । इस प्रकार अभिनय का अर्थ है — नाटक के प्रयोग में (शाखा,अंग,उपांग के सहित) नाटक के मूल भाव को प्रेक्षक के सामने ले जाना । अभिनेता आंगिक (चेष्टा) वाचिक(शब्द) आहार्य (वस्त्र एवं रूप सज्जा) तथा सात्विक (भावात्मक) चार प्रकार के अभिनयों द्वारा नाटक के तात्पर्य को प्रेक्षक के सामने पहुंचाता है । अतः जिस नाटक के प्रयोग में अभिनेता को इन उपर्युक्त अभिनय-प्रयोग के प्रकारों का पूर्ण अवसर मिले वह प्रेक्ष्य नाटक कहलाता है । इसके विपरीत जिसमें केवल वाचिक अभिनय का ही प्राधान्य हो वह नाटक पाठ्य हो सकता है । संस्कृत के ही एक अन्य विद्वान् [illegible] ने अभिनय की परिभाषा अन्य प्रकार से प्रस्तुत की है ।

१— अभिपूर्वस्तु णी धातुराभिमुख्यार्थ निर्णये ।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मा दभिनयः स्मृतः ।।
विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः ।
शाखा गोपांग संयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ।।
(नाट्यशास्त्र अध्याय८)

अभिनाभ्याभिमुख्यं न शब्देनाभिधेय: य शब्देन-
उपस्तीर्ति स्वपाङ्गीन्कुर ।
प्रेक्षकाणामभिमुख्यं पार्श्वदेशेऽर्थक्ताङ्गं क्वी-
कुर्वन्तान परिवर्तीन च यन्त्रवर्धाय मभिनयेत ।।[1]

स्पष्ट है कि जो कला सामाजिक का ध्यान काव्य के विषयों से हटाकर रंगमंच पर होने वाले दृश्य की ओर निरन्तर लगा सके, वह अभिनय कला है । अर्थात् जिस नाट्य-रचना में इतना सामर्थ्य हो कि कुशल अभिनेता सामाजिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके, वह अभिनेय मानी जाना आवश्यक है ।

संस्कृत नाट्यशास्त्रियों की परिभाषा आज भी अपना मूल्य रखती है । फिर भी जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, कि प्रत्येक युग की मान्यताओं के साथ ही नाट्यकला में भी अन्तर आता है । पश्चिमी नाट्यकला के प्रभाव से हिन्दी नाट्यकला का जो स्वरूप निर्धारित हुआ, उसका स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है । इसमें आधुनिक युग के नाटकों का रंगमंच के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट हो सकेगा ।

नाटक और रंगमंच

आधुनिक नाटक की सफलता में दर्शकों का बहुत बड़ा हाथ है । वस्तु, नेता और रस इन भारतीय तत्वों के अतिरिक्त आज नाटक में चौथा आवश्यक तत्व दर्शक बन गया है । वह नाटक का भोक्ता है । इसकी सन्तुष्टि से पृथक् नाटक अभिनेय नहीं होगा । दर्शकों के अतिरिक्त नाटक में उचित दृश्य-विधान रहे । दृश्यविधान की उपयुक्तता पर अन्यत्र

१- डा० दशरथ ओझा : नाट्य समीक्षा, पृ०३६ ।

यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है । दृश्यविधान की उपयुक्तता के साथ ही नाटक में पात्रों की समुचित व्यवस्था रहे । उनका निर्धारण मनोविज्ञान सम्मत हो । पात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण से नाटक की कथावस्तु में संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व की सम्भावनाएं उत्पन्न होती हैं, जिनमें आधुनिक नाटकों की सफलता अन्तर्मुक्त रहती है । अतः पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान के आधार पर किया जाना अपेक्षित है । अभिनेय नाटक का एक अन्य आवश्यक तत्व आकस्मिकता है । इससे नाटक भस्म रहित अंगारे की भांति चमकने लगता है । इसी प्रकार अभिनेय नाटक के सम्वाद छोटे-छोटे चुस्त एवं प्रभावोत्पादक हों । उनमें कथावस्तु के उद्घाटन के साथ ही चरित्रों को विकसित करने की भी क्षमता रहे । स्वगत कथन यदि नाटक में रहे जायें तो उन्हें मनोविज्ञान से परिचालित रखा जाय साथ ही वे छोटे भी रहें । अभिनेय नाटक की भाषा भावानुकूल होनी आवश्यक है । इन सभी तत्वों का यथास्थान विवेचन हुआ है । यहां इनका संकेत आधुनिक नाटक तथा रंगमंच का अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से किया गया है ।

इन उपर्युक्त दृष्टियों को ध्यान में रखकर अभिनेय के मानदण्डों की स्थापना की जा सकती है । डा० दशरथ ओझा ने दृश्य तथा पाठ्य-नाटकों का अन्तर विस्तार से दिखलाया है । उसी नाटकों के अभिनेय मानदण्डों पर विचार किया जा सकता है ।

अभिनेय नाटक के आवश्यक तत्व

क- आकार

अभिनेय नाटक में उसके आकार का बहुत महत्व है । अभिनेय नाटक की अपनी सीमाएं रहती हैं । वह रंगमंच के पर अभिनेताओं द्वारा खेला जाता है । उसके श्रोता भी मनुष्य ही होते हैं , जो एक ही बैठक में नाटक देखते हैं । अतः रंगमंच पर से नाटक की सफलता

होते हैं, जो आकार में छोटे होते हैं । इस प्रकार के नाटकों का
प्रस्तुतीकरण दो-तीन घण्टों के अन्दर ही किया जाना सम्भव होता है ।
साहित्यिक प्रकृति के नाटक लोकनावश्यक मनोरंजन से रहित होते हैं, अपी-
विचार में ही सीमित रहते हैं ।

ख- <u>वस्तु संगठन</u>

अभिनेय नाटक में पाठ्य-नाटक की तरह काव्य
कौशल्य एवं अलंकृत वर्णन के लिए स्थान नहीं रहता । अभिनेता दीर्घ काल
तक किसी एक ही स्थिति में नहीं उलझ सकते हैं । दर्शक भी वार्तालाप की
अपेक्षा नाटक में क्रियाशीलता चाहते हैं । कोरे विवाद में, जिनमें अभिनेय
क्रियायें उत्पन्न करने की क्षमता का अभाव होता है, नाटकीय वस्तु संगठित
नहीं रह पाती । अभिनेय नाटक के लिए संगठित कथावस्तु की नितान्त
अपेक्षा है । कथावस्तु के संगठन के लिए नाटककार घटनाओं का चयन
केन्द्रबिन्दुओं के माध्यम से करता है, जिससे पात्र के पूर्व जीवन का स्पष्टीकरण
होता है तथा उसका भविष्य आभासित हो जाता है । अतः अभिनेय नाटक
में कथावस्तु का सम्पूर्ण भाग पूर्ण, दृश्य, उद्देश्य और नाटकीयता से युक्त रखा
जाता है ।

नाटक में वस्तु का विकास भारतीय नाट्य-
सिद्धान्त के आधार पर आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम
से परिभाषित हो अथवा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त प्रारम्भ, विकास, चरम
सीमा, निगति एवं अन्त के आधार पर हो, पर उसका सुगठित होना
आवश्यक है ।

ग- कथानक के प्रकार

कथानक के प्रकार की दृष्टि से भी नाटक का अभिनेय होना, न होना निर्भर करता है । नाटक का कथानक ऐतिहासिक,सामाजिक तथा पौराणिक-- मुख्यतया तीन प्रकार का होता है । इनमें पौराणिक (धार्मिक) प्रकार का नाटक बहुधा रंगमंच की दृष्टि से असफल होता है । वह पारसी रंगमंच पर भले ही सफल हो जाय, पर बौद्धिक दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाता । वे संघटनपूर्ण ,कौतूहलपूर्ण ,कुतर्कों को संयुक्त करने वाले नाटक देखना अधिक पसन्द करते हैं । ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों में उत्थान तथा पतन की स्थितियाँ अधिक रहती हैं । इससे नाटक में अभिनेयता का विकास होता है । अतः अभिनेय नाटक के कथानक का चयन सावधानी से किया जाना अपेक्षित है । प्रतिभा सम्पन्न नाटककार के लिए इस प्रकार का बन्धन महत्व नहीं रखता । वह किसी भी प्रकार की कथावस्तु में प्राण फूंक सकने में समर्थ होता है ।

घ- दृश्यविधान

अभिनेय नाटक का दृश्य-विधान इस प्रकार का रहे कि प्रयोक्ता सुविधापूर्वक उसे संयोजित कर सके । नाटक की कथा-धारा पर क्रमहीनता का बोझ न हो । दो लम्बे दृश्यों के बीच एक छोटे दृश्य की अवधारणा रहे ताकि प्रयोक्ता को क्रमिक विकास में बाधित न होना पड़े । प्रत्येक अंक में दृश्य संख्या क्रमशः कम होती जाय साथ ही आकार में भी लघुता रहे । दृश्यों में रंगमंच की सभी सामग्री निर्दिष्ट रहे,जिससे संयोजन से नाटक सफलता पूर्वक मंचित हो सके । असम्भव दृश्यों की कल्पना अभिनेय नाटक में न रहे । देश,काल तथा क्रिया की एकता का ध्यान दृश्य-विधान में अवश्य हो । इस प्रकार सुनियोजित दृश्य विधान वाला नाटक रंगमंच के लिए उपयुक्त रहता है । दृश्यपटों के प्रयोग के अतिरिक्त स्थान पर बनावटी दृश्य सज्जा

के कारण उपर्युक्त मान्यताएं अभिनेय नाटक के लिए आवश्यक हैं ।

ठ०-पात्रों की वक्तृता

प्रेक्ष्य नाटक के पात्र संश्लिष्ट एवं भाव व्यंजक भाषा में तीर की भाँति चुभनेवाले छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं । लम्बी वक्तृता आकर्षण के अभाव में नाटक की क्रियाशीलता में बाधक होती है । इस प्रकार की वक्तृता दर्शक भी पसन्द नहीं करते । अतः वक्तृता चमत्कार युक्त हो जो बातचीत वाली पद्धति से युक्त रहे । यह चमत्कार मात्र मनोरंजनार्थ न रखा जाय । मनोरंजन के साथ ही कथोपकथनों से कथा का उद्घाटन हो साथ ही पात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता रहे । इसप्रकार कथोपकथनों द्वारा नाटक की अभिनेयता में बाधा उपस्थित न हो ।

स्वगत कथन,आकाश भाषित तथा जनान्तिक आदि के प्रयोगों में सावधानी रहे । आकाशभाषित तथा जनान्तिक का प्रयोग आज नाटक से अस्वाभाविक मानकर बहिष्कृत कर दिया गया है । स्वगत-कथन का प्रयोग अब नाटक में आन्तरिक भाव प्रकट करने के लिए किया जाता है । स्वगत कथन संक्षिप्त,प्रभावशाली तथा नाटक में गति भरने वाला रहे । बार-बार पन्ने के लम्बे स्वगत कथन अभिनेय नाटक के लिए अनुपयुक्त हैं ।

अतः नाटक में सम्वाद-विधान(वक्तृता) स्वाभाविक रहे,जिससे अभिनेता को अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सके । साथ ही वह दर्शकों के लिए सरल तथा बोधगम्य भी हो ।

ड- रंगनिर्देश

अभी नाटककार थोड़े-बहुत रंगनिर्देश अपने नाटक में निर्दिष्ट करते हैं । रंगनिर्देश नाटक में अनेक दृष्टियों से दिये जाते हैं । रंगमंच पर वातावरण तथा दृश्य बनाने के लिए ही ये निर्देश होते हैं । इस प्रकार निर्देशों द्वारा देश,काल तथा स्थिति का पता प्रस्तुतकर्ता को मिलता है । इन रंगनिर्देशों से ही नाटककार पात्रों का परिचय,रूपाकार तथा आयु

छ- दर्शक स्तर

नाटक जिस प्रकार के दर्शकों के लिए लिखा गया है- उसके स्तर का संकेत भी नाटक में ही आता है । दर्शकों की बोधगम्यता से परे नाटक अपने उद्देश्य में सफल नहीं रहता । यदि नाटक का उद्देश्य पूरा न हुआ तो नाटककार का परिश्रम व्यर्थ जाता है । अतः अभिनेय नाटक में उसके लेखक का ध्यान अपने दर्शकों के स्तर पर भी रहे, तभी नाटक रंगमंच पर सफलता प्राप्त करता है ।

नाटक में शिक्षित-अशिक्षित, भावुक-चिन्तक, स्त्री-पुरुष तथा सभी स्तर के दर्शक एक साथ आनन्द एवं शिक्षा प्राप्त करते हैं । अभिनेय नाटक एक ही अभिव्यक्ति में सभी को समानरूप से प्रभावित करता है । अतः रंगमंच के उपयुक्त नाटक में दर्शकों के मनोविज्ञान का ध्यान रखना अपेक्षित है ।

ज- प्रभाव

अभिनेय नाटक का अपना एक प्रभाव होता है, जिससे नाटक को सफलता प्राप्त होती है । किसी यथार्थ घटना या व्यक्ति ने जिस प्रकार का प्रभाव व्यक्ति पर डाला है, नाटक से भी उसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हो । किसी घटना अथवा चरित्र के प्रति सामाजिक धारणा यदि दृढ़ हो तो नाटक में उसका निर्वाह आवश्यक है । दृढ़ भावनाओं के विपरीत प्रभाव स्थापित करना नाटक के महत्त्व को कम करता है । वह स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्थापित करे । नाटक की सफलता के हेतु उसमें मनोरंजन के साथ शिक्षा भी रहे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त अभिनय सम्बन्धी मानदण्डों के आधार पर लिखा गया नाटक रंगमंच पर अवश्य ही सफलता प्राप्त करता है । विषय की अधिक स्पष्टता के लिए भारतीय तथा

पाश्चात्य विद्वानों के अभिनय सम्बन्धी विचारों को भी देना आवश्यक प्रतीत होता है । प्रथम भारतीय नाट्य शास्त्रियों के विचारों को दिया जा रहा है--

<u>भारतीय दृष्टि</u>

आचार्य भरत ने अभिनेय नाटक के लक्षण बताते हुए काव्य को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है --

मृदु ललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यं
बहुकृतरस मार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकंप्रेक्षकाणाम् ।[1]

वह नाटक दर्शकों के सामने अभिनीत बनता है, जिसके शब्दों में मार्दव अथवा लालित्य हो, जिसके शब्द गूढ़ार्थ एवं क्लिष्टार्थ से भिन्न हों, जो जनपद द्वारा भी सरलता से समझने योग्य हों, जिसका अभिनय नृत्य के आधार पर किया जा सके, विविध भावों के द्वारा जिसमें रस का परिपाक किया जा सके तथा जो संधि-सन्धान युक्त हो ।[2]

भीव के शृंगार प्रकाश से भी स्पष्ट है कि संस्कृत के नाटक काव्य एवं अभिनयगुणों से युक्त होते थे । बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते संस्कृत के नाटक पाठ्य ही रह [illegible] । आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी ने भी अभिनेय नाटक के सम्बन्ध में अपने विचार निम्नप्रकार व्यक्त किये हैं --

---

१- डा० दशरथ ओझा--"नाट्य समीक्षा",पृ०४०
२- ,, ,, पृ०४१

"अभिनय के चार अंग— आंगिक,वाचिक,आहार्य और सात्विक में सात्विक अभिनय से युक्त नाटक ही अभिनेय कहा जायगा । जो नाटक सभी प्रकार की[1] प्रकृति के दर्शकों को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो अभिनेय होगा ।"

इस भांति अभिनेय नाटक भारतीय दृष्टि से पाठ्य नाटक की सीमाओं से अलग उपर्युक्त दृश्य नाटकों की मान्यताओं से युक्त होता है । अब पाश्चात्य विद्वानों के मतों पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है —

पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य विद्वान् साहित्यिक गुणों पर ही ट्रेजेडी का महत्व निर्धारण करते हैं तथा अभिनय गुणों को निम्न स्थान प्रदान करते हैं[2] । एक पाश्चात्य विद्वान् मार्लो ने प्रेक्ष्य नाटक के बारे में अपने विचार दिये हैं । उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि जो कथा दर्शकों के समक्ष दिखलाने में उपयुक्त हो, जहाँ कुछ ऐसा घटना क्रम रहे, जिसकी अभिव्यक्ति कथोपकथन द्वारा नहीं, कार्य व्यापार द्वारा हो । नाटक में स्वाभाविक चित्रण बनाने का आग्रह व तथा विविध प्रसंगों का निरूपण भी अभिनेय नाटकों में अपेक्षित है ।

इसी प्रकार नाट्यकृति "हैमलेट" में, शेक्सपियर ने हैमलेट से अभिनेताओं को कुछ निर्देश दिलाये हैं, जिन्हें पाश्चात्य नाट्यशास्त्र

१— आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : 'अभिनव नाट्यशास्त्र', पृ०७०८ ।

२— He has examined tragedy from the literary man's point of view rather as dramatic poetry than as poetic drama".

— नाट्य कविता, पृ० ३० ।

व्यक्ति पर आधारित होता है । अतः व्यक्ति का उन्नति का उद्देश्य नाटक में रहे । देश की सांस्कृतिक तथा अन्य सभी प्रकार की उन्नति नाटक में रहे । अभिनेय नाटक उपर्युक्त सभी गुणों की अपेक्षा रखता है ।

उपर्युक्त गुण अभिनेय नाटक में रहते हैं । प्रतिभासम्पन्न नाटककार इनका प्रयोग कम या अधिक मात्रा में कर सकता है । रंगमंच की सीमाओं में लिखी गयी साहित्यिक कुशलतापूर्ण कृतियाँ अभिनेय होती हैं ।

--०--

अध्याय — ८

विशिष्ट नाट्यीय संस्थाएं

अध्याय — ८

विशिष्ट नाटकीय संस्थाएं

पृष्ठभूमि

हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए कोई ठोस कदम कभी नहीं उठाया गया । इस दिशा में कुछ व्यवसायी नाट्य मण्डलियों तथा कुछ अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं का योगदान ही हिन्दी रंगमंच का इतिहास है । पारसी रंगमंच पर विचार करते समय व्यवसायी कम्पनियों पर विचार किया जा चुका है । यहाँ हम अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं के सम्बन्ध में विचार करेंगे। अव्यवसायी नाट्य संस्थाएं व्यवसायी नाट्य संस्थाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुईं । व्यवसायी कम्पनियों ने जनता में अभिनय के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर दी । व्यवसायी कम्पनियों के इतिहास पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि उनके भी दो रूप थे । प्रथम पर उर्दू तथा फारसी का प्रभाव अत्यधिक था तो दूसरे रूप पर हिन्दी भाषा तथा भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखा जा सकता है । इसी दूसरे रूप का प्रभाव हिन्दी की अव्यवसायी संस्थाओं पर माना जा सकता है ।

इस द्वितीय प्रकार की व्यवसायी कम्पनियों के साथ पौराणिक सन्दर्भों पर नाटक लिखने वाले कुछ हिन्दी लेखक थे । इनमें पं०-राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र कश्मीरी आदि के नाम प्रमुख हैं । 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' द्वारा कथावाचक के अनेक नाटक अभिनीत हुए जिनमें 'वीर अभिमन्यु' नाटक ने तो समस्त उत्तरी भारत में धूम मचा दी । इस नाटक से यह स्पष्ट हो गया कि स्वस्थ वातावरण के नाटक भी जनता में पसन्द किये जाते हैं । इस कम्पनी ने 'प्रह्लाद', 'परिवर्तन', 'सीता वनवास', 'श्रवणकुमार' तथा

'कन्नी बालक' आदि नाटकों का धूमधाम के साथ अभिनय किया । स्वस्थ वातावरण के नाटक प्रस्तुत करने में इस कम्पनी का विशेष हाथ है । इस कम्पनी से प्रभावित होकर कुछ अन्य कम्पनियां भी देशोत्थान तथा समाज-सुधार के नाटक प्रस्तुत करने लगीं । इस सम्बन्ध में [illegible] कम्पनी का 'बलि' नाटक उल्लेखनीय है । इसी दिशा में काठियावाड़ की 'सूर विजय' तथा मेरठ की 'व्याकुल भारत' कम्पनियां भी अपना महत्व रखती हैं । इन सभी कम्पनियों का ध्येय हिन्दी के नाटक खेलना तथा पारसी रंगमंच द्वारा उत्पन्न कुरुचि को दूर करना था । 'व्याकुल भारत' के स्वामी श्री विश्वम्भरसहाय व्याकुल एक कुशल संगीतज्ञ तथा नाटककार थे । उनके 'बुद्धदेव' नाटक को जनता ने पर्याप्त समादर दिया । इस संस्था द्वारा अभिनीत अन्य प्रसिद्ध नाटक 'सम्राट चन्द्रगुप्त' और 'सौमित्र' हैं । इन सुधारवादी प्रवृत्ति के रहते हुए भी उनका धनोपार्जन का ध्येय गौण नहीं हुआ । इसी से कला का विकास सम्भव नहीं हो पाया । इस सम्बन्ध में कुछ कला प्रधान प्रयास अव्यवसायी संस्थाओं द्वारा ही हुआ ।

अव्यवसायी संस्थाओं का इतिहास कतिपय उत्साही व्यक्तियों पर आधारित है । हिन्दी की अन्य आधुनिक विधाओं की तरह ही अव्यवसायी संस्थाओं का इतिहास भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही प्रारम्भ होता है । वे अव्यवसायी संस्थाओं द्वारा अभिनीत प्रथम नाटक 'जानकी मंगल' मानते हैं । श्रीकृष्णदास ने इसका उल्लेख अपने निबन्ध 'नाटक में किया है —' हिन्दी भाषा में जो पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मंगल' था । स्वर्गवासी बाबू ऐश्वर्यनारायण के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५(सन् १८६८ई०) में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से खेला गया ।'[१]

१- श्रीकृष्णदास : 'हिन्दी रंगमंच की परम्परा', पृ० ४०६ ।

भारतेन्दु जी नाट्यमंचन में स्वयं विशेष अभिरुचि रखते थे। उनके सहयोगियों का एक वर्ग था। ये सभी व्यक्ति नाटक लिखने के पश्चात् उसका मंचन भी करते थे। प्रतापनारायण मिश्र भी जो भारतेन्दु जी के सहयोगी थे, कानपुर में भारतेन्दु जी के तथा अन्य लेखकों के नाटकों का मंचन कराया। प्रयाग के पं० माधवशुक्ल एक प्रसिद्ध रंगकर्मी थे। रामलीला के साथ ही वे नाटक के स्वस्थ कलापूर्ण प्रयोग भी करते थे। हिन्दी की अव्यवसायी संस्थाओं के रंगकर्मी अभिनेताओं पर एक पृथक् पुस्तक ही लिखी जानी अपेक्षित है। इनमें देश तथा समाज के विकास के हेतु कार्य करने की एक अद्भुत लगन थी। डा० श्यामनारायण के विचार इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं— इस रंगमंच का प्रधान लक्ष्य संस्कृति, साहित्य एवं कला का प्रसार है। आज भी दो प्रकार के अनुयायी इस प्रकार के रंगमंच में प्रायः देखे जाते हैं। एक तो वे जो निःस्वार्थ भाव से कार्य करके इस रंगमंच के माध्यम से किसी महत्कार्य की पूर्ति करना चाहते हैं। दूसरे वे जो विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के अन्तर्गत अभिनय साधन से मनोरंजन करना चाहते हैं[1]।"

किसी उद्देश्य से प्रभावित होकर अथवा शुद्ध मनोरंजन से प्रेरित होकर इन अव्यवसायी संस्थाओं का इतिहास कुछ उत्साही व्यक्तियों से ही सम्बद्ध है। इन व्यक्तियों के साथ ही समय-समय पर इस प्रकार की संस्थाएं उत्पन्न होती रहीं तथा उनका अन्त होता रहा। इस प्रकार की अनेक संस्थाओं का योगदान इस दिशा में है। यहां कुछ प्रसिद्ध संस्थाओं पर विचार किया जा रहा है। कालक्रमानुसार पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सहयोगी बाबू प्रतापनारायण द्वारा स्थापित संस्था "भारत इण्टरटेनमेण्ट क्लब" की स्थापना हुई। इन संस्थाओं का जीवन काल बहुत थोड़ा रहा तथा उनका

१- श्यामनारायण पाण्डेय : 'नाट्यालोचन'

मात्र कुछ नाटकों का मंचन हो रहा है। अतः इनपर विचार करते समय स्थापना तथा उपलब्धियां शीर्षकों से इन्हें विभाजित करना उचित है। इसी प्रकार इन संस्थाओं का विभाजन १- सरकारी और २- स्वतन्त्र कोटि में भी किया जा सकता है। सरकारी संस्थाएं वे हैं, जिन्हें सरकार के वैतनभोगी व्यक्ति चला रहे हैं तथा स्वतन्त्र संस्थाएं वे थीं जिन्हें जनता के कलाप्रिय व्यक्ति संभाले हुए थे। इनपर क्रम से विचार होना उचित है

क- भारत इण्टरटेनमेण्ट क्लब

स्थापना

अट्ठारह सौ पचासी में कानपुर में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'भारत दुर्दशा' नाटक अभिनीत हुआ। इसी समय बाबू प्रतापनारायण मिश्र द्वारा इस संस्था की स्थापना हुई। इस क्लब द्वारा प्रारम्भ में हरिश्चन्द्र जी के नाटक ही खेले जाते थे --बाद को अन्य नाटककारों के श्रेष्ठ नाटकों को भी अभिनीत किया गया।

उपलब्धियां

अट्ठारह सौ छियासी ईस्वी में श्री रामनारायण-त्रिपाठी (प्रभाकर) और बाबू बिहारीलाल की सहायता से 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' नाटक खेले गये। इन नाटकों के मंचन से कानपुर के साहित्यिक सुरुचि के समाज में हिन्दी नाटकों के प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया। इस क्लब के नाटकों की व ख्याति बढ़ती गयी। 'अंधेर नगरी' नाटक का अभिनय इस क्लब द्वारा कई बार किया गया।

कालान्तर में इस क्लब के संचालकों में झगड़ा हो गया तथा सदस्यों को भागों में विभाजित कर दिया गया। इसके कुछ ही समय में इस क्लब का अन्त हो गया।

ख- रामलीला नाटक मण्डली

स्थापना

सन् १८९८ ईस्वी में स्वर्गीय पं० माधव शुक्ल, पं०बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय पुत्र पं० महादेव भट्ट और अल्मोड़ा निवासी पं०गोपालदत्त त्रिपाठी के प्रयास से इस मण्डली की प्रयाग में स्थापना हुई । इसका नाम रामलीला नाटक मण्डली इसलिए रखा गया, क्योंकि रामलीला के अवसर पर ही इसके द्वारा नाटक खेले जाते थे ।

उपलब्धियाँ

मण्डली के संस्थापक राष्ट्रीय विचारों के क्रान्तिकारी व्यक्ति थे । अतः मण्डली के नाटकों द्वारा ये लोग जनता में राष्ट्र के प्रति उत्थान की भावना भरने का प्रयत्न करते थे । इसके द्वारा प्रथम अभिनीत नाटक पं० माधवशुक्ल द्वारा रचित 'सीय स्वयम्वर' था । मंचन के अवसर पर तत्कालीन प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता पं० मदनमोहन जी मालवीय भी उपस्थित थे । नाटक में धनुषयज्ञ के अवसर पर किसी राजा द्वारा धनुष न उठा सकने पर जनक जी ने अपना परिताप कांग्रेसी नेताओं पर व्यंग्य करते हुए व्यक्त किया —'ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा और भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके । यह अत्यन्त दुःख का विषय है, साथ ही'[1]

इस व्यंग्य को श्री मालवीय जी सहन नहीं कर सके और बीच में ही उठ गये । इस क्रिया की प्रतिक्रिया यह हुई कि मण्डली के कार्यकर्ताओं में विरोध हो गया और मण्डली शीघ्र समाप्त हो गयी ।

हिन्दी नाट्य समिति

स्थापना

सन् १९०८ में पं० माधवशुक्ल के प्रयास से इस समिति की

१- श्रीकृष्णदास : 'हिन्दी रंगमंच की परम्परा', पृ० ६२४ ।

स्थापना हुई । पं० शुक्ल के साथ इस समिति के सदस्य पं०बालकृष्ण भट्ट, श्री प्रयागचन्द्र प्रसाद, बा० सीतानाथ, बा० मुक्तिप्रसाद, पं०लक्ष्मीनारायण नागर, बाबू मैथिल, बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० सत्यानन्द जोशी; पं० मुरलीधर मिश्र और 'प्रेमघन' जी आदि महानुभाव थे ।

उपलब्धियाँ

समिति द्वारा सर्वप्रथम पं० राधाकृष्ण दास कृत नाटक 'महाराणा प्रताप' खेला गया । बाबू राधाकृष्ण जी रोगग्रस्त होने पर भी उसका अभिनय देखने प्रयाग आये । इस नाटक की भूमिकाओं में काम करने वाले अभिनेता निम्न प्रकार से थे ।

'महाराणा प्रताप- पं०माधवशुक्ल, मानसिंह- प्रमथनाथ बी०ए०, मालती- बाबू धीरेन्द्रनाथ बनर्जी, गुलाब सिंह- पं०कमलाकान्त भट्ट। कविराज की भूमिका में पं० महादेव भट्ट ने काम किया ।'[1] समिति द्वारा दूसरा नाटक १९१५ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन पर बाबू श्यामसुन्दरदास की अध्यक्षता में पं०माधवशुक्ल कृत 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) खेला गया । इस नाटक में माधव शुक्ल ने भीम की भूमिका निर्वाह किया । अन्य भूमिकाओं में धृतराष्ट्र-महादेव भट्ट, दुर्योधन- राधाबिहारी शुक्ल, युधिष्ठिर- प्रमथनाथ, शकुनि-कमलाकान्त भट्ट, अर्जुन-पुरुषोत्तमनारायण कक्कड़, संजय- रामनारायण दूर, विदुर-वेणी शुक्ल और द्रौपदी की भूमिका में धीरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कार्य किया । इस नाटक की सफलता पर बाबू शिवपूजन सहाय ने निम्न शब्दों में प्रशंसा की थी —'यदि मैं अत्युक्ति रहित कह सकता हूँ पं० माधव शुक्ल जैसा भीम पं० महादेव भट्ट जैसा धृतराष्ट्र आज तक मैंने किसी मंच पर नहीं देखा तो मैं यह भी जोर देकर कहना चाहता हूँ पं०राधाबिहारी शुक्ल जैसा दुर्योधन भी मैंने कहीं नहीं देखा है ।'[2]

१- श्रीकृष्णदास : 'हिन्दी रंगमंच की परम्परा', पृ० ६३६ ।

२- माधुरी, वर्ष ८, खण्ड १, पृ०८५३ ।

उपलब्धियां

संस्था द्वारा अभिनीत नाटकों में 'क्रूरट कहीं', 'महाभारत' 'भीष्म पितामह' 'वीर बालक अभिमन्यु' 'कामसुरबाग' 'विल्व मंगल' 'संसार स्वप्न' 'कलियुग' 'पाप परिणाम और 'अत्याचार' अधिक प्रसिद्ध हैं। संस्था द्वारा अभिनीत 'क्राइट कहीं' नाटक पर भारत जीवन ने अपनी टिप्पणी दी थी --"मण्डली दिन प्रति दिन उन्नति कर रही है। प्रत्येक पात्र ने अपना पाठ उत्तमता से दिखलाया... जितने पात्र स्टेज पर आये सब स्वदेशी वेशभूषा में थे। किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र नहीं दिखलायी पड़ा।"

इससे यह स्पष्ट है कि पारसी कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत वेशभूषा में ऐतिहासिकता का ध्यान नहीं रखा जाता था तथा मनमाने तरीके से प्रस्तुतीकरण होता था। व्यवसायी संस्थाओं के द्वारा कला के साथ ही व्यावसायिकता का भी विकास हुआ।

एम० ए० मण्डल

स्थापना -- श्री भैरवदास वर्मा तथा कौलवाड श्री वजीहुद्दीन के सहयोग से इस संस्था की स्थापना हुई। यही ऐसा मण्डल था, जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के नाटक खेले जाते थे। प्रेम मुहब्बत के नाटक यदि मुसलमानों के लिए खेले जाते थे तो धार्मिक नाटक हिन्दुओं के लिए अभिनीत होते थे। इस मण्डल को इस कारण अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं।

उपलब्धियां

इस संस्था ने 'सब्बर सब्र' तथा 'गौरक्षा' नाटक अत्यधिक शान्तिमय वातावरण में अभिनीत किये। कुछ समय में इस मण्डल का

एकमात्र 'भारत रंजी सभा' के नाम से प्रसिद्ध हो गया । यह उन लोगों का प्रयास था जो उर्दू पारसी के नाटकों का मंचन पसन्द नहीं करते थे । इसपर 'ब्राह्मण' पत्र ने टिप्पणी इस प्रकार दी थी —' दूसरी संस्था जो थी 'एल० ए० कलब' का ही बदला हुआ रूप थी 'भारत रंजी सभा'[१] । इसके द्वारा हिन्दी - प्रेमियों ने विशुद्ध हिन्दी नाटक अभिनीत किये ।'

आपसी मतैक्य के अभाव में इस संस्था का भविष्य भी अधिक उज्ज्वल नहीं रह सका और कुछ समय कार्य करने के पश्चात् ही इसका अन्त हो गया ।

पृथ्वी थियेटर

स्थापना

१५ जनवरी सन् १९४४ ई० में प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता श्री पृथ्वीराज कपूर ने इस संस्था की स्थापना बम्बई में की थी । इसके द्वारा पृथ्वीराज ने घूम-घूम कर देश के अनेक शहरों में नाटक अभिनीत किये ।

उपलब्धियां

पृथ्वी थियेटर द्वारा अभिनीत नाटकों में 'गद्दार' 'पठान' और 'आहुति' अधिक प्रसिद्ध हुए । इन नाटकों के कथानक सामाजिक समस्या प्रधान हैं । 'आहुति' नाटक में एक पंजाबी लड़की जानकी अपने मां-बाप से अलग हो जाने पर मुसलमानों के घर रहती है । कुछ समय पश्चात् लड़की अपने मां-बाप को मिलती है । बाप लड़की की शादी हिन्दू परिवार में करना चाहता है । कोई प्रतिष्ठित पंजाबी उसे स्वीकार नहीं करता ।

१- 'ब्राह्मण' १५ अगस्त १८८८ ई०,पृ० ३४,भाग ५

परिस्थिति से तंग आकर जानकी पहाड़ी से गिरकर अपना जीवन समाप्त कर लेती है । जानकी का पिता मृतक लड़की का शरीर अपने हाथों पर उठाकर कहता है— "यह है समाज के अग्नि-कुण्ड में आहुति ।" यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता है । प्रभावशाली अन्त के कारण ही इस नाटक के मंचन को अत्यधिक सफलता हुई । पृथ्वी थियेटर द्वारा अभिनीत नाटकों के सम्बन्ध में लक्ष्मीशंकर व्यास के विचार देना आवश्यक है—"पृथ्वीराज के नाटकों में देश-भक्ति, साम्प्रदायिक सद्भाव एवं सहयोग का प्रचार मात्र नहीं होता, अपितु उनके नाटक उन भावनाओं का कलात्मक अभिव्यंजन करते हैं । जिस एकता, अखण्डता को राजनीतिक आन्दोलन समझौते और सम्मेलन नहीं प्राप्त कर सके उन्हें पृथ्वीराज अपने नाटकों और अभिनय से प्राप्त करना चाहते हैं । उनका यह नाट्यादर्श केवल भावना या आदर्श पर आधारित हो, ऐसी बात नहीं है, उसके लिए वास्तविक मानव स्पन्दन और हृदय की भावना का भी उसने अनुभव किया है । सामाजिक आडम्बर का पर्दा-फाश करना भी इन नाटकों का उद्देश्य है । कथोपकथन बड़े स्वाभाविक और व्यंग्ययुक्त हुआ करते हैं, जो मर्म पर सीधे चोट करते हैं । जनसाधारण की बोध-गम्यता का ध्यान, कला का निर्वाह, कथानक की व्यापकता पृथ्वीराज के नाट्यादर्श की द्योतक है ।"

पृथ्वी-थियेटर अपनी उपलब्धियों में सबसे अधिक सफलता इसलिये प्राप्त कर सका कि वह एक स्थान पर स्थायी नहीं हुआ । पारम्परिक हिन्दी रंगमंच में पृथ्वी-थियेटर अकेला है । पृथ्वीराज के फिल्म में चले जाने पर इसका अन्त हो गया ।

१- डा० दशरथ ओझा : "हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास", पृष्ठ४४

२- रामचरण महेन्द्र : "हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार", पृ०१०५-६ ।

हिन्दी रंगमंच पर इस प्रकार का सफल नाटक मैंने नहीं देखा । मेरा विश्वास है कि इस प्रकार के मंचन बंगला नाटकों के किसी भी सफल मंचन से कम नहीं । हिन्दी रंगमंच की उन्नति के लिए इस प्रकार के मंचनों की बहुत आवश्यकता है ।"

सन् १९६६ई० में सुविस्तीर्ण सांस्कृतिक आयोजन पर इलाहाबाद नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों ने संस्थान के प्रति अपना विश्वास व्यक्त किया । उन्होंने भविष्य में "भारतनाट्य संस्थान" द्वारा आयोजित मंचनों के लिए अपना हर प्रकार का सहयोग देना स्वीकार किया । पं० सुमित्रानन्दन पन्त, विधायक महोदय पं० गिरिराजचन्द्र चतुर्वेदी, आयकर आयुक्त वेंकटनारायण जी और "भारत" समाचार पत्र के प्रधान प्रबन्धक श्री कृष्णचन्द्र शर्मा ने संस्थान के दोनों मंचनों के लिए आर्थिक सहयोग व्यक्त किया । अभिनेताओं के साथ सामूहिक चित्र में सम्मिलित होकर इन महानुभावों ने उनका उत्साह वर्धन किया ।

भारत नाट्य संस्थान के अन्तर्गत विधिवत् नाट्य प्रशिक्षण देने के हेतु नाट्य निकेतन की स्थापना हुई ।

<u>नाट्य निकेतन</u>

भारत नाट्य संस्थान के तत्वावधान में इस विद्यालय की स्थापना १९७०ई० में निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की गयी —

१- हिन्दी के माध्यम से विधिवत् पाठ्यक्रम का आयोजन ।
२- प्रशिक्षण की समाप्ति पर "नाट्यप्रवीण" उपाधि तथा प्रमाणपत्र प्रदान किया जाय ।
३- हिन्दी नाटकों के माध्यम से देश में एकात्मता तथा भावात्मक एकता की प्रतिष्ठा ।
४- भारतीय जनमानस को सांस्कृतिक तथा कला से समृद्ध किया जाय ।
५- उदीयमान कलाकारों को मार्गदर्शन व प्रोत्साहित कर उनका भविष्य-पथ प्रशस्त किया जाय ।

एक दर्जन नाटक इस संस्था द्वारा अभिनीत किये जा चुके हैं ।

उपलब्धियां

सन् १९५६ ई० में अखिल भारतीय नाट्य प्रतियोगिता में अनामिका द्वारा प्रस्तुत नाटक 'संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हुआ १९६४ई० में इस संस्था द्वारा एक अखिल भारतीय महोत्सव आयोजित किया गया जिसमें हिन्दी रंगशाला का प्रारम्भिक रूप, रामलीला से आरम्भ कर, नौटंकी, पारसी थियेटर आदि पर विचार करते हुए आधुनिक नाट्य प्रयोगों पर भी विचार हुआ । इसके अतिरिक्त नाट्यलेखन, नाट्य परिचालन, और नाट्य अभिनय के क्षेत्र में हिन्दी की उपलब्धियों , संभावनाओं तथा समस्याओं के विषय में विद्वानों और कलाकारों के मध्य पारस्परिक चर्चा और वार्ता भी आयोजित की गयी । यह संस्था क्रियाशील है ।

अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि मंचन, गोष्ठियां, प्रतियोगिता, रंगमंची शिक्षा और प्रदर्शनियां आयोजित करना ही इनका कार्य है । अतः इतनी संस्थाएं ही विषय ज्ञान के लिए पर्याप्त हैं । अब सरकारी प्रयासों पर विचार करना है । सरकारी प्रयासों में 'संगीत नाटक अकादमी' तथा 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' दो संस्थाएं अधिक कार्य कर रही हैं ।

सरकारी प्रयास

भारत सरकार के प्रयास से ललित कलाओं की उन्नति के लिए जो प्रयास किये जा रहे हैं, उन्हें सरकारी नाम दिया गयाहै । ललित कला अकादमी' नाम से एक संस्था भी बन चुकी है, क्रियाशील है, पर नाटक के क्षेत्र में उपर्युक्त दो संस्थाएं ही महत्व की हैं ।

संगीत,नाटक अकादमी

स्थापना

भारत सरकार द्वारा इसकी स्थापना देश में प्रचलित विभिन्न कलाओं के संरक्षण तथा विकास को ध्यान में रखकर की गयी । अन्यान्य कलाओं पर विज्ञप्तियां, फिल्मी दृश्य तथा पुस्तकें छपवाकर संगृहीत करना भी इस अकादमी का कार्य है ।

उपलब्धियां

सन् १९५४ ई० में अकादमी द्वारा राष्ट्रीय नाट्य समारोह का आयोजन हुआ । इस अवसर पर सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में तथा संस्कृत, अंग्रेजी एवं मणिपुरी में भी नाटक प्रस्तुत किये गये । इसी वर्ष अकादमी ने संगीत नाट्य समारोह भी आयोजित किया । इसमें प्रमुख शास्त्रीय सुप्रसिद्ध व गायकों को स्वरबद्ध किया गया तथा पुराने गायकों के ग्रामोफोन रिकार्डों को खोजकर संगृहीत किया गया । भारतीय संगीत पर लिखित पुस्तकों का एक संग्रहालय भी खोला गया ।

सन् १९५५ ई० में अकादमी की ओर से लोकनृत्य का राष्ट्रीय समारोह आयोजित हुआ । १९५७ई० में भारतीय संगीत पर एक सेमिनार चलाया गया । इसमें शीर्ष विद्वानों द्वारा कर्नाटक तथा भारतीय संगीत के विभिन्न आयामों में जैसे संगीत शिक्षा, संगीत का भविष्य तथा संगीत की समस्याओं पर विचार किया गया । एक कमेटी की स्थापना कर अकादमी ने राष्ट्रीय स्तर पर श्रेष्ठ संगीत व्यक्तियों का चयन भी किया[1] ।

सन् १९५८ ई० में अकादमी ने भारतीय नृत्यकला पर एक सेमिनार आयोजित किया । इस अवसर पर लोकनृत्य की विभिन्न

१-"इण्डिया १९६१" पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली, पृ०१२४-१२५ ।

पद्धतियों का प्रादेशिक अकादमियों द्वारा फिल्मीकरण हुआ । नृत्य की समस्त क्रियाओं पर भी छायाचित्र बनाये गये । भारतीय नृत्य का प्राचीन पद्धतियों पर पुस्तकें तैयार करायी गयीं । मणिपुरी नृत्य प्रशिक्षण के लिए इम्फाल में एक नृत्य संस्थान चलाया गया ।

इस प्रकार संगीत,नाटक और नृत्य के लिए इस अकादमी द्वारा प्रति वर्ष पुरस्कार वितरण व्यवस्था का भी प्रबन्ध है । उक्त तीनों क्रियाओं के विकास के लिए अकादमी देशव्यापी कार्यक्रम चला रही है ।

<u>नेशनल स्कूल आफ ड्रामा</u>

<u>स्थापना --</u>

इस संस्था की स्थापना १९५९ ई० में संगीत,नाटक अकादमी(भारत सरकार द्वारा स्थापित 'दि नेशनल सोसैटी आफ म्यूजिक डान्स एण्ड ड्रामा) द्वारा हुई । इसके अन्तर्गत नाट्य-कला में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए तीन वर्षों का पाठ्यक्रम है । प्रथम दो वर्षों का पाठ्यक्रम सामान्यरूप से सभी छात्रों के लिए है,जिसके अन्तर्गत नाट्य साहित्य निर्देश (प्राच्य एवं पाश्चात्य) और अभिनय का अभ्यास तथा अध्ययन, निर्देशन, - दृश्यसज्जा,वेश सज्जा एवं रूपसज्जा सम्मिलित है ।

तृतीय वर्ष निम्नांकित में से किसी एक में विशेष-योग्यता प्राप्त करनी आवश्यक है :१- अभिनय,२- निर्देशन,३- सामाजिक नाटक और स्वतन्त्र रूप में या नागरिक विकास संस्थाओं के माध्यम से ग्राम वासियों के लिए रंगमंच । ४- बच्चों के लिए नाट्य शास्त्र और छोटे बच्चों को नाट्य शास्त्र का शिक्षण एवं अभ्यास तथा व्यावहारिक नाट्यशास्त्र के तरीके अपनाकर निर्देश के माध्यम से शिक्षण । विगत वर्षों में इस संस्था द्वारा निम्न नाटकों की मंच प्रस्तुति की गयी --

अध्याय --६

अभिनेय नाटकों के रूप

साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति नाट्य-विधा भी समाज की प्रतिच्छाया है । प्रत्येक युग अपनी प्रकृति में परिवर्तन उपस्थित करता है, अतः युग के साथ ही नाटक की कथा एवं शैली में भी परिवर्तन होता है । नाटक को प्रकट करने का माध्यम रंगमंच है । अतः रंगमंच में भी परिवर्तन होता रहता है ।

संस्कृत रंगमंच में पाठ्य(सम्वाद),गीत(संगीत),अभिनय (मुद्राएँ),रस (उद्देश्य) सभी को फलीभूत करने के लिए कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती वृत्तियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है । किन्तु उसके दृश्यपक्ष की पूर्ति अपेक्षाकृत आन्तरिक प्रयोगों से अधिक होती है । संस्कृत रंगमंच पर नदी,पहाड़ आदि के लिए कुछ विशिष्ट शब्द बद्ध हैं,जिनके प्रयोग से वह भाव-चित्र खड़ा हो जाता है । हरिण,अश्व,रथादि,नौका-विहार,वाटिका सिंचनादि के दृश्य अभिनय भंगिमाओं द्वारा दर्शकों को आभासित कराये जाते हैं । अभिनय मुद्राओं,दृश्यगत भंगिमाओं,संगीतमय वातावरण और कलात्मक शैलियों के माध्यम से दर्शकों को किसी विशिष्ट स्थिति का आभास दिया जाता है । इस प्रकार संस्कृत रंगमंच का स्वरूप दर्शकों के मानसिक मंच पर अधिक प्रकट होता है[1] ।

१- लक्ष्मीनारायण लाल : "रंगमंच और नाटक की भूमिका" ,पृ०४४-४७ ।

आज हिन्दी रंगमंच पर अभिव्यक्ति के माध्यम वाणी, गतिशीलता और अभिनय मुद्राएं हैं । इनकी सहायता से नाटक में जीवन के कार्य-संकलन को प्रकट किये जाते हैं । यह जीवन रंगमंच पर अनुकरण-पद्धति द्वारा अभिनेताओं के माध्यम से पुनर्निर्मित है । आधुनिक जीवन को रंगमंच पर प्रकट करने के हेतु रंगमंच की कुछ आवश्यकताएं हैं:

१- उपक्रम व उपसंहार ।
२- दृश्यपटों की योजना ।
३- परिक्रामी रंगमंच और उच्च भाष (लाउडस्पीकर) ।
४- प्रकाश-व्यवस्था ।
५- वृहद एवं लघु यवनिकाएं
६-

१- <u>उपक्रम व उपसंहार</u>

नाटक के प्रारम्भ में प्रतीकरूप में सम्पूर्ण नाटक का निष्कर्ष प्रदर्शित करना उपक्रम है । सेठ गोविन्ददास के नाटक 'प्रकाश' में प्रकाश राजाओं महाराजाओं की झूठी शान और ऐयाशी को नष्ट करता है । इसका आभास उपक्रम एक दृश्य दिखाकर किया गया है । यवनिका उठते ही एक चीनी के बर्तनों की ऊंची दुकान दिखायी पड़ती है । एक सांड आता है और उस दुकान को नष्ट कर देता है । यह सांड प्रकाश का प्रतीक एवं चीनी के बर्तनों की दुकान राजाओं की शान की प्रतीक है । उपसंहार में पुनः वही दुकान नष्ट-भ्रष्ट स्थिति में दिखायी पड़ती है । इस प्रकार उपक्रम व उपसंहार नाटक का सार प्रारम्भ एवं अन्त में प्रकट करते हैं ।

२- <u>दृश्यपटों की योजना</u>

पारसी रंगमंच पर दृश्यपटों का अत्यधिक महत्व था । इनकी सहायता से ही दृश्यों का आभास दर्शकों को दिया जाता था । नदी,

पहाड़,महल तथा अन्य किसी भी प्रकार के दृश्य,दृश्यपटों पर चित्रित रहते थे जिन्हें प्रदर्शित कर दिया जाता था । आज भी दृश्यपटों का महत्व है,जिनकी सहायता से पीछे से प्रयास में दूरी दृश्य का आभास दे दिया जाता है ।

३- परिक्रामी रंगमंच और उच्च भाव (लाउडस्पीकर)

परिक्रामी रंगमंच एक घूमता हुआ रंगमंच होता है । अनेक दृश्य इस मंच पर सजे रहते हैं , जिस दृश्य की आवश्यकता होती है, बटन दबाते ही वह दृश्य दर्शकों के समक्ष प्रकट हो जाता है । इससे संकलनत्रय का बन्धन नाटकों के लिए सरल हो गया । इसी प्रकार रंगमंच पर लाउडस्पीकर अत्यधिक आवश्यक वस्तु है । इसके अभाव में अभिनेता के शब्द दर्शकों तक नहीं पहुंच सकते ।

४- प्रकाश व्यवस्था

दिन और रात के समय प्रदर्शित करने के लिए एवं , अभिनेताओं की भाव भंगिमाएं दिखाने के लिए प्रकाश-व्यवस्था आवश्यक तत्व है । इसपर पिछले अध्यायों में विचार किया जा चुका है ।

५- वृहद एवं लघु यवनिकाएं

उपक्रम एवं उपसंहार के दृश्य प्रदर्शित करने के लिए लघु यवनिकाएं प्रयुक्त होती हैं । बड़े दृश्य को प्रदर्शित करने के लिए वृहद यवनिकाएं प्रयुक्त होती हैं । दृश्य की विस्तृतता एवं लघुता पर ही यवनिकाओं की वृहदता एवं लघुता आधारित रहती है ।

इन सामग्रियों की सहायता से प्रत्येक किया का आधुनिक नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है । अभाव,कुंठा,भय और आर्थिकता ने जीवन की बात अत्यधिक जटिल बना दिया है । इस जटिलता का प्रस्तुतीकरण रंगमंच पर और भी कठिन है । इस जटिलता में आकर्षण लाना सरल नहीं है । किन्तु आकर्षण के अभाव में नाटक का मंचन बेकार

पसन्द नहीं करते हैं । अतः आधुनिक नाटककार रंगमंच पर दर्शक के भोगे हुए जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है ।

स्पष्ट है कि आज का रंगमंच संस्कृत रंगमंच की अपेक्षा अधिक छन्दात्मक है । यह भाव-बोध में अधिक सफल एवं गम्भीर है, एवं वातावरण निर्माण में अधिक सक्षम है । इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि युग के अनुरूप ही रंगमंच परिवर्तित होता रहा है और नाटक की विधाएं बदलती रही हैं । विभिन्न विधा के नाटक अपना विशिष्ट रंगमंच चाहते हैं । अतः हिन्दी के विभिन्न विधा के नाटकों को विभिन्न अभिनेय वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । ये वर्ग इस प्रकार होंगे —

क- रंगमंच प्रधान ।

ख- ऐतिहासिक आदर्शों के नाटक ।

ग- समस्या नाटक।

घ- विदूषक रहित हास्य एवं व्यंग्य के नाटक ।

ङ- समकालीन(सुप्रेरित)नाटक ।

उपर्युक्त वर्गों के नाटकों पर विचार किया जा रहा है :

क- <u>रंगमंच प्रधान</u>

नाटक के तीन पक्ष होते हैं— १- लेखक, २-प्रस्तुतकर्ता एवं ३- दर्शक । इन तीनों पक्षों का महत्व अभिनेय नाटकों में वामन भगवान् के तीन चरणों की भांति ही आवश्यक है । किसी भी चरण के अभाव में नाटक की त्रिलोकगामी विजय असम्भावी है । चरणों की अपनी गति में कोई चरण छोटा अथवा बड़ा हो सकता है । अर्थात् किसी नाटक में लेखक प्रमुख रहता है तो किसी में प्रस्तुतकर्ता । जिन नाटकों में प्रस्तुतकर्ता प्रधान रहता है, उन्हें रंगमंच प्रधान नाटक कहा जाता है । रंगमंच पर अभिनीत होने वाले प्रत्येक नाटक में तीसरा चरण दर्शक अत्यावश्यक है ।

दर्शक का अभिनय नाटक में महत्वपूर्ण स्थान होता है । रंगमंच सम्बन्धी सारी चेष्टाओं का स्रोत एवं केन्द्रबिन्दु दर्शक ही है । वही रंगमंच का नियामक है । उसी को ध्यान में रखकर उसी के लिए, उस तक पहुंचाने के निमित्त, उसी की भावनाओं की तुष्टि तथा उसकी बुद्धि को झकझोरने के उद्देश्य से ही नाटक मंचस्थ होता है । सिनेमा से प्रभावित होने के कारण आज का दर्शक मनोरंजन को अधिक मूल्य देता है । वह नाटक में किसी कलात्मक अनुभूति का साक्षात्कार नहीं चाहता । बहुत कम दर्शक प्रबुद्ध हैं जो नाटक में सूक्ष्म तथा कलात्मक प्रयोग की अपेक्षा रखते हैं ।

<u>शिल्पविधान</u>

रंगमंच प्रधान नाटकों में रूप की प्रधानता रहती है । जिसे प्रस्तुत करने के लिए किसी नियम का पालन नहीं होता । परिचालक (प्रस्तुतकर्ता। निर्देशक) निर्धारित सारे नियमों, परम्पराओं और शैलियों को ध्वस्त कर युगीन-दर्शक की रुचि के अनुसार नवीन शैलियों का प्रयोग करता है । कथोद्घाटन के स्थान पर इन नाटकों के मंचन में नवीन प्रयोग, अभिनय मंच सज्जा, रूपसज्जा, आलोक विक्षेप तथा मंचव्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता है । इन नाटकों के मंचन में मंच सामग्री का खुला प्रयोग होता है । रंगमंच पर कभी स्थितियों को भी अंकित किया जाता है । संगीत तथा प्रकाश की सहायता से भी इनका स्पष्टीकरण होता है ।

इन नाटकों के मंचावलोकन में संगीत एवं प्रकाश आवश्यक तत्त्व हैं । इनके अभाव में आधुनिक युग की भावधारा का आभास होना कठिन है । जटिल दृश्यों, सम्बन्धों और मनःस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए इन उपकरणों का प्रयोग रंगमंच प्रधान नाटकों में किया जाता है । रंगमंच प्रधान-नाटकों को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—

'अपराजित' नाटक

प्रस्तुत नाटक पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने महाभारत के 'द्रोण पर्व' के आधार पर लिखा है। अश्वत्थामा को नायक मानकर नाटक में कौरव पक्ष को उठाया गया है। काल पुरुष कृष्ण के पक्ष में राजनीति पक्ष की प्रधानता है तथा लक्ष्य की प्राप्ति ही उनकी नीति है।

प्रथम अंक में गान्धारी द्रोणाचार्य के घर दुर्योधन की पत्नी भानुमती तथा माधवी के साथ आती हैं। वे माधवी का विवाह अश्वत्थामा के साथ करके अपनी साध पूरी करती हैं। दूसरे अंक में द्रोणाचार्य का अद्वितीय पराक्रम, उनका अंत तथा अश्वत्थामा द्वारा कौरव पक्ष का सेनापतित्व स्वीकार करने की कथा है। अश्वत्थामा के पौरुष के आगे सभी श्रीहीन हैं। तृतीय अंक में अश्वत्थामा तथा अर्जुन का ब्रह्मास्त्रों द्वारा युद्ध होता है। तीनों लोकों में भय व्याप्त होता है तथा नारद भी प्रकट होते हैं। वे दोनों को समझाकर लोक की रक्षा करते हैं। नाटक का अन्त एलिज़ाबेथीय नाटकों के पौराणिक नाटकों की परम्परा पर ही किया गया है। नाटक में युद्ध की घटनाएं अधिक हैं। अतः इनका प्रस्तुतीकरण नेपथ्य में ही अधिक होता है। नेपथ्य में युद्धों का आभास संगीत-नाद और सम्वाद की पद्धतियों द्वारा कराया जाता है। दोनों पद्धतियों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

क— <u>संगीत-नाद पद्धति द्वारा नेपथ्य में युद्धाभास</u>

प्रथम अंक की समाप्ति पर सभी पात्र प्रस्थान करते हैं। शिविर रक्षक गन्धमादन मंच पर उपस्थित है। एक कुमार दौड़ता हुआ आता है—

गन्धमादन —'कौन है कुमार ?'

कुमार —(चीखकर) हाँ भाई (नेपथ्य में शंख और मृदंग की ध्वनि)'[1]

यह ध्वनियाँ आगामी अंक के युद्ध की सूचक हैं। इनसे वातावरण का निर्माण होता है तथा युद्ध का आभास प्राप्त होता है।

१— लक्ष्मीनारायण मिश्र,'अपराजित', पृ०[illegible]।

ख- <u>ऐतिहासिक आदर्श के नाटक</u>

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की आन्तरिक स्थितियों का चित्रण किया जाता है। इनकी कथावस्तु ख्यात रहती है। अतः नाटक में भावुकता प्रधान शैली का प्रयोग किया जाता है। पात्र भी पूर्व परिचित होते हैं। अतः दर्शकों का भावमग्न बनाने में वे अन्य नाटकों के पात्रों की अपेक्षा अधिक सक्षम होते हैं। वे नैतिक मानदण्डों की स्थापना करते हैं। इसी से ऐतिहासिक नाटकों का वातावरण आदर्शपूर्ण रहता है। ऐतिहासिक नाटककार संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय परिपाटी की अवहेलना नहीं करते, पर उसका अन्धानुकरण भी नहीं करते। इन नाटकों ने तो सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्यशैली में और भारतीय नाट्यशैली में सामञ्जस्य स्थापित किया।

ऐतिहासिक नाटक में क्रिया का विस्तार होता है। अनेक स्थानों पर अनेक पात्रों द्वारा उसका स्पष्टीकरण होता है। बहुधा इनमें अनेक वर्षों की कथावस्तु वर्णित की जाती है। इन नाटकों में नैतिकता का स्वर प्रधान रहता है। राष्ट्रीय चेतना को उभार करने के लिए इनमें भारत का अतीत गुण गौरव प्रकट किया जाता है। अतीत की गरिमा द्वारा भविष्य का आदर्श-पथ निर्माण करना इन नाटकों का ध्येय रहता है। इनमें अतीत की नींव पर भविष्य का महल खड़ा किया जाता है।

ऐतिहासिक नाटकों के शिल्प में एक विशिष्टता संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की है। इनका संयोजन नाटक में बाह्य तथा आन्तरिक दो प्रकार की स्थितियों द्वारा किया जाता है। जब दो विरोधी स्वभाव के व्यक्ति एक साथ रहते हैं अथवा दो विरोधी घटनाएँ एक बिन्दु पर मिलती हैं, तब नाटक में बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संस्कारों तथा प्रभाव में अन्तर पड़ने पर अनिश्चित स्थिति में पड़कर व्यक्ति में आन्तरिक द्वन्द्व उत्पन्न होता है। ऐतिहासिक नाटकों में जो घटना प्रधान हैं, उनमें बाह्य संघर्ष और

जो चरित्र प्रधान हैं, उनमें आन्तरिक द्वन्द्व अधिक उभरता है । इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों का रचना-विधान सामाजिक नाटकों की अपेक्षा अधिक कठिन है । ऐतिहासिक नाटककार को नाटकीय तथ्यों की संयोजना भी करनी पड़ती है, साथ ही ऐतिहासिक वातावरण का भी निर्माण करना पड़ता है । रचना -विधान को ध्यान में रखकर डा० रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक नाटकों को तीन कोटियों में विभाजित किया है--

१- घटना प्रधान

२- चरित्र प्रधान

३- वातावरण प्रधान

१-घटना प्रधान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों का उद्देश्य था भारतीय जनता के गौरव का विकास तथा उसकी पतनावस्था को सुधारने का उपक्रम । इसी भावधारा से प्रभावित होकर उनके काल में ऐतिहासिक नाटकों की रचना होगयी । इस काल के नाटकों में घटनाओं की प्रधानता थी । चरित्र का प्रयोग किसी घटना को उभारने के लिए किया जाता है । कालक्रमानुसार इस प्रकार के घटना प्रधान नाटकों का विवरण डा० रामकुमार वर्मा ने दिया है, जिसे ही यहां देना उचित प्रतीत होता है ।

"राधाकृष्ण दास के दो नाटक "पद्मावती" (१८८८ई०) तथा "महाराणा प्रताप" (१८९७ई०), मंच पर कई बार खेले गये । इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटककार थे, काशीनाथ खत्री (तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक सन् १८८४), वैकुंठनाथ दुग्गल (हेमन्त मोहिनी सन् १८८४), श्री निवासदास (संयोगिता स्वयम्वर सन् १८८५) । भारतेन्दु की मृत्यु के बाद भी ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चलती रही । राधाचरण गोस्वामी कृत "अमरसिंह राठौर" (सन् १८९५) बलदेवप्रसाद मिश्र कृत "मीराबाई" (सन् १८९७) भारतेन्दु के

जनकालीन लेखकों की रचनाएं हैं, जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं[1]।

यह परम्परा आगे चलती रही । बदरीनाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त' नाटक इसी दिशा का है जो अभिनेय भी है । भारतेन्दुयुगीन नाटक व शोधप्रबन्ध के अध्ययन के बाहर हैं अतः घटनाप्रधान नाटकों का कोई उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है ।

२- <u>चरित्र प्रधान</u>

चरित्र प्रधान नाटकों में घटनाएं चरित्रों के उद्घाटन के लिए प्रस्तुत की जाती हैं । कुछ प्रमुख पात्रों के चरित्र का उद्घाटन माध्यम पात्रों तथा घटनाओं की सहायता से किया जाता है । प्रसाद जी के चरित्र-प्रधान नाटकों में रंगमंच की सफलता कम है, पर भारतीय गौरव को ऊँचा उठाने का उद्देश्य प्रमुख है । प्रसाद में ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रतिभा थी । उन्होंने अपनी शोध के आधार पर ऐतिहासिक वस्तुओं में परिवर्तन भी किये हैं । इसी शोधपरक भावना के कारण उनके नाटकों में रंगमंच अधिक नहीं उभर सका। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटक हैं—'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', और 'ध्रुवस्वामिनी'।

चरित्र प्रधान ऐतिहासिक नाटकों में रंगमंच का प्रयोग डा० रामकुमार वर्मा जी के नाटकों में किया गया । इनके नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत किये जा सकते हैं । इनके ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता की भावना तथा नैतिक उत्थान का उद्देश्य प्रमुख है । इनके ऐतिहासिक नाटक हैं—'कला और कृपाण', 'विजयपर्व', 'जौहर की ज्योति' 'अशोक का शोक', 'महाराणा प्रताप' और 'नाना फड़नवीस' । इनके ऐतिहासिक एकांकियों का संकलन 'इतिहास के स्वर' नामक पुस्तक में किया गया है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा : 'विजयपर्व', पृ०१२ ।

डा० रामकुमार वर्मा युग के अन्य ऐतिहासिक नाटककारों में चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" तथा हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

चरित्रप्रधान नाटकों की विधा को स्पष्ट करने के लिए जयशंकर प्रसाद के नाटक "ध्रुवस्वामिनी" तथा "डा० रामकुमार वर्मा के नाटक "नाना फड़नवीस" पर विचार करना आवश्यक है।

"ध्रुवस्वामिनी" नाटक में ध्रुवस्वामिनी का चरित्र केन्द्रबिन्दु है। उसी के आस-पास अन्य सभी पात्र तथा घटनाएं घूमती हैं। वह नाटक के प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी बन्दिनी का-सा जीवन व्यतीत करती है। रामगुप्त उसे शकराज को भेंट में देना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का यहीं से विकास होता है। वह कहती है --

"कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूं कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव, नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।"[1]

जब रामगुप्त से अपनी रक्षा के लिए सभी ढंग प्रार्थना करती है सफलता न मिलने पर वह कुछ निश्चय करती है --" मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूंगी।"[2]

ध्रुवस्वामिनी की प्रारम्भिक स्थिति बहुत दयनीय है। वह अपने प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती --

---

१- ध्रुवस्वामिनी", पृ०३६ ।
२- ,, पृ० ३८ ।

"भला मैं क्या कर सकूँगी ? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती । मुझपर राजा का कितना अनुराग है, यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ।"[1]

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र धीरे-धीरे जागृत होकर महारानी के पद तक जाता है । उसके हृदय की चारित्रिक भावनाओं से ही यह नाटक चलता रहा है । नाटक में शकराज, कोमा तथा मिहिरदेव की घटनाएं ध्रुवस्वामिनी के चरित्र से सीधे सम्बद्ध प्रतीत नहीं होती, पर परोक्ष रूप में उनका सम्बन्ध ध्रुवस्वामिनी से है । ध्रुवस्वामिनी की स्वाभिमान के कारण ही शकराज कोमा का परित्याग करता है तथा शकराज के विनाश के साथ ही कोमा और मिहिरदेव का भी वध होता है । स्पष्ट है कि 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी के चरित्र के आस पास ही सम्पूर्ण घटनाएं तथा पात्र घूमते हैं । उसके चरित्र विकास द्वारा वे सम्पूर्ण नारी समाज में जागृति उ भरना चाहते हैं ।

डा० रामकुमार वर्मा के 'नाना फड़नवीस' नाटक में भी नाना का चरित्र ही प्रधान है । उसके विकास के लिए ही नाटकीय घटनाएं तथा पात्र रखे गये हैं । नाटक की भूमिका में नाटककार स्वयं स्वीकार करता है—

"महाराष्ट्र की गौरव गरिमा से सम्पन्न जिस मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा सात्त्विक पात्रों में होनी चाहिए उसमें नाना फड़नवीस प्रमुख हैं । जिस प्रकार छोटी-छोटी सहायक नदियाँ किसी बड़ी नदी से मिलकर जलप्रवाह की शक्ति वेगवान बना देती है, उसी प्रकार अन्य पात्रों के मनोविज्ञान ने नाना-फड़नवीस के मनोविज्ञान को शक्ति प्रधान बना दिया है । नाना का जीवन

१- ध्रुवस्वामिनी, पृ० १८

इसी देश की अपार क्षति हुई है । हमारे देश के लोग स्वयं ही महत्त्वाकांक्षी हो जाते हैं और कोई भी व्यक्ति उनके स्वार्थ में योग देकर पंक्ति में फूट डाल देता है । इस समय कम्पनी के अधिकारियों का ध्येय भी हमारे बीच में फूट डाल देना है ।[1]

इस प्रकार सच्चे स्वामिभक्त, देश की अखण्डता के लिए कृत संकल्प एक वास्तविक व्यक्तित्व का नाम नाना फड़नवीस है । तृतीय अंक का नाम भी नाटककार ने नाना फड़नवीस रखा है । तृतीय अंक में नाना फड़नवीस रघुनाथ राव राघोबा द्वारा भेजे गये षड्यन्त्रकारियों को पकड़ते हैं । महादेव तथा नाना नायक ये दो व्यक्ति गंगाबाई से मिलना चाहते हैं । सौदामिनी परिचारिका को धमका कर नाना उसका पता लगाते हैं तथा दोनों से रहस्योद्घाटन करवाते हैं । यहां नाना के चरित्र की विशेषता स्पष्ट करने के लिए कुछ कथोपकथन देना आवश्यक है —

सौदामिनी — यह चांदी का थाल प्रस्तुत है ।

नाना — इस चांदी के थाल में ये वस्त्र सजाइये ।

महादेव — ये राजसी वस्त्र हैं, श्रीमन्त । हम लोग इनका स्पर्श नहीं कर सकते ।

नाना — स्पर्श नहीं कर सकते ? अच्छी बात है । इन्हें इस पेटी में ही रहने दीजिए । एक बात और जानना चाहता हूं । इन वस्त्रों के साथ कोई कटार भी भेजी गयी है ।

नायक — कटार ? नहीं, श्रीमन्त । कोई कटार नहीं भेजी गई ।

महादेव — (धीरे से) मेरी कटार कहां है ?

नाना — यह है । यह कटार अभी कक्ष में आप लोग छोड़ गये थे ।

१- नाना फड़नवीस, पृ०४५ ।

महादेव — जी हाँ यह मेरी कटार है । मैं इसे देख रहा था । उसको
यहाँ आवश्यकता नहीं थी, इसलिए मैंने उसे पेड़ के नीचे छुपा
दबा दिया था । जल्दी में उठाना भूल गया ।

नाना — काका राघोबा आप पर बहुत प्रसन्न हैं ।

महादेव — नहीं नहीं श्रीमन्त ; हम लोग तो आपके पक्ष के हैं । काका
राघोबा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं ।

ऐतिहासिक नाटकों का वर्णन

डा० रामकुमार वर्मा ने 'विजयपर्व' नाटक की भूमिका में लिखा है, जिसे यहाँ देना उचित प्रतीत होता है --

'सन् १९३५ के बाद अच्छे ऐतिहासिक नाटक लिखे गये हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' (सन् १९३५) और 'रेवा' (१९४२), सेठ गोविन्ददास कृत 'शशिगुप्त' (१९४२), वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'हंस मयूर' (१९४८ ई०) लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'वत्सराज' (१९५०), हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'प्रकाश स्तम्भ' (१९५४) आदि नाटक पूर्ववर्ती नाटकों से उत्कृष्ट हैं । इन नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण है । श्री उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक नाटक काव्यात्मकता लिए हुए हैं । 'दाहर' और 'शकविजय' उनके प्रमुख नाटक हैं[1] ।'

यहाँ पं० उदयशंकर भट्ट के नाटक 'दाहर' की आलोचना प्रस्तुत है । इससे वातावरण तथा काव्यात्मकता दोनों का स्पष्टीकरण सहज हो सकेगा --

दाहर

दाहर सिन्ध पर राज्य करने वाला एक बहुत पराक्रमी हिन्दू राजा था । उसी समय में ईराक की राजधानी बगदाद पर हैजाज का राज्य था । दाहर का पुत्र जयशाह भी बहुत बहादुर था । ब्राह्मणों तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों की खींचातानी नीति के कारण दाहर हारा और उसकी

१- डा० रामकुमार वर्मा : 'विजयपर्व', पृ० २४-२५ ।

है । गीतों से राजदरबार का वैभव, वातावरण का चित्रण ,मनोरंजन
तथा उद्दीपन का कार्य भी सम्पन्न होता है । श्री जयशंकरप्रसाद तथा
डा० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटकों से कुछ उदाहरण देकर अपना मत
स्पष्ट करना चाहता हूं ।इन नाटककारों ने गीतों का प्रयोग पात्रों के अन्तर्मन
का उद्घाटन करने के लिए भी किया है । इनके गीतों में वेदना, निराश जीवन
का सिंहावलोकन तथा प्रणय वेग आदि मानसिक स्थितियों का स्पष्टीकरण
हुआ है । प्रसाद के नाटकों में मागन्धी, पद्मावती,वाजिरा कुमारी,
मल्लिका और श्यामा ने अपने गीतों द्वारा ही अपने हृदयोद्गार प्रकट किए
हैं । मातृगुप्त,विजया तथा देवसेना का भी हृदय गीत बनकर फूट पड़ा है ।

देवसेना साधारण स्त्री से देवी बन जाती है । उसके
हृदय का यह विकास उसके गीतों से स्पष्ट होता है । उसने कर्तव्य की वेदी
पर अपने प्रेम का बलिदान किया है । मचलते हृदय की धड़कनों से भरा गया
उसका गीत इस प्रकार है --

"शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश ।
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश ।।
हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन सा तुझमें ।
मचलता है बता क्या दूं छिपा तुझसे न कुछ मुझमें ।।

स्कन्दगुप्त" नाटक में "स्कन्दगुप्त के प्रति देवसेना की वैसी प्रेम की पुकार
है,वैसी ही "चन्द्रगुप्त" में मालविका तथा "ध्रुवस्वामिनी" में कोमा की है ।

प्रेम के अतिरिक्त प्रसाद जी ने पाप शान्ति,जीवन-दर्शन
तथा रहस्यादि के उद्घाटनार्थ भी गीतों का प्रयोग करते हैं । "स्कन्दगुप्त"
नाटक में देवकी के बन्दीगृह में शर्वनाग उसका वध करने आने वाला है । शर्वनाग
महादेवी,अनन्त देवी तथा प्रपंचबुद्धि के षड्यन्त्र की पूर्ति करना चाहता है ।
साध्वी देवकी भगवान में विश्वास कर शान्ति पाना चाहती है । वह
गाती है--

तेरी फिकर हूं मया सियाणी
मुलक घड़ी २ घड़ी
ठकुराई पालण्या बांक पड़ी ।।"[1]

इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों के गीत कथावस्तु में वातावरण की सृष्टि तथा पात्र की मनोदशा के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐतिहासिक नाटकों के इस शिल्प में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका असंदिग्ध है।

ग- <u>समस्या नाटक</u>

समस्या नाटकों में कुछ जीवन प्रस्तुत किया जाता है कोई ज्वलंत समस्या उठा दी जाती है और उसका भाष्य या उसका चित्र नाटककार की कल्पना के आधार पर खींचा व जाता है। इन नाटकों की नाट्यकला बुद्धिवादी, यथार्थ नाट्यशैली पर आधारित होती है। कथावस्तु पत्र शैली में लेखक की क्रान्तिकारिता स्पष्ट होती है। इस प्रकार इन नाटकों में वर्तमान समस्याओं को सुलझाने का प्रयास रहता है।

इन नाटकों का रंगमंच स्वाभाविक होता है। मंच पर यथार्थ जीवन की झांकी ही प्रस्तुत की जाती है। मंच पर अधिक ठाठ जोड़ना समस्याप्रधान नाटककार को अभीष्ट नहीं, उसका लक्ष्य तो अपनी समस्या उभारने का होता है। इसी कारण इन नाटकों में गीतों का प्रयोग अस्वाभाविक माना जाता है। दैनिक जीवन में समस्याओं से जूझते रहने पर कौन गीत गाता है? इसी स्वाभाविकता के लिए इन नाटकों से गीतों का बहिष्कार हुआ। इन नाटकों में निषेधात्मक दृष्टिकोण से रूढ़ियों की छानबीन होती है।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "दीपदान", पृ०४६ ।

समस्या प्रधान नाटकों की प्रकृति पर विचार करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं —

"समस्या प्रधान नाटकों की शैली पूर्णतया स्वच्छन्दतापूर्ण है । इनके पात्र बहुमुखी तथा गतिशील होते हैं । उनका सम्पूर्ण कार्य व्यापार बहिर्द्वन्द्व तथा अन्तर्द्वन्द्व से भरा रहता है । उनका मानस द्वन्द्व का रंगमंच बन जाता है । इस शैली के नाटक जीवन को उपस्थित करते हैं, जो निरखने, परखने का अवसर देते हैं तथा प्रभाव में दृष्टि को पुष्ट एवं स्पष्ट करते हैं । यह शैली भावुकता की उपहासकारी है तथा वास्तविक दृष्टिकोण की ओर प्रेरित करती है। यह अलौकिकता में विश्वास न कर सही मानव बनाती है । व्यक्ति की समस्या, आत्मबोध, निर्णय, विवेक एवं रसानुभूति की स्थिति को निरूपित करती है । इस प्रकार की नाट्य शैली में जीवन की विश्वसनीयता निखरी रहती है ।"[1]

इस प्रकार समस्या नाटकों की शैली पर विचार करने से उनके दो वर्ग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं — १- सुधारात्मक, २- प्रचारात्मक । सुधारात्मक वर्ग में नारी की समस्या, प्रेम तथा युद्ध की समस्या और समाज में नयी रोशनी से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की समस्या से संबंधित नाटक आते हैं । प्रचारात्मक वर्ग में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रतिपादक नाटक आते हैं । इनमें पक्षीय मत ही अधिक उभरते हैं । इसी से नाटकीय कला का अधिक विकास नहीं हो पाया । इन समस्याओं को लेकर चलने से ये नाटक सीधे-सादे रंगमंच की अपेक्षा रखते हैं ।

कथावस्तु और रंगमंच

समस्या नाटकों की कथावस्तु घटनात्मक न होकर बौद्धिकता अधिक होती है । अतः इसका विस्तार में फैलाव न डालकर गहराई में अधिक प्रभाव डालता है । समाज का विघटन, जीवन का संघर्ष, अधिकारों की माँग

१- नन्ददुलारे वाजपेयी : [illegible], पृ०१५५ ।

इन नाटकों की विशेषता है । जीवन के लिए कोई सन्देश देना इनका उद्देश्य नहीं । जीवन के शिथिल अंग को उभार देना इनका लक्ष्य है । ऐतिहासिक नाटकों का रंगमंच जहाँ कर्तव्य को उभारता है, वहाँ समस्या-नाटकों का रंगमंच अधिकारों को चित्रित करता है । अपने अधिकारों की प्राप्ति न होने पर ही पात्रों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है । समस्या-नाटक के रंगमंच में गम्भीरता अधिक रहती है । पाश्चात्य प्रभाव से इन नाटकों में हार तथा निराशा की छाया भी अधिक उभरती है । जीवन में दुःख, चिन्ता आदि का जो वातावरण रहता है, उसका यथार्थ प्रदर्शन इस प्रकार के नाटकों के रंगमंच पर रहता है । मानसिक तनाव तथा घुटन इस रंगमंच का वर्ण्य विषय है । समस्या-नाटकों की वस्तु व्यक्ति या परिवार की समस्याओं को लेकर चलती है अतः संकलनत्रय के लिए अधिक सुविधा रहती है । समय, स्थान तथा क्रिया की एकता के कारण नाटक में गम्भीरता उभरती है । आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनय उभारने के स्थान पर समस्या-नाटकों के रंगमंच में सात्विक अभिनय अधिक उभारा जाता है । बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार का संघर्ष इस रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है । समस्या-नाटकों का अभिनय बुद्धिपक्ष को प्रधानता देता है । अतः उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अधिक पड़ता है । कुछ काल के लिए इस प्रभाव में दर्शक आ जाता है, पर वह रसस्निग्ध नहीं हो पाता । यह रंगमंच अपने प्रभाव में दर्शक के भावोद्वेलन को उभारता है पर सन्तुष्टि प्रदान करने की क्षमता नहीं रखता है । समस्या-नाटक का प्रभाव स्वप्न-सा लुप्त जाता है । ऐतिहासिक नाटकों के अभिनय से उसके पात्रों का त्याग, बलिदान दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ता है । उनकी चारित्रिक गरिमा स्थायी प्रभाव डालती है । समस्या-नाटकों से इस प्रकार का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता । वे दर्शक को झकझोड़कर छोड़ देते हैं । समस्या नाटकों के अभिनय में उलझाव होता है, निकलने का रास्ता नहीं ।

समस्या नाटकों का अभिनय विचारात्मक अधिक रहता है । आदर्श तथा नैतिकता के लिए प्रश्नचिह्न न रखते हुए वे नाटक जीवन के उन एकान्तिक चित्रों को भी मंच पर उभारते हैं, जिनका प्रदर्शन ऐतिहासिक मंच पर असम्भव है ।
श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इसी प्रकार का संघर्षात्मक रंगमंच अधिक

मुखर होकर उभरता है ।

ग- <u>गीत,संगीत,नृत्य</u>

समस्या-नाटकों की कथावस्तु यथार्थवादपरक रूप में विकसित होती है । पात्र तर्कप्रधान होते हैं । अतः स्वाभाविकता को देखते हुए रंगमंच पर गीत गाना उनके लिए अस्वाभाविक है । समस्या-नाटकों के प्रमुख लेखक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र बुद्धिवादी अतिशयता के कारण बहुत बार भावुक हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में उनके नाटकों में गीतों की सम्भावना बढ़ जाती है । जीवन के कुरूप पक्ष का उद्घाटन करने के कारण समस्या-नाटकों का लेखक गीतों का प्रयोग अपने नाटकों में नहीं करता है । समस्या-नाटककारों की प्रकृति पर डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है --" हमारे प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि अधिक कुरूपता की ओर ही रहती है, वे साहित्य में [illegible] उन्हीं को अंकित करना चाहते हैं । पहले से ही वे अपने दृष्टिकोण को साहित्य के व्यापक क्षेत्र में संकुचित बना लेते हैं । वे प्रकृति या जीवन का मंगलमय रूप नहीं देखते । वे एक प्रतिहिंसा लेकर साहित्य का निर्माण करना चाहते हैं । साहित्य की रचना यदि प्रतिहिंसा लेकर हुई तो वह सर्वकालीन सत्य और सौन्दर्य से बहुत दूर होगी, ऐसा मेरा विश्वास है । वे अपनी रचनाओं में कुत्सित चित्रों को उपस्थित करना चाहते हैं । वे इससे चाहे अपने समाज का हित भले ही कर लें, पर साहित्य का हित नहीं कर सकेंगे[1] ।"

इस प्रकार की बुद्धिवादी यथार्थवादपरक कथावस्तु के वाहक पात्रों में गीतों की उद्भावना सम्भव नहीं है । ऐतिहासिक नाटकों की तरह राजसी अथवा सामन्ती वातावरण भी इन नाटकों में उभारना सम्भव नहीं रहता है अतः नृत्य के लिए भी अवकाश नहीं रहता । इन नाटकों में पात्र स्वयं परिस्थितियों के मंच पर नृत्य करता है ।

१- डा० रामकुमार वर्मा : "रेशमी टाई", पृ० ११

रंगमंच पर नाटकीय पात्र की भावभूमि को अधिक उभारने के लिए नेपथ्य संगीत इन नाटकों में प्रयुक्त होता है । संगीत और प्रकाश पात्र की मनोदशा को उभारने के लिए प्रयुक्त होते हैं। कथावस्तु के विकास में सहायक न होकर रंगमंच का रंग अधिक गाढ़ा करने की दृष्टि से पृष्ठ संगीत का प्रयोग इन नाटकों में किया जाता है ।

हिन्दी के समस्या-नाटक

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्या-नाटकों की रचना दो ही प्रकार के उद्देश्यों से प्रभावित होकर की गयी है । या तो उनमें सुधारवादी प्रवृत्ति प्रमुख है या यथार्थवादी । इन्हीं दो दृष्टियों से नाटकों पर विचार किया जा रहा है ।

सुधारवादी प्रवृत्ति के नाटक

युगीन समस्याओं को लेकर इस प्रकार के नाटकों की रचना की जाती है । इनकी कथावस्तु में प्रेम,युद्ध,असमानता और अन्य कोई सामाजिक समस्या वर्णित रहती है । इस प्रकार के नाटकों की रचना हिन्दी में बहुत अधिक की गयी है । कुछ प्रमुख लेखकों के नाटकों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

लक्ष्मीनारायण मिश्र --`सिन्दूर की होली`,`राक्षस का मन्दिर`।

डा० रामकुमार वर्मा --`पृथ्वी का स्वर्ग`,`रजनी की रात`,`एक तोला अफीम की कीमत` तथा चक्कर का चक्कर एकांकी भी समस्या प्रधान हैं ।

पं० बेचन शर्मा `उग्र` -- `महात्मा ईसा`(१९२२ई०),`गंगा का बेटा`(१९४०ई०), `चुम्बन`(१९३७),`आवारा`(१९४२) और `अन्नदाता` (१९४३ई०) इस दिशा को पुष्ट करने वाले नाटक हैं.।

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा --`दुविधा`,`अपराधी` और `साथ` ।

वृन्दावनलाल वर्मा --`धीरे धीरे`।

भगवतीचरण वर्मा --"रुपया तुम्हें खा गया ।"

विनोद रस्तोगी --"आजादी के बाद", "सुबह के घण्टे", "पैसा", "लड़की" "कलैया" ।

सच्चिदानन्द वात्स्यायन--"मुकुट" ।

विष्णु प्रभाकर --"नवभारत", "करुणा" और "शक्ति का प्रतीक" ।

इस समय भी इस भावधारा के नाटक अधिकता से लिखे जा रहे हैं । समस्यानाटकों की सुधारवादी प्रवृत्ति तथा नाट्यशिल्प एवं रंगमंच की उपर्युक्त मान्यताओं की पुष्टि के लिए समस्या प्रधान नाटकों के प्रमुख लेखक पं०लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक "सिन्दूर की होली" का यहाँ विवेचन किया जा रहा है :

"सिन्दूर की होली"

स्वार्थी प्रवृत्ति , वैवाहिक स्वतन्त्रता तथा पुनर्विवाह इन तीन समस्याओं को नाटक में उठाया गया है । मनुष्य अपने स्वार्थवश हत्या तक कर देता है पर परिणाम में कुंठा आत्मबोध प्राप्त करना चाहता है । मुरारीलाल एक डिप्टी कलेक्टर हैं । उन्होंने अपने मुंशी माहिरअली की सहायता से एक व्यक्ति को नदी में डुबो दिया , क्योंकि उसके पास आठ हजार रुपये थे । उन रुपयों से उन्होंने कारबोरी,बंगला बनवाया । अपने उन्मोच के लिए वे मृतक व्यक्ति के पुत्र मनोजशंकर को पढ़ालिखाते हैं तथा अपनी पुत्री चन्द्रकला से उसका विवाह करना चाहते हैं ।

दूसरी समस्या वैवाहिक स्वतन्त्रता की है । चन्द्रकला मुरारीलाल की इकलौती सन्तान है । मुरारीलाल मनोजशंकर के साथ उसकी शादी कर उसे सदैव अपने पास ही रखना चाहते हैं । चन्द्रकला शादी-विवाह में स्वतन्त्र निर्णय लेना पसन्द करती है । वह स्वच्छन्द प्रकृति के व्यक्ति रजनीकांत से विवाह करना चाहती है ।

तीसरी समस्या स्त्री पुनर्विवाह की है। मनोरमा बाल विधवा है। उसकी अवस्था अभी चन्द्रकला की अवस्था के बराबर है। उसके वैधव्य का लाभ मुरारीलाल अपनी वासनात्मक पूर्ति करके उठाना चाहते हैं। मनोरमा अपने वैधव्य की दुहाई देती है, पर वह मनोजशंकर को चाहती है। वह मनोजशंकर के साथ पुनर्विवाह नहीं करना चाहती है, पर यह कार्य उसे बिल्कुल ही भाता है।

यही तीन समस्याएं नाटक में उठायी गयी हैं। पाश्चात्य नाटकों(के नाटक) के आधार पर लिखने के कारण मिश्र जी के नाटकों की समस्याएं अनुभूतिपरक नहीं हैं। वे बुद्धिवादी ही अधिक रहती हैं। इसी से उनके समस्या नाटक प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं।

मंचन की दृष्टि से नाटक असफल है। शेक्सपियर के नाटकों में मृतात्माओं के कारण वातावरण अधिक भयावह हो जाता है। मिश्र जी के इस नाटक में जीवित पात्र भी उससे कम भयानक नहीं हैं। मनोजशंकर हैमलेट की तरह ही अपने को आत्मघाती पिता की सन्तान मानकर पागलों का सा व्यवहार करता है। यह पात्र अपना कोई प्रभाव नहीं डालता है। वह सर्वथा अग्राह्य है। दोनों स्त्री पात्र मनोरमा और चन्द्रकला भी सनकी हैं। उनके आचरण भी किसी दिशा का अनुगमन करते प्रतीत नहीं होते। वातावरण संवाद तथा चरित्रों की अस्वाभाविकता के कारण नाटक मंचन के लिए असफल है।

नाटक का वातावरण विषैला लगता है। वह दर्शकों पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता। अतः समस्याओं का निरूपण करने पर भी नाटक कोई समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है। नाटक में यद्यपि नाटककार समस्याओं का चित्र स्पष्ट नहीं कर पाया है, पर समाज की नैतिक स्थिति तथा दांपत्य स्थिति का निरूपण अवश्य कर सका है। प्रभाववादी प्रवृत्ति के समस्या नाटक हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं होते। सुधारवादी नाटकों

में इस प्रचार का स्वर मुखर हो जाता है ।

प्रचारवादी प्रवृत्ति

इस प्रवृत्ति पर नाटक लिखने वाले प्रगतिशील लेखक कम हैं, साम्यवाद से प्रभावित हैं । साम्यवादी मान्यताओं को लेकर उनका प्रचार करना ही उनका उद्देश्य है । जैसा कि स्पष्ट हुआ है कि ठोस प्रयास इस दिशा में वर्षों के बराबर हुए हैं । सुधारवादी नाटकों में ही प्रचारवादी प्रवृत्ति उभरती है । ऐसे नाटकों में भगवतीचरण वर्मा कृत 'रुपया तुम्हें खा गया', विनोद रस्तोगी कृत 'पैसा, लड़की, जनसेवा' और विष्णु प्रभाकर कृत 'शक्ति का स्रोत' आदि नाटक देखे जा सकते हैं ।

इन नाटकों में मूल तथा असमानता की समस्याएं उठाई जाती हैं । इनमें लेखक की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति अधिक तीव्र रहती है । वह अपनी लेखनी से ही असमानताओं को दूर करना चाहता है । इन नाटकों की प्रकृति उपर्युक्त नाटकों की भांति ही होती है । अतः इनको उदाहरण पृथक् देना आवश्यक नहीं है । दूसरा कारण यह भी है कि इस प्रवृत्ति के स्वतन्त्र नाटक बहुत कम हैं । स्पष्ट है कि समस्या-नाटक समाजवादी नाटक हैं, जिनका भविष्य आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए उज्ज्वल कहा जा सकता है ।

घ- विदूषक रहित हास्य-व्यंग्य के नाटक

रसों में हास्य रस का महत्वपूर्ण स्थान है । आचार्य भरत ने रस गणना में हास्य को दूसरा स्थान प्रदान किया है:

शृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकः ।
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः[1] ।।

उन्होंने इस कथन द्वारा हास्य के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार विविध व्यंजन और औषध द्रव्यों के संयोग से रस

1 डा० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्यशास्त्र की मीमांसा', पृ०१६, नाट्यशास्त्र 6।15

निष्पन्न हुआ करता है, वैसे ही नाना भावों के एकत्रित होने पर रस निष्पन्न होता है । हास्य का वर्ण श्वेत माना गया है । उसका देवता प्रमथ (महादेव) है। हास्य की उत्पत्ति बताते हुए भरत ने अपना मत इस प्रकार दिया है:

'विपरीतालंकारैर्विकृताचाराभिधान वेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः[1] ॥'

हास्य की अवतारणा चंचलता, व्यंग्य तथा ढिठाई से होती है, नाक, गाल फूल जाना, अनुभाव का आलस्य, अँघना आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद हैं । साहित्य दर्पण में हास्य के छः भेद -- स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित किये गये हैं । आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्रियों में डा० रामकुमार वर्मा ने उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रमुख भेदों के आधार पर हास्य के बारह भेद किए हैं[2] । पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के अनुसार हास्य के पांच भेद किए गए हैं -- व्यंग्य या विकृति (Stire), अति रंजनात्मक परिहास[3] (Parody) वक्रोक्ति (Irony) वचनवैदग्ध्य या वाक्छल (Wit) हिन्दी नाटकों में इन सभी प्रकारों के हास्य का प्रयोग किया गया है । हास्य का विशिष्ट रूप ही नाटकों में मान्य हुआ है । नाटकीय हास्य के विषय में जयशंकर प्रसाद के विचार निम्नलिखित हैं:

'एक शब्द नाटकीय हास्य के बारे में लिखना है । वह यह कि वह मनोरंजनकारी वृत्ति का विकास है । जिस जाति में स्वतन्त्र जीवन की चेष्टा है, वहाँ उसके सुगम उपाय और रम्य परिहास दिखलायी देता है । यहाँ तो रोने से फुरसत नहीं । विनोद का समाज में नाम ही नहीं , फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखलायी दे । अंग्रेजी का अनुकरण हमें नहीं रुचता, हमारी

---

१ डा० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' ,पृ०२०, नाट्य शास्त्र ६।४६
२ डा० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन' ,पृ० ७१ ।
३ डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश' ,पृ० ८८६ ।

जातीयता ज्यों-ज्यों सुरुचि सम्पन्न होगी वैसे-वैसे इसका शुद्ध मनोरंजन कारी विनोदपूर्ण भाव का और व्यंग्य का विकास होगा । क्योंकि परिहास का उद्देश्य संशोधन है, वह साहित्य के नवरसों में से एक है , किन्तु इस विषय की उच्च कल्पनाएं बहुत कम हैं । आजकल पारसी रंगमंच वाले एक स्वतन्त्र कथा गढ़कर दो तीन दृश्यों में फिर जगह-जगह उसे भर देते हैं, जिसमें कभी-कभी देखा भी जाता है कि अतीव करुण दृश्य के बाद ही एक फूहड़ हंसी का दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिसमें जो रस बना हुआ रहता है, वह लुप्त हो एक बीभत्स रसाभास उत्पन्न हो जाता है । इसका परिपाक पूर्णरूप से होने नहीं पाता और मूलकथा के रस को बार-बार खण्डित करके दर्शकों को देखना पड़ता है । अन्त में नाटक खेल देने पर एक उत्सव या तमाशा का दृश्य ही आंख में रह जाता है । शिक्षा के आदर्श का ध्यान भी नहीं रह जाता । इसीलिए हम ऐसे कामिक के विरुद्ध हैं[1] ।"

इससे स्पष्ट है कि शिष्ट हास्य उत्पन्न करने हेतु हिन्दी नाटकों में दो विधाएं प्रयुक्त होती हैं । या तो संस्कृत नाटक परिपाटी के अनुसार नाटक में हास्य उत्पन्न करने वाले पात्र रखे जायं या नाटकीय संवादों में परिहास उत्पन्न करके यह कार्य सम्पन्न किया जाय । इन दोनों प्रकार के हास्य प्रयोगों पर विचार किया जा रहा है :

१- कथानक के पात्रों द्वारा हास्य की सृष्टि

कथानक से सम्बन्ध हास्य अभिनेता नाटक में विभिन्न दृष्टिकोणों से रखे जाते हैं । इससे पात्रों द्वारा उत्पन्न हास्य की स्थितियां स्पष्ट हो जाती हैं ।

१- नायक के सहचर के रूप में : कोई अभिनेता नायक का मुंह लगा होता है तथा अपनी वाक्पटुता से नायक का मनोरंजन करता है । यह परिपाटी संस्कृत नाटकों की विदूषक परिपाटी की समानकक्षी है ।

---

१ जयशंकर प्रसाद : 'विशाख', पृ० १०-११ ।

२- हास्य या विनोद के माध्यम से कभी-कभी संकेतपूर्ण बात कही जाती है । ये बातें चमत्कार के साथ ही शिक्षा भी प्रदान करती हैं ।

३- कथावस्तु को गतिशील बनाने के लिए पात्रों को रखा जाता है । ये हास्य अभिनेता कथावस्तु को द्वन्द्वमय वातावरण में विकसित करते हैं ।

४- सन्देश वाहक के रूप में नायक तथा नायिका का मिलन कराते हैं ।

५- कथानक से ही सम्बद्ध कुछ पात्र हास्य की स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं ।

जयशंकर प्रसाद और डा० रामकुमार वर्मा के नाटकों में उपर्युक्त स्थितियों के हास्य देखे जा सकते हैं ।

जयशंकरप्रसाद के नाटकों में धातुसेन, महापिंगल, कश्यप, मधुकर तथा विकट घोष हास्य की सृष्टि करने वाले पात्र हैं । ये सभी पात्र स्वभावगत ही विनोदी हैं । धातुसेन लंका का युवराज है, जो भारत के वैभव को देखकर मुग्ध है । वह कुमार गुप्त का मुंह लगा है । अपने कथनों से अधिष्ट मनोरंजन करता है । 'विशाख' नाटक का महा पिंगल, विनोदी, चतुर तथा बुद्धिमान पात्र है । वह पौरवों का पुरोहित है । 'राज्यश्री' नाटक में मधुकर मालव का सहचर है और स्वभाव से विनोदी है । इसी नाटक का दूसरा हास्य पात्र विकटघोष है । वह अपने कार्यों से नाटकीय वातावरण को सरस बनाता है ।

प्रसाद जी ने कुछ स्थलों पर कथावस्तु से असम्बद्ध होकर ही हास्य उत्पन्न करने वाले पात्रों की सृष्टि की है । जहाँ इस प्रकार का प्रयोग हुआ है, वहाँ कथानक में शिथिलता आ गयी है । 'स्कन्द गुप्त' नाटक प्रख्यात कीर्ति, गोविन्द गुप्त तथा मुद्गल को हटाकर भी अभिनीत हो सकता है । यह प्रयोग अच्छा नहीं कहा जा सकता है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस प्रकार के प्रयोग को कला की दृष्टि से असंगत माना है :

'मुद्गल नाटक के कथानक के विकास में अपरिहार्य पात्र नहीं है। यदि हास्य लाने के लिए पात्रों की अलग से योजना[१] की जाय तो कहना पड़ता है, यह कला की दृष्टि से सुसंगत नहीं है।'

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में बौने, कुबड़े तथा हिंजड़े मुख्य कथावस्तु में सहयोग नहीं करते :

कुबड़ा — युद्ध! भयानक युद्ध!!

बौना — हो रहा है कि कहीं होगा भी!

हिंजड़ा — बकवाद नहीं कुछ करके दिखाओ, न मानोगे तो देख लूँ!

बौना — (कुबड़े से) सुनता है रे! तू अपना हिमाचल उधर कर दे— मैं दिग्विजय करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई करूँगा।

(उसको कुबड़ा को नचाता है और कुबड़ा अपने हाथों और घुटनों के बल बैठ जाता है। हिंजड़ा कुबड़े की पीठ पर बैठता है। बौना एक मोढ़ा लेकर तलवार की तरह उसे घुमाने लगता है।)

हिंजड़ा —और यह तो मैं हूँ नलकूबर की वधू। दिग्विजयी वीर क्या तुम स्त्री से युद्ध करोगे? लौट जाओ, बल जाना। मेरे श्वसुर और जाये पुत्र दोनों ही उर्वशी और रम्भा के अभिसार से अभी नहीं आये। युद्ध आज हो तो युद्ध करने का शुभ मुहूर्त नहीं है।

बौना — (मोढ़े से पटा घुमाता हुआ) नहीं, आज ही युद्ध होगा। तुम स्त्री नहीं हो। तुम्हारी अंगुलियाँ तो मेरी तलवार से भी अधिक चल रही हैं। कुबड़ा तुम्हारे नीचे है। तब मैं कैसे मान लूँ कि तुम न तो नलकूबर हो और न कुबेर। तुम्हारे वस्त्रों से मैं धोखा न खाऊँगा। तुम पुरुष हो युद्ध करो।

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद', पृ०१४५ ।

हिजड़ा — (उसी तरह मटकते हुए) अरे, मैं स्त्री हूँ। बहनो, कोई मुझसे ब्याह नहीं कर सकता है, लड़ाई में क्या जाऊँ ?

(दासी के साथ शिखर स्वामी का प्रवेश)

+ + +

कुबड़ा — दोहाई राजाधिराज की ! मुझ हिमालय का कूबड़ हिलने लगा। न तो यह नलकूबर की बहू मेरे कूबर से डरती है और न बौना मुझे विजय ही कर लेता है।

रामगुप्त — (हँसकर) वाह रे वामन वीर ! यहाँ दिग्विजय का नाटक होता जा रहा है क्या ?

बौना — (अकड़कर) वामन के बलि विजय की गाथा और तीन पगों की महिमा सब लोग जानते हैं। मैं भी तीन लात में इसका कूबर सीधा कर सकता हूँ।

कुबड़ा — लगा दे भाई बौने ! फिर यह वक्र बेमूठ कमान तो छूट जाय।

हिजड़ा — देखो जी मैं नलकूबर की बहू इसपर बैठी हूँ।

बौना — झूठ युद्ध के भय से यह पुरुष होकर भी स्त्री बन गया है।

हिजड़ा — मैं तो पहले ही कह चुकी कि मैं कुछ करना नहीं जानती।

बौना — तुम नलकूबर की स्त्री हो न, तो अपनी विजय का उपहार समझकर मैं तुम्हारा हरण कर लूंगा (और लोगों की ओर देखकर उसका हाथ पकड़ कर खींचता है) ठीक होगा न, क्योंकि यह धर्म के विरुद्ध न होगा

(रामगुप्त ठठाकर हँसने लगता है)[1]

इस प्रकार यह हास्य रामगुप्त के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए रखा गया है। प्रसाद ने इस प्रकार के हास्य संस्कृत की विदूषक वाली परिपाटी पर ही रखे हैं।

---

१ 'ध्रुवस्वामिनी' २२,२३,२४ ।

डा० रामकुमार वर्मा ने हास्य के लिए पात्रों की अलग से अवतारणा नहीं की । बहुत कम पात्र इस प्रकार के हैं । उन्होंने वार्ता-लापों में हास्य की स्थितियां अधिक उत्पन्न की हैं । यद्यपि उन्होंने हास्य पर आधारित अनेक एकांकियों की रचना की है तथा 'पृथ्वी का स्वर्ग' नाटक के दोनों अंकों में सेठ बुद्धीचन्द तो हास्य का अवतार ही है । उसका मुनीम तथा नौकर मंगल भी हास्य उत्पन्न करने में उसके सहयोगी हैं । अन्य पात्र भी इस नाटक में हास्य उत्पन्न करने में व्यस्त हैं । सम्पूर्ण नाटक हास्य रस की पुष्टि करता है । इनके वार्तालापों में हास्य की स्थिति स्पष्ट करने से पूर्व पात्रों द्वारा उत्पन्न हास्य का उदाहरण देना भी उचित है ।

'कला और कृपाण' नाटक में शेखर तथा शंखचूड़ गुप्तचर हैं । ये दोनों पात्र हास्य की पुष्टि करने वाले हैं । राजा उदयन के गुप्तचर होने से उन्हीं के सम्बन्ध में ये वार्तालाप करते हैं --

शेखर -- तुम सौगन्ध की सौगन्ध कितनी बार खाओगे शंखचूड़ ? मैं समझ लेता हूं कि पृथ्वी की यह तृणराशि तुम्हारी किसी प्रेयसी की बिखरी हुई केशराशि है, जिसे छोड़कर तुम राजनीति के पथ पर आगे बढ़ गये हो .... ।

(शंखचूड़ के निकट आकर)

शेखर -- बुरा मान गये शंखचूड़ ? अच्छा अब किसी प्रकार का परिहास नहीं करूंगा । मैं राजनीति के दर्पण में ही अपना मुंह देखूंगा ...... ।

शंखचूड़ -- राजनीति का ज्योतिष से कोई सम्बन्ध नहीं है शेखर । ज्योतिष कल्पना है और राजनीति सत्य .... ।

शेखर -- (पदध्वनि के साथ पत्तों का मर्मर शब्द बढ़ता है।)

शेखर -- (हंसकर) तुम कदाचित्, अपनी स्त्री की कुलांठी ही समझते होगे । (जल्दी संभलो) तुम नहीं समझते शंखचूड़ । इसीलिए तो

मैं निर्झर के समीप बैठना चाहता था कि उस स्त्री से दक्षिण कुछ बातें होतीं .....[1] ।"

'विजयपर्व' नाटक में बुद्धिभद्र एक गुप्तचर है । वह ज्योतिषी के रूप में प्रवेश कर अशोक से एकान्तवार्ता चाहता है तथा मंच पर बैठ बकता है । वह दाढ़ी उतार कर मुँह निकालता है तथा अपना नाम स्पष्ट करता है[2] ।

उनके नाटकों में हास्य की कोई-न-कोई स्थिति अवश्य रहती है । 'जौहर की ज्योति' नाटक में एक पात्र अहमदबेग है । वह अपनी भाषा से अभिष्ट मनोरंजन करता है ।

इस प्रकार पात्रों द्वारा नाटकीय कथावस्तु में हास्य की स्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं । हिन्दी नाटकों में हास्य का दूसरा रूप कथानकों में हास्य की सृष्टि करके प्रयोग किया जाता है ।

२- संवादों द्वारा हास्य की सृष्टि

प्रत्येक व्यक्ति में स्थायीभाव हास छिपा रहता है । किसी स्थिति या व्यक्ति को हास्य के अनुकूल पाकर वह भाव जागृत हो जाता है । नाटकों में प्रयुक्त पात्रों में भी इसी प्रकार हास्य की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना उचित है । डा० रामकुमार वर्मा के नाटक 'नाना फड़नवीस' में नाना का चरित्र वीर, नीति-कुशल तथा राजनीतिज्ञ है । उनकी राजनीति ही महाराष्ट्र में एकसूत्रता स्थापित करती है । ऐसा पात्र भी अवसर आने पर हास्य विनोद कर लेता है ।

रघुनाथ राव पेशवा के षड्यन्त्र में शामिल नाना तथा महादेव जी पाठ गंगाबाई के साथ छल करने जाते हैं । नाना की कमर में

---

१ 'कला और कृपाण', पृ० ४-५

२ 'विजयपर्व' पृ० ४१

राघोबा की कटार मिल जाती है । वे महादेव तथा मामा को बुलाकर षड्यंत्र का स्पष्टीकरण करते हैं । इसी बीच कटार को लेकर आती बकुली है :

नाना० -- इसीलिए तो आप अपनी कटार कहते हैं । यह कटार काका रा-घोबा की है। (और वे) बोलिये, यह कटार काका राघोबा की है ?

महादेव -- (घबराकर) हां, श्रीमन्त ।

नाना० -- यह उन्होंने आपको किसलिए दी ?

[illegible]-- हमारे गांव में गन्ने की खेती बहुत होती है तो.... तो ... ग ... ग ... गन्ना छील कर लाने के लिए, श्रीमंत । हमें कटार दी गयी ।

महादेव -- (मामा से) मामा ! तुम चुप रहो (नाना से) श्रीमंत मामा मूर्ख है । उसे उत्तर देना नहीं आता । श्रीमन्त ! काका राघोबा का भार उतारा आये थे । मैं उस समय बहुत दुःखी था । आत्महत्या करना चाहता था । मैं-उस उन्होंने आत्महत्या करने के लिए मुझे यह कटार दी थी ।

नाना -- फिर आपने आत्महत्या नहीं की ।

महादेव -- जी .... मैंने आत्महत्या नहीं की ।

* * *

मामा -- (जाते-जाते) श्रीमंत नाना की जय बोलो ! महादेव !

महादेव -- मुझसे बोला नहीं जाता । मेरा गला ही बैठ गया मामा ।[1]

इसी प्रकार अन्य नाटकों के सम्वादों में भी हास्य की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, वृन्दावनलाल वर्मा तथा उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के नाटकों में इस प्रकार की हास्य स्थितियाँ हैं । उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में

---

१ नाना फड़नवीस, पृ०७४-७५

गहरी छाया है । इन नाटकों का लेखक अपने युगबोध को प्रकट करने के हेतु नई दृष्टि खोजने के लिए आकुल है । उसकी अभिव्यक्ति में इसीलिए अशान्ति तथा अव्यवस्था है । नाटककार की आत्मा की अशान्ति उसकी शैली, शिल्प और नाटकीय क्रिया सब पर व्याप्त होती है । यह अशान्ति नाटककार का अन्त: पीड़ा है जिसे व्यक्त करने की क्रिया ही युगीन नाटकों की शिल्प साधना है। वह जीवन की कुरूपता तथा नग्नता का पर्दा नये प्रतीक तथा प्रतिमाओं द्वारा उठाता है । निराशा तथा कुंठा का चित्रण ही उसका धर्म बन गया है । संकीर्ण दृष्टि से जीवन का आकलन करने से आज के नाटककार अपने नाटकों में जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न करते हैं ।

नये प्रयोग तथा कला स्वातन्त्र्य की ओर इन नाटकों की रुझान है । आज का नाटक वस्तुन्मुखी हो गया है । उसका कथानक न तो सुबद्ध है और न उसमें चरित्र-चित्रण ही उभरता है । नाटक में वस्तु तथा मानसिक द्वन्द्व के स्थान पर गति तथा स्थैर्य का द्वन्द्व नाटक में उभरता है । उसका कार्य सर्वथा नया है अत: उसकी शिल्पविधि नये सिरे से गढ़ी जा रही है । नाटक व्यष्टि से हटकर समष्टि में जीवनगत मूल्यों की खोज करता है ।

आज नाटक में जीवन की विकृतियों का खाका खींचा जाता है । इस खाके में हास्य, व्यंग्य, विनोद तथा परिहास द्वारा विरोधाभास उभारा जाता है । युगीन नाटकों में वस्तु-भाव, स्वप्न-सत्य, सम्भाव्य-असम्भाव्य के सीमान्त घुल-मिल गये हैं । मन का अदृश्य जगत आज वस्तुन्मुख होकर उभरता है ।

५

आज का बदलता जीवन नयी अभिव्यंजना चाहता है । नाटक की यह नयी खोज व्यक्तिगत है । अपने जीवन की विसंगतियों से समझौते का मार्ग न पाकर लेखक तनावपीड़ित हो जाता है । आज नाटक में पुराने मूल्यों के प्रति आस्था नहीं रह गयी है । ये नाटक जीवन के जीने की कला नहीं बताते वे कुण्ठाओं की शल्यक्रिया भी नहीं करते वे तो जीवन को ही रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं । यदि इन नाटकों में लेखक की गहरी सम्वेदना उसकी शैली के साथ न

युक्ति तो नाटक फोटोग्राफिक सत्य ही प्रकट करता । युगीन नाटकों की शैली पात्रों का चरित्र-चित्रण भी अपनी तरह ही करती है ।

नाटक की निराशावादिता के पीछे उसकी वैयक्तिक अनुभूति का बल है । उसके पात्र अपना महत्व नहीं रखते हैं । वे लेखक की आन्तरिक छायाएं हैं । नाटक के पात्र आज यद्यपि विकृत चेहरे हैं, क्योंकि वे खण्डित जीवन के वाहक हैं, पर वे सत्य पात्रों से भी अधिक सत्य हैं । अपनी अनुभूति के क्षणों में लेखक ने उन्हें अपनी तत्कालीन सम्वेदना में गहराई से उतारा है अत: उनके आचरण परिचित रहते हैं । ये पात्र अपनी निराशावादिता को कलात्मक रूप देने में ही व्यस्त रहते हैं । चूंकि इन नाटकों में अन्तर्द्वंद्व विरोधों का ही ग्रंथि-मोचन किया जाता है अत: नाटककार का उलझा समाधान ही पात्र पर छाया रहता है । इन नाटकों के पात्र परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं करना चाहते हैं तो परिस्थितियों के तूफान में डूबना ही श्रेयस्कर मानते हैं । पात्रों के समान ही इन नाटकों के कथोपकथन भी नवीनता के वाहक हैं ।

इन युगीन नाटकों में शैली का पुनरुत्थान हो रहा है । अत: इनकी भाषा अपनी नयी क्षमताएं व्यक्त करना चाहती है । वह काव्यात्मक, व्यंग्य तथा परिहास से पूर्ण सांकेतिक भाषा है । उसमें प्रतीकों का बाहुल्य है । अंग्रेजी शैली से भाषा कठिन हो गयी है । भाषा की लोक-रुचि की क्षमता घट रही है । उसकी सीमाएं कम होती जा रही हैं ।

शैली के अध्ययन के साथ ही इन नाटकों में रंगमंच की भी नवीनता है । युगीन नाटकों का अध्ययन करने से पूर्व इनके रंगमंच पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है ।

रंगमंच(अभिनय)

इन युगीन नाटकों का रंगमंच शास्त्र का पालन नहीं करता। व्यक्तिगत प्रयोग की अराजकता में रंगमंच कौतूहलमय हो गया है । यह रंगमंच वर्तमान का रूप नहीं है । भविष्य की सम्भावनाओं का रूप है । सच है कि यह

अल्प प्रतिभासम्पन्न नाटककारों के हाथों पड़कर कहीं अपना ह्रास न कर बैठे ।

आज के नाटकों का रंगमंच सिद्धान्त की प्रधानता तथा क्रियाशीलता का ह्रास प्रकट करता है । वह व्यक्ति के आभ्यान्तर जगत् की विशृंखलता तथा नाटकीयता पर आधारित है । आज के नाट्यमंच पर दर्पण बाहर नहीं, पात्र के भीतर है । उसका मूल्य क्रमिक विकास में नहीं, बल्कि उसके प्रभाव चित्र प्रस्तुत करने में है ।

इस युग के नाटकों के रंगमंच पर युगजीवन उभरता है । उसपर कुण्ठा, बहिवादी कुण्ठता तथा अभिव्यक्ति की पुनरुक्ति का प्रदर्शन किया जाता है । वर्गीकरणातीत व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द का उद्घाटन करना ही रंगमंच का कार्य हो गया है । आज के रंगमंच पर अभिनय की मुद्राएं नहीं विचारों का द्वन्द उभरता है । युगीन रंगमंच की अभिव्यक्ति न तो सुखान्त है न दुःखान्त । उसपर अश्रु तथा हास की रेखाएं मिली-जुली उभरतीं हैं । अस्तित्व की पीड़ा और निष्फलता ही आज के रंगमंच की पीड़ा है । उसके आस्वाद में आन्तरिक चमत्कार है । भले ही उसमें रसात्मकता का अभाव हो । आज के रंगमंच को आन्तरिक जगत की सघन अछूती अभिव्यक्तियों को प्रकट करने के साधनों पर विश्वास नहीं है, अतः वह संगीत एवं प्रकाश के सहारे भाव बोधन का प्रयास कर रहा है ।

संगीत

गीत तथा नृत्य के लिए इन नाटकों के रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है । जीवन की विसंगतियों, अनुभूतियों तथा कुंठाओं का बोधक रंगमंच गीतों के लिए अवकाश नहीं रखता है । पृष्ठ संगीत से अवश्य विचारों को जागृत किया जाता है । संगीत तथा प्रकाश का प्रयोग लेखक की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए भी किया जाता है ।

अतः युगीन नाटक यदि असफल होते हैं तो उसका दायित्व वह रंगकर्मी है, जो संगीत एवं प्रकाश के प्रयोग में दक्ष नहीं है ।

उपर्युक्त मान्यताओं की पुष्टि के लिए दो नाटकों का अध्ययन करना आवश्यक है --एक ऐतिहासिक नाटक मोहन राकेश कृत "लहरों के राजहंस" है तथा दूसरा पौराणिक(सांस्कृतिक) नाटक धर्मवीर भारती कृत "अन्धायुग" है । दोनों नाटक नवीन विधा के नाटकों में प्रसिद्ध हैं अतः इनसे नव विधा के नाटकों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा ।

"लहरों के राजहंस"

नाटक में तीन अंक हैं जो दृश्य भी हैं । नाटक में सुन्दरी, नन्द,श्यामांग तथा अलका चार पात्र ही प्रमुख हैं । पात्रों का अपना चरित्र नहीं उभरता है वे परिस्थितियों के शिकार होते हैं । पात्रों की कष्ट,निराशा और अभाव की स्थिति ही नाटक में उभरती है । किसी पात्र में जीवन का प्रकाश नहीं है । सब अन्धकार में भटकते रहते हैं । नाटक को मंच प्रस्तुति की दृष्टि से देखने पर इसका स्वरूप स्पष्ट हो सकता है । अतः नीचे तीनों अंकों की मंचप्रस्तुति पर दृष्टिपात किया जा रहा है ।

नाटक का सृजन अश्वघोष के "सौन्दरानन्द" काव्य के आधार पर हुआ है । प्रथम दृश्य कपिलवस्तु में नन्दभवन में सुन्दरी के कक्ष का है । मंच सामग्री राजवैभव सम्पन्न है,जिसका प्रस्तुतीकरण सफल है । नाटक का प्रारम्भ दो अनुचरों की बातों से इसप्रकार होता है :

श्वेतांग -- (कार्यव्यस्त) तुम्हारी उलझन अभी समाप्त नहीं हुई ?

श्यामांग -- (पक्षियों की तीलियां सुलझाने में व्यस्त) मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है ।

श्वेता० -- मुझसे ईर्ष्या होती है,क्यों ?

प्रथम अंक में कोई अतिथि आने वाले हैं,जिनके स्वागत की तैयारियां हो रही है । यह सूचना सुन्दरी तथा उसकी सहायिका अलका के कथोपकथनों से प्राप्त होती है । इसी अंक में श्यामांग पर सरोवर में पत्थर के कंकर राजहंसों को आहत करने का अभियोग लगाया जाता है । सुन्दरी श्यामांग को दण्ड देती है, पर अलका की प्रार्थना पर क्षमा करने का वचन देती है ।

अंक के अन्त में सब तैयारियां समाप्त हो जाती हैं, दीप जलाया नहीं जाता है :

नन्द — तुमसे कह दिया जाओ, जो आसन बिछाये गये हैं उठा दो अब उन सब की कोई आवश्यकता नहीं ।

(श्वेतांग चकित-सा पलभर रुकता है फिर सिर झुकाकर चला जाता है। नन्द दीपाधार का सहारा लिये अन्तर्मुख सा ऊपर की ओर देखने लगता है । प्रकाश उसके चेहरे और ऊपर की पुरुष-मूर्ति पर केन्द्रित होकर धीरे-धीरे मन्द पड़ता है।)

दूसरे अंक का प्रारम्भ भी प्रथम अंक के स्थान पर ही होता है । मंच पर अंधेरा है । नन्द की छाया मूर्ति उभरती है । वह मंच पर टहल रहा है । नेपथ्य में श्यामांग का ज्वर-प्रलाप सुन पड़ता है । अलका उसकी सेवा में है । श्यामांग के प्रलय के रुकते ही नन्द का स्वागत कथन उभरने लगता है । दोनों के कथन कुछ असम्बद्ध हैं । नन्द गवाक्ष से झांककर अलका को बुलाता है तथा दीप जलवाता है । दीपक जलाकर अलका पुनः श्यामांग की सेवा में जाती है । दीपक के प्रकाश में मंच पर सुन्दरी सोती दिखती है जो अब जाग जाती है । वह नन्द को हट जाने को कहती है, ताकि अपना शृंगार कर सके । अलका श्यामांग की सेवा में व्यस्त है । अतः नन्द स्वयं उसके शृंगार करने में सहायता करता है । वह दर्पण लेकर खड़ा होता है ।

उसी समय "बुद्धं शरणं गच्छामि" की ध्वनि नेपथ्य में गूंजती है । इससे नन्द का हाथ कांपता है तथा दर्पण गिरकर टूट जाता है । नन्द अंत में बुद्ध से मिलने जाता है । वह शीघ्र लौटने का वचन देता है । सुन्दरी उसके न लौटने तक अपना शृंगार अधूरा छोड़ने की बात कहती है । नन्द जाता है । दृश्यान्त में श्यामांग नेपथ्य में पानी मांगता है । उसका दर्द भरा स्वर उभरता है ।

तीसरे अंक में मंच पर प्रकाश है । मंच-कक्ष पूर्व से अच्छा रूप लिये सजे हैं । श्यामांग ने काली छाया की बात कही थी । वह छाया

संघं शरणं गच्छामि" की ध्वनि थी। नन्द नहीं लौटता, उसके बाल कट चुके हैं, वह भिक्षु बन गया है। यह शून्य है। सुन्दरी का शृंगार अधूरा ही रह जाता है। नाटक का अन्त अन्धकार में होता है। नेपथ्य में श्यामांग का प्रलाप उभरता है। वह स्पष्टीकरण करता है कि उसने पत्थर नहीं फेंके हैं। वह प्रलाप में चारों ओर के अन्धकार से घबराया हुआ है तथा एक किरण चाहता है।

नाटककी मंच प्रस्तुति अत्यधिक सावधानी की अपेक्षा रखती है। प्रकाश व्यवस्था की आवश्यकता नाटक में अत्यधिक मूल्यवान है। वातावरण को प्रकट करने के लिए संगीत का प्रयोग भी इस नाटक में अपेक्षित है। नाटक अपने प्रभाव में एक काली छाया सी छोड़ जाता है। किन्तु नवीन युग की भावधारा को स्पष्ट करने में नाटक सफल है।

'अन्धायुग'

यह नाटक महाभारत की कथा पर आधारित और पौराणिक नाटक है, जो शैली तथा विचार की दृष्टि से नवीन है। इसमें महाभारत के अठारहवें दिन युद्ध के उपरान्त विजयी वर्गों की मानसिक अन्तर्दृष्टि को चित्रित कर नवीन युद्ध विभीषिका चित्रित करने का प्रयास किया गया है। नाटक का प्रारम्भ पाश्चात्य की रस शैली पर हुआ है —

'युद्धोपरान्त

यह अन्धायुग अवतरित हुआ

जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ सब विकृत हैं।

है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की

पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में

(सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का)

शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट आत्महारा विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है।

नाटक का कथानक पांच अंकों का है । इसमें मुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है । अतः नाटकीयता और भावाभिव्यक्ति प्रखर है । कथानक का समय अट्ठारहवें दिन की सन्ध्या से प्रभासतीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक का है । नाटक के पात्र प्रख्यात तथा कल्पित दोनों प्रकार के हैं । धृतराष्ट्र तथा गान्धारी अन्धे हैं ।कृतवर्मा अश्वत्थामा,संजय,विदुर, युधिष्ठिर,व्यास तथा कृष्ण आदि प्रमुख पात्र हैं ।

सम्पूर्ण नाटक में अधिकतर वीभत्स चित्र हैं । यादवों का नाश,कृष्ण की मृत्यु, पाण्डवों का हिमालय प्रस्थान, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी का वनगमन,युयुत्सु की आत्महत्या आदि घटनाओं के चित्रण द्वारा सर्वत्र अमंगल,शोक और घृणा का साम्राज्य है । निराशा,असीम, तथा मन की काली मर्मान्तक पीड़ा का चित्रण इस नाटक में है । यह युगीन नाट्यशैली का सफल उदाहरण है । नाटक निराशा तथा आत्महत्याओं से भरा है ।

प्रस्तुतीकरण के लिए नाटक में एक पर्दा पीछे स्थायी है । मंचीय विधान सरल है । प्रतीकात्मक रूप में भी नाटक मूल्य रखता है । नाटक में दृश्यों का परिवर्तन संगीत के सहारे किया जाता है । प्रकाश तथा संगीत का प्रयोग नाटक में महत्व रखता है । इन दो रंगमंचीय उपकरणों के अभाव में नाटक का मंचन प्रभाव उत्पन्न करने में असफल रहेगा ।

'अन्धायुग' नाटक में सभी दृष्टियों से युगीन नाटकों की विसंगति,अस्थिरता,नीरसता,जीवन के प्रति अनास्था तथा नियति की काली छाया का प्रभाव स्पष्ट होता है । नाटक का मंचन दर्शकों में एक कड़ुवाहट भरता है । अभिनेता अपनी भूमिका में गहरे डूबने पर कुछ दिनों के लिए अपना मानसिक सन्तुलन खो देंगे । मनहूस दिनों के पंखों की काली व छाया ही इस नाटक का प्रभाव है ।

नाटक में चरित्र,कथोपकथन,कथानक पुरानी नाट्यपद्धति पर विकसित नहीं होता । इसकी अपनी नवीन नाट्यशैली है । कल्पना की

युगीन नाटकों की विशेषता है- इस नाटक से अधिक कहां प्राप्त होगी ?

इस प्रकार युगीन समस्याओं पर आधारित अनेक नाटकों की संरचना आये दिन हो रही है । इन नाटकों में जो समस्याएं उठायी जाती हैं, वे शाश्वत न होकर सामयिक हैं । इन समस्याओं को अत्यधिक नवीन शैली एवं प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया जाता है । यही कारण है कि इन नाटकों में स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता का अभाव है ।

--०--

उपसंहार

हिन्दी नाट्य-साहित्य की उपमा एक इन्द्रधनुष से दी जा सकती है। इन्द्रधनुष के रंगों की भांति ही इसके भी अनेक रूप हैं। इस इन्द्रधनुष के तीन रंगों को ही अभी तक देखा गया है। नाट्य साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करना प्रथम रूप-रंग है, भारतीय और पाश्चात्य नाट्य शिल्प के आधार पर नाट्य-कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत करना दूसरा रूप-रंग है और नाटककारों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना तीसरा रूप-रंग है। इस नाट्य साहित्य रूपी इन्द्रधनुष का सर्वाधिक आकर्षक रंग अभिनेयता है। अन्य रंगों के साथ इसकी झलक देखी गयी। अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी नाट्य साहित्य का अध्ययन इस दिशा में मूल्यवान् और आवश्यक भी है। अभिनेयता के लिए रंगमंच नितान्त आवश्यक तत्व है। रंगमंच और नाटक का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

नाटक दृश्यकाव्य कहा जाता है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक विधा इसीलिए अधिक सशक्त मानी जाती है कि इसका बोध श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय दोनों द्वारा ग्राह्य है। इसीलिए नाटक में प्रभावान्विति की गम्भीरता भी रहती है। पाठ्यरूप में नाटक के जो चरित्र रंगमंच पर अवतरित हो जाते हैं, जैसे निराकार भगवान् साकार हो गये हों -। पाठक की अभिव्यक्ति एकांगी होती है। अतः नाटक में चित्रित विभिन्न स्वभाव आदि चरित्रों का कार्य वह विभिन्न रूपों (भावानुकूलरूप) से मूर्तमान नहीं कर सकता। अतः नाटक में सामाजिक आत्मबोध के लिए रंगमंच की नितान्त आवश्यकता है। रंगमंच पर नाटक की प्रकृत प्रस्तुति स्वयं एक स्वतन्त्र रचना है।

नाटक की मंच प्रस्तुति सदैव नवीन रहती है । अपने युग का प्रभाव नाट्य प्रस्तुति पर अवश्य पड़ता है । इसीलिए एक ही नाटक विभिन्न युगों में अपनी नवीन मंच-प्रस्तुति रखता है । संस्कृत साहित्य का अमर नाटक 'शाकुन्तलम्' संस्कृत काल से ही मंचित होता रहा है । यदि इस नाटक की प्रारम्भिक मंच-प्रस्तुति को फिल्माकर रखा गया होता और उसे आज की इस नाटक की मंच-प्रस्तुति के साथ रखकर देखा जाता तो स्पष्ट होता, कि दोनों मंच-प्रस्तुतियाँ दो अलग प्रकार की हैं । इसका कारण यही है कि युग के अनुरूप प्रस्तुतकर्त्ताओं की रुचि परिलक्षित होती है और उनकी मौलिक प्रतिभा के संयोग से एक ही नाटक की प्रस्तुतियों में अन्तर आ जाता है । एक ही कृति को प्रयोक्ता चाहे तो यथार्थ,समाज के लिए,व्यक्ति के लिए और गम्भीर विशुद्ध प्रभावों को प्रकट करने की दृष्टि से प्रस्तुत कर सकता है । अतः यह स्पष्ट है कि रंगमंच नाटक की पुनर्रचना है । वह रंगकर्मी ही है,जो नाटककार की कृति को वह अपनी मनोकांक्षा के अनुसार दर्शकों को हृदयंगम करा सकता है । स्पष्ट है कि रंगमंच नाटक का कायाकल्प करता है । यदि कुशल प्रयोक्ता के हाथों कोई कमजोर नाटक भी दे दिया जाय तो वह रंगमंच की वेदी पर अपनी प्रतिभा के साथ युग-रुचि मिलाकर उस नाटक में नवीन प्राणों का संचार कर देगा ।

नाटक को यदि एक व्यक्ति मान लिया जाय तो रंगमंच एक अधिकार-पद है । अपनी क्षमताओं से देश की उन्नति करने में समर्थ होकर भी कोई व्यक्ति उचित पद के अभाव में जिस प्रकार प्रभावहीन रहता है और दूसरा हीन प्रतिभा का व्यक्ति उचित स्थान पर होने के कारण सम्पूर्ण देश में मान्य हो जाता है,उसी प्रकार नाटक की सफलता उसकी शिल्प-प्रकृति में उतनी नहीं है,जितनी उसकी मंच प्रस्तुति में है । किसी एक स्थल पर मंचित नाटक अपने प्रभाव में सफल होने पर सम्पूर्ण देश में चर्चा का विषय बन जाता है । अतः यह स्पष्ट है कि रंगमंच नाटक के लिए अत्यावश्यक ही है ।

हिन्दी के पास स्थायी विकसित रंगमंच का अभाव है । इसीलिए अच्छे साहित्यिक नाटकों का सृजन,जो रंगमंच की दृष्टि से भी सफल

भी बहुत कम हुआ है । रंगमंच राष्ट्र का चित्र होता है । नाटकों के रंगमंचीय प्रभाव के सहारे क्रान्तिकारियों ने शासन-सूत्र उलट-पलट दिये । रंगमंच समाज तथा देश में परिवर्तन लाने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है । संस्कृत रंगमंच से देश की सांस्कृतिक उन्नति में जो सहयोग प्राप्त हुआ था, वह ऐतिहासिक संदर्भ से स्पष्ट है । अंग्रेजी शासकों को रंगमंच की शक्ति का ज्ञान था । उन्होंने इसीलिए सन् १८७६ ई० में नाटक अभिनियम (दि ड्रामेटिक परफार्मेन्स ऐक्ट आफ १८७६) बनाकर मंचन पर प्रतिबन्ध लगा दिया , पर अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने रंगमंच का ही सहारा लिया । वे जनता का ध्यान मनोरंजन की ओर आकृष्ट करना चाहते थे । उनके ही प्रयास से पारसी रंगमंच का चमत्कारी, व्यापारिक रूप सामने आया । पारसी रंगमंच ने जनता की सस्ती रुचि को प्रोत्साहन दिया । उनका मुख्य ध्येय धनोपार्जन था । पारसी रंगमंच को हिन्दी रंगमंच की पृष्ठभूमि में नहीं देखा जा सकता । इतना स्पष्ट है कि इसके अस्वस्थ रूप से प्रतिक्रिया रूप में रंगकर्मियों में उत्साह पैदा हुआ और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिन्दी रंगमंच का अव्यवसायी रूप साकार होने लगा ।

भारतेन्दुकालीन रंगमंच का उद्देश्य जनमानस को शिक्षा देना था । संस्कारों की प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय भावना का उदय और सामाजिक बाह्याडम्बरों का पर्दाफाश करना इस रंगमंच का ध्येय था । उनका रंगमंच सादा था । उसे थोड़े-से प्रयास में मेला इत्यादि में कहीं भी खड़ा किया जा सकता था । उनके दृश्य दृश्यपटों पर अंकित रहते थे । इस रंगमंच में प्राचीनता के साथ नवीनता का संयोग हुआ । उसमें संस्कृत नाट्यमंच के रसतत्व का भी उपयोग किया गया तो पाश्चात्य द्वन्द्व और चिन्तन का भी बहिष्कार नहीं किया गया । इस रंगमंच से हिन्दी नाट्य साहित्य परिपुष्ट हुआ तथा समाज में स्वस्थ जागरण के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए । नागरी नाट्यकला प्रवर्तक मण्डली और "रामलीला नाटक मण्डली" आदि संस्थाएं भारतेन्दु रंगमंच का साकार रूप थीं ।

श्री जयशंकर प्रसाद युगीन हिन्दी रंगमंच में एक ओर पात्रों का अन्त: संघर्ष और दूसरी ओर राष्ट्रोत्थान की भावना का उदय हुआ । सुख-दु:ख के मिले-जुले प्रभाव में इस काल के रंगमंच का एक अतिकाल्पनिक रूप होता है । प्रसादयुगीन रंगमंच अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक हो गया था। इसका उद्देश्य वर्तमान को उन्नत तथा भविष्य को स्वर्णिम बनाने का था । इसमें भावुकता और प्राणवत्ता के गुण विकसित हुए । इन गुणों का विकास इतना सूक्ष्म हुआ कि नाटक का मौलिक रूप प्रकट कर पाना कठिन हो गया । यही कारण है कि इस काल के नाटक बहुधा रंगमंच से पृथक् हो गये । श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी ने ठीक ही लिखा है कि नाटक जो अब केवल मनोरंजन का साधन न रह कर धनोपार्जन का साधन बन गया है । इस काल के नाटककार रंगमंच के लिए नहीं लिखते थे - जो इस दिशा में प्रयास करते थे, उनका ध्येय धनोपार्जन था । इस प्रकार के नाटककारों को साहित्यिक सृष्टा नहीं माना जा सकता । हिन्दी के अभिनेय नाटकों में और इन व्यवसायी नाटकों में कोई सम्बन्ध नहीं है । जो नाटककार उस समय रंगमंच का मुंह ताककर नाटक लिखते थे अथवा अभिनेय नाटकों को ही साहित्यिक मानते थे, वे भ्रम में थे । उस समय रंगमंच से अभिप्राय पारसी रंगमंच समझा जाता था ।

स्पष्ट है कि प्रसाद-युग में नाटकों का प्रस्तुतीकरण सदा गौण हो गया । इस काल में हिन्दी रंगमंच की प्रगति अवरुद्ध हो गयी । हिन्दी के साहित्यिक नाटकों का रंगमंच से सम्बन्ध प्रसाद के बाद ही संभव हुआ ।

श्री जयशंकर प्रसाद के बाद युग की मांग के अनुरूप ही नाटक की संक्षिप्त विधा एकांकी का उदय डा० रामकुमार वर्मा युग में हुआ । यह युग हिन्दी रंगमंच के विकास में वामन भगवान का तीसरा चरण है जो छोटा होने पर भी सबसे सशक्त है । इस काल के रंगमंच में विचार, नाट्यशिल्प प्रस्तुतीकरण और नाट्यशैली सभी दृष्टियों से विकास हुआ । भारतीय और-

पाश्चात्य नाट्यशिल्प का सामंजस्य,संघर्ष,अन्तर्द्वन्द्व,संकलनत्रय और मनोवैज्ञानिक विकास का स्वाभाविक पूर्ण रूप इस युग के रंगमंच पर प्रकाशित होता है । इस काल में नाटक और रंगमंच का संयोग सोने में सुहाग का कार्य करता है । यही है इस काल को हिन्दी नाट्य साहित्य का स्वर्णयुग माना जा सकता है । डा० वर्मा की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली और साहित्यिक सुरुचि ने जहां हिन्दी नाटकों के साहित्यिक कलेवर में प्राण संचरण किया, वहां उनके रंगकर्मी व्यक्तित्व के अनुभव ने हिन्दी नाटकों को रंगमंच पर सफलता प्रदान की । स्पष्ट है कि रचना एवं प्रस्तुतीकरण दोनों दृष्टियों से इस काल के नाटक धनी हैं ।

आज का अधुनातन रंगमंच पुनः मानस की अतल गहराइयों में डूब गया है । आज का जीवन अवसाद,कुंठा,घुटन और स्वार्थपरता के घेरों में घिरकर अधिकाधिक अन्तर्मुखी हो गया है । इस युग का बोध प्रकट करने के लिए रंगमंच अपनी पुरानी प्रत्येक वस्तु को बदल रहा है । वह किसी भी बंधी लीक में आबद्ध नहीं रहना चाहता । नवीन रंगमंच अपने ही परिवेश में आकर मग्न हो गया है । वह किसी कथावस्तु का समग्र चित्र प्रस्तुत नहीं करता । उसका खण्ड-खण्ड रूप जो विसंगतियों का ढेर है, मंच प्रेरित अकस्म का रूप ले रहा है ।

हिन्दी रंगमंच का दायरा आज विस्तृत हो गया है । रेडियो तथा टेलीविजन ने इसकी सीमाएं विस्तृत कर दी हैं । आज एक देश-व्यापी अव्यवसायिक और सांस्कृतिक रंगमंच तैयार हो गया है । रंगमंच का यह स्वरूप निर्माण प्रशासकीय और स्वतन्त्र दोनों रूपों से चल रहा है । शासन की ओर से "नेशनल स्कूल आफ ड्रामा" और "संगीत नाटक अकादमी" की स्थापना दिल्ली में की गयी । स्वतन्त्र प्रयास देश के प्रत्येक नगर में चल रहे-हैं । इन प्रयासों से हिन्दी रंगमंच का कोई स्थायी रूप भले ही निर्मित नहीं हो पा रहा है, पर इसके विकास में इनका योगदान अवश्य है ।

हिन्दी नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध स्पष्ट कर रंगमंच के विकास पर यहाँ दृष्टिपात किया गया है । यह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अध्ययन का उपसंहार है । इन्हीं स्थापनाओं की सिद्धि प्रस्तुत प्रबन्ध में की गयी है । इस दिशा में जो उपलब्धियाँ हैं,उनपर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है ।

अभिनय की दृष्टि से हिन्दी नाटकों पर बहुत कम विचार किया गया है । प्रस्तुत अध्ययन में हिन्दी रंगमंच के निर्माण की दिशा में कुछ सुझाव दिए गए हैं , उनसे वातावरण निर्माण में तो निश्चय ही बहुत अधिक बल प्राप्त हो सकता है । हिन्दी रंगमंच आज पत्र-पत्रिकाओं पर निर्भर हो गया है । प्रस्तुत प्रबन्ध रंगमंच और पत्र-पत्रिकाओं के मध्य की कड़ी का कार्य करे, यही प्रयत्न कियागया है । हिन्दी राष्ट्रभाषा पर राष्ट्रीयकरण और भावनात्मक एकता का दायित्व है । यह कार्य रंगमंच के द्वारा सम्पन्न हो सकता है । रंगमंच का बृहत्तर राष्ट्रीय एवं भावात्मक रूप इस प्रयास से उभर सकेगा ऐसा विश्वास है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

(हिन्दी)

१- अभिनय नाट्य शास्त्र — पं० सीताराम चतुर्वेदी

२- अरस्तू का काव्यशास्त्र — डा० नगेन्द्र

३- आधुनिक हिन्दी नाटक — ,,

४- आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन । — गणेशदत्त गौड़

५- आधुनिक साहित्य — नन्ददुलारे वाजपेयी

६- आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि माखनलाल चतुर्वेदी । — हरिकृष्ण "प्रेमी"

७- इतिहास के स्वर — डा० रामकुमार वर्मा

८- एकांकी कला — रामचरण सिंह प्रखर

९- एकांकी कला — डा० रामकुमार वर्मा

१०- एकांकी नाटक — अमरनाथ गुप्त

११-कला साहित्य और समीक्षा — भगीरथ मिश्र

१२-काव्य कला तथा अन्य निबंध — जयशंकर प्रसाद

१३-चारुमित्रा — डा० रामकुमार वर्मा

१४-तपस्विनी — डा० सत्यनाम सिंह

१५-दशरूपक — आचार्य धनन्जय हिन्दी टीका भोलाशंकर व्यास ।

१६-नाटक की परख — एस०पी० खत्री

१७-नाटक और रंगमंच — रामकुमार

१८-नाटक के तत्व मनोवैज्ञानिक अध्ययन । — डा० कमलिनी मेहता

१९-नाटक साहित्य का अध्ययन — अनु०चन्द्रका अवस्थी

२०-नाट्यकला — डा० रघुवंश

२१-नाटककार "अश्क" — कं० कौशल्या "अश्क"

२२- नाट्यकला मीमांसा — डा० गोविन्ददास

२३- नाटकीय साहित्य की भारतीय - परम्परा और दशरूपक । — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

२४- नाट्य समीक्षा — डा० दशरथ ओझा

२५- नाट्यशास्त्र — भरतमुनि

२६- पूर्व भारतेन्दु साहित्य — सोमनाथ गुप्त

२७- प्रसाद के नाटक — परमेश्वरीलाल गुप्त

२८- प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन — डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

२९- प्रसाद की नाट्यकला और कथावस्तु — अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

३०- प्रसाद के नाटक — डा० रामरत्न भटनागर

३१- भरत नाट्यशास्त्र में नाट्य शालाओं के रूप । — डा० रामगोविन्द चन्द्र

३२- भारतेन्दुकालीन नाट्य साहित्य — डा० गोपीनाथ तिवारी

३३- भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाट्यसाहित्य — डा० वासुदेव शुक्ल

३४- भावप्रकाश — शारदा तनय

३५- भारत में विवेकानन्द — अनु० पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

३६- भारतेन्दु ग्रन्थावली — सभा प्रकाशन

३७- मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु । — कु० चन्द्रप्रकाश

३८- रंगमंच — अनु० श्रीकृष्णदास

३९- रंगमंच और नाटक की भूमिका — लक्ष्मीनारायण लाल

४०- रजत रश्मि — डा० रामकुमार वर्मा

४१- रिमझिम — ,,

४२- रूपकरहस्य — डा० श्यामसुन्दरदास

४३- रेडियो नाटक — हरिश्चन्द्र खन्ना

४४- रेडियो नाट्य शिल्प — सिद्धनाथ कुमार

४५- रेडियो संसार — देवकीनन्दन [illegible]

४६- लोकधर्मी नाटक — श्यामपरमार

४७-विचार दर्शन — डा० रामकुमार वर्मा

४८-संस्कृत नाटक — ए०बी० कीथ

४९-साहित्य दर्पण — विश्वनाथ

५०-साहित्य के पृष्ठ — गजानन शर्मा

५१-साहित्य सुषमा — पं०नन्ददुलारे वाजपेयी लक्ष्मीनारायण मि

५२-सेठ गोविन्ददास के नाटकों का आलोचना- — रत्नाकुमारी देवी
त्मक अध्ययन ।

५३-हमारी नाट्य साधना — राजेन्द्रसिंह गौड़

५४-हमारी नाट्य परम्परा — श्रीकृष्णदास

५५-हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास — डा० दशरथ ओझा

५६-हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास — डा० सोमनाथ गुप्त

५७-हिन्दी नाट्य सिद्धान्त और समीक्षा — रामगोपाल सिंह चौहान

५८-हिन्दी नाट्य विमर्श — गुलाबराय

५९-हिन्दी नाटकों का मूल्यांकन — कैलाशपति ओझा

६०-हिन्दी नाटककार —जयनाथ नलिन

६१-हिन्दी नाटक की रूपरेखा —दशरथ ओझा

६२-हिन्दी नाटक साहित्य और रंगमंच की —कु०चन्द्रप्रकाश
मीमांसा ।

६३-हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन — डा०शान्तिगोपाल पुरोहित

६४-हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव — डा०श्रीपतिशर्मा त्रिपाठी

६५-हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव —डा० विश्वनाथ मिश्र

६६-हिन्दी नाटक साहित्य —ब्रजरत्नदास

६७-हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक- —वेदपाल खन्ना
अध्ययन ।

६८-हिन्दी नाट्य दर्पण — डा० नगेन्द्र

६९-हिन्दी नाट्य साहित्य का विवेचन — वीरेन्द्र शर्मा

७०-हिन्दी साहित्य का इतिहास — पं०रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

७१-हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक — डा० करण सिंह

७२- हिन्दी पौराणिक नाटक — डा० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री

७३- हिन्दी एकांकी और एकांकीकार — रामचरण महेन्द्र

७४- हिन्दी एकांकी — डा० सत्येन्द्र

७५- हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास — रामचरण महेन्द्र

७६- हिन्दी एकांकी शिल्पविधि का विकास — डा०सिद्धनाथ कुमार

७७- हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव — रवीन्द्रसहाय वर्मा

७८- हिन्दी साहित्य कोश — डा०धीरेन्द्र वर्मा

(अंग्रेजी)

१- ग्रीक कान्स्ट्रक्ट इन राइटिंग फार स्टेज प्ले — वाल्टर प्रिचर्ड ईटन

२- दि आर्ट आफ थियेटर — सारा बार्न हट

३- दि थ्योरी आफ ड्रामा — एलारडिस निकोल

४- दि संस्कृत ड्रामा — ए०बी० कीथ

५- दि टेकनीक आफ एक्सपेरिमेन्ट इन स्टेज प्ले — विली बोमस

६- दि कन्स्ट्रक्शन आफ दि स्टेज प्ले — पर सिवल वाइल्ड

७- दि इण्डियन थियेटर — चन्द्रभान गुप्त

८- दि इण्डियन थियेटर — आर०के० याज्ञिक

९- पोयटिक ड्रामा — टी०एस० इलियट

१०-रेडियो थियेटर — वाल्डिक गाड

११-योरोपियन थ्योरी आफ ड्रामा — बैरेट एच०क्लार्क

१२-आस्पेक्ट आफ माडर्न ड्रामा — एम०डब्ल्यू०चण्डलर

१३-दि इंडियन स्टेज — डा०हेमेन्द्रनाथ दास गुप्ता

१४-ड्रामा — एश०डूक

१५-प्ले मेकिंग — विलियम आर्चर

१६- ड्रामेटिक मेथड — डी०एच० बोल्डेन

१७- ड्रामेटिक टेकनिक — जी०पी०बेकर

१८- ब्रिटिशड्रामा — निकोल

१९- थ्यौरी आफ ड्रामा — बैण्टली एण्ड मिंटट
२०- दि स्प्रिट आफ ट्रैजेडी — हर्बर्ट जे० मुलर
२१- टाइप्स आफ ट्रैजिक ड्रामा — वॉघन
२२- अरिस्टॉटेलियन थ्यौरी आफ कामेडी — स्टूअर्ट कूपर
२३- दि क्राफ्टमैनशिप आफ वन ऐक्ट प्ले — परसिवल वाइल्ड

पत्र-पत्रिकाएं

नाम	प्रकाशन स्थान
१- आलोचना	दिल्ली
२- क.ख.ग.	प्रयाग
३- नयी धारा	पटना
४- नया पथ	लखनऊ
५- नवनीत	दिल्ली
६- मध्यप्रदेश सन्देश	भोपाल
७- माधुरी	बम्बई
८- सरस्वती	प्रयाग
९- सम्मेलन पत्रिका	प्रयाग
१०-साहित्य सन्देश	संयुक्तप्रान्त

आलोच्य नाटक

लेखक	कृतियाँ
१- अमृतराय	चिंदियों की एक झालर
२- उदयशंकर भट्ट	दाहर
	मुक्तिपथ
	विक्रमादित्य
	शक विजय
३- उपेन्द्रनाथ "अश्क"	भंवर
	अलग अलग रास्ते
	छठा बेटा
	अंजो दीदी
	उड़ान
	कैद और उड़ान
	स्वर्ग की झलक
	जय पराजय
४- जगदीशचन्द्र माथुर	कोणार्क
५- जयशंकर प्रसाद	चन्द्रगुप्त
	अजातशत्रु
	ध्रुवस्वामिनी
६- धर्मवीर भारती	स्कन्द गुप्त
	अन्धायुग
७- नारायण प्रसाद "बेताब"	पत्नी प्रताप
८- बदरीनाथ भट्ट	दुर्गावती
९- माखनलाल चतुर्वेदी	कृष्णार्जुन युद्ध
१०-पं० माधव शुक्ल	सीय स्वयम्वर
११-मोहन राकेश	लहरों के राजहंस

१२- डा० रामकुमार वर्मा -- जौहर की ज्योति
विजय पर्व
कला और कृपाण
नाना फड़नवीस
महाराणा प्रताप
अशोक का शोक
पृथ्वी का स्वर्ग

१३- राधेश्याम कथावाचक -- वीर अभिमन्यु
श्रवण कुमार
उषा अनिरुद्ध
परमभक्त प्रह्लाद

१४- रामवृक्ष बेनीपुरी -- तथागत
विजेता
अम्बपाली

१५- लक्ष्मीनारायण मिश्र -- वत्सराज
सिन्दूर की होली
राक्षस का मन्दिर
मुक्ति का रहस्य
अपराजित

१६- विनोद रस्तोगी -- नया हाथ

१७- डा० सत्येन्द्र -- 'मुक्तियज्ञ', 'प्रायश्चित'

१८- सेठ गोविन्ददास -- शेरशाह
कर्ण
प्रकाश
कर्तव्य

१९- हरिकृष्ण "प्रेमी" स्वप्न भंग
विष पान
शिवा साधना
रक्षा बन्धन
[illegible]
आहुति